शिक्षा की पुनर्रचना

Problems of Educational Reconstruction
का हिन्दी रूपान्तर

लेखक

के० जी० सैयदैन

शिक्षा-सचिव, भारत-सरकार

रूपान्तरकार

मुनीश सक्सेना

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना

अपनी महान् सेवाओं से शिक्षा के क्षेत्र को
गौरवान्वित करने वाले

स्वर्गीय बालासाहेब खेर

की पुण्य स्मृति को
सादर समर्पित
उन सुखद दिनों की याद में जब मुझे
उनके साथ शैक्षणिक कार्य करने
का सौभाग्य प्राप्त हुआ

भूमिका

अब से कई वर्ष पहले, जब दूसरे महायुद्ध के दुष्परिणामों की छाया हमारे इस पीढ़ी के लोगों पर इतनी गहरी नहीं पड़ी थी, मैंने 'द स्कूल आफ द फ्यूचर' के नाम से अपने शिक्षा-सम्बन्धी लेखों का एक संग्रह प्रकाशित किया था। इसके पहले भाग में मुख्यतः 'नयी शिक्षा' के सिद्धान्तों का स्कूलों में उन्हें व्यवहार में लागू करने के दृष्टिकोण से विवेचन किया गया था और यह बताने की कोशिश की गई थी कि स्कूल के परिवेश को इस प्रकार कैसे बदला जा सकता है कि वह स्वतन्त्रता के वातावरण में बच्चों के वैयक्तिक गुणों को बल प्रदान करे और उनकी अन्तरज क्षमताओं को विकसित करे। दूसरे भाग में मैंने उच्चतर शिक्षा के कुछ पहलुओं पर विचार किया था, जिनमें अध्यापकों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ भी थीं।

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से जो समय बीता है उसमें शैक्षणिक कार्य के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है—अध्यापन के क्षेत्र में भी और प्रशासन के क्षेत्र में भी। इस दौरान में मेरा यह विश्वास निरन्तर दृढ़ होता गया है कि 'भावी स्कूल' का निर्माण अन्दर से स्कूल की भौतिक तथा मानसिक साज-सज्जा बदलने से कहीं ज्यादा बड़ा और कहीं ज्यादा बुनियादी काम है। यद्यपि आज भी मैं बिना किसी संकोच के उन्हीं बुनियादी सिद्धान्तों का समर्थक हूँ जो उस समय मैंने बच्चे के वैयक्तिक गुणों को सृजनात्मक शिक्षा द्वारा विकसित करने के सम्बन्ध में प्रतिपादित किये थे, परन्तु आज मैं इस बात को कहीं ज्यादा गहराई के साथ महसूस करता हूँ कि स्कूल पूरे सामाजिक परिवेश का एक अभिन्न अंग होता है और बच्चे के वैयक्तिक गुणों का पोषण केवल स्कूल में ही नहीं होता बल्कि उस पर हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का और समकालीन विचार-धाराओं का भी बहुत गहरा असर पड़ता है। जब मैं व्यावहारिक दृष्टिकोण से शिक्षा-सम्बन्धी उन समस्याओं पर ज्यादा गहराई से विचार करने की कोशिश करता हूँ जिनके बारे में मैं पढ़ाता रहा हूँ और बहस करता रहा हूँ या जिन पर मैं विचार करता रहा हूँ, तो मैं देखता हूँ कि बहुत-सी दीवारें ढहती जा रही हैं—वे दीवारें जो हमेशा से शिक्षा को राजनीति से, अर्थशास्त्र से, सामाजिक विवादों से और आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के अनेक परिणामों से अलग करती आई थीं। मैं देखता हूँ कि अध्यापक के काम की जड़ें बहुत दूर-दूर तक

जीवन के कई दूसरे क्षेत्रों में फैली हुई हैं और दूसरे क्षेत्रों में जो काम हो रहा है उसका असर अध्यापक अपने विशिष्ट कार्य-क्षेत्र में भी अनुभव करता है। और मेरा यह विश्वास दृढ़ होता गया है कि एक तरह से देखा जाए तो शिक्षा-सुधार का क्षेत्र केवल शिक्षा-सुधार तक ही सीमित नहीं है—वह समाज-सुधार भी है और व्यापकतम अर्थ में पुनर्निर्माण भी।

इसलिए मैंने यह सोचा कि शिक्षा की पुनर्रचना की कुछ प्रमुख समस्याओं को इस अधिक व्यापक प्रसंग में फिर से प्रस्तुत करना शायद उपयोगी सिद्ध हो। गत दस वर्षों में हमारे यहाँ जो गहरे राजनीतिक तथा अन्य परिवर्तन हुए हैं—ऐसे परिवर्तन जिन्होंने हमारी शिक्षा-सम्बन्धी स्थिति को एक नया रूप दे दिया है और उसकी समस्याओं को तात्कालिक महत्त्व का बना दिया है—उन परिवर्तनों को देखते हुए भी यह आवश्यक हो गया है। यह पुस्तक मुख्यतः तो अध्यापकों के लिए लिखी गई है, पर इसमें हमारे शैक्षणिक भविष्य को स्वस्थ दिशा प्रदान करने में विवेकपूर्ण दिलचस्पी रखने वाले हर व्यक्ति को भी सम्बोधित किया गया है। मैंने इसमें अपनी पिछली पुस्तक 'द स्कूल आफ द फ्यूचर' का पहला भाग, काफी संशोधन के साथ पर कोई बुनियादी परिवर्तन किये बिना, शामिल कर लिया है जिसमें उन सिद्धान्तों पर विचार किया गया था जिन पर चलकर हम अपने राष्ट्रीय आदर्शों तथा प्रगतिशील शैक्षणिक विचारों के अनुकूल स्कूलों का निर्माण कर सकते हैं। दूसरे भाग में, जिसका शीर्षक है 'नयी प्रवृत्तियाँ तथा उपागम,' मैंने प्राथमिक तथा ग्रामीण शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, समाज-शिक्षा आदि की अनेक समस्याओं पर विचार किया है। मेरा यह विचार है कि शिक्षा के जिस किसी पहलू या जिस किसी अवस्था पर भी हम विचार करें, उसमें हमें इतनी बहुत-सी नयी-नयी और रोचक बातें करने को मिलेंगी, इतने बहुत-से दोषों को ठीक करना होगा, कि अपने काम के प्रति लगन, समझदारी और सन्तोष का रवैया रखने वाले अध्यापक को एक क्षण के लिए भी नीरसता का अनुभव नहीं होगा। चिन्ता की घड़ियाँ अवश्य आयेंगी; बहुत दुःसाध्य दायित्वों को निभाना पड़ेगा, इसमें भी सन्देह नहीं; हतोत्साह करने वाली बातें भी होंगी, पर नीरसता नहीं होगी, क्योंकि नीरसता का सम्बन्ध ऐसे काम के साथ होता है जिसमें समझदारी, दिलचस्पी और रोमांचकारी सम्भावनाओं का अभाव होता है।

नीरसता के सांघातिक रोग से बचने के लिए मैंने अध्यापकों के लिए ऊपर जो तीन शर्तें बताई हैं उन्हें पूरा करना जरा कठिन काम है—अर्थात् ये शर्तें *कि* उसे समझदार होना चाहिए, उसमें लगन होनी चाहिए और उसे *अपने* काम

से सन्तोष प्राप्त होना चाहिए और ये ऐसे गुण हैं जो अध्यापकों में आम तौर पर नहीं पाये जाते हैं; और तीनों गुण एक साथ तो बिरले लोगों में ही होते हैं। लेकिन अगर हम पढ़ाई में सुधार करना चाहते हैं और अध्यापकों के पद को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि अधिकाधिक संख्या में अध्यापकों में इस बात की अधिक व्यापक तथा अधिक गहरी चेतना जागृत हो कि उनके काम में कैसी-कैसी सम्भावनाएँ निहित हैं, उनमें अपने काम के प्रति कर्तव्यपरायणता और लगन की भावना होनी चाहिए और उन्हें इस बात की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए कि वे काफी सन्तुष्ट तथा सन्तोषप्रद जीवन व्यतीत कर सकें। पहली दो शर्तों को पूरा करना तो मुख्यतः स्वयं अध्यापकों पर और इस बात पर निर्भर है कि उनके लिए किस ढंग के व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है; और तीसरी शर्त बहुत बड़ी हद तक समाज की ओर से उन्हें मिलने वाली सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाओं पर निर्भर करती है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मैंने पुस्तक के तीसरे भाग में अध्यापकों की शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया है—न केवल उनके प्राविधिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण पर बल्कि उनके विचारों, उनके रवैयों और उनके व्यक्तित्व को सँवारने की पूरी समस्या पर और समाज के साथ उनके सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध की जटिल समस्या पर भी। यदि उनका सामान्य तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण कुशल तथा सन्तोषजनक ढंग से हुआ होगा तो वे अपना काम समझदारी के साथ करेंगे; यदि स्कूलों और कालेजों ने उनको सही मानदण्ड प्रदान किये होंगे, तो उनमें अपने काम के प्रति लगन होगी और यदि समाज तथा सरकार की ओर से उन्हें न्यायोचित सुविधाएँ मिली होंगी और उनके लिए उचित प्रतिष्ठा प्राप्त करने का आश्वासन कर दिया गया होगा तो वे सन्तुष्ट रहेंगे। इन सब शर्तों के पूरे हो जाने पर ही हम विश्वास के साथ अपनी शिक्षा-पद्धति में किसी प्रगतिशील सुधार की आशा कर सकते हैं। इस बात से सभी लोग परिचित होंगे, पर इसे दोहराना आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में मुख्य स्थान अध्यापक का है और जिस चीज से भी उसकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होगी और उसे अपने काम में अधिक सन्तोष प्राप्त होगा उसका हमें सौगुना फल मिलेगा।

के० जी० सैयदैन

विषय-सूची

भाग एक : सामान्य सिद्धान्त

भाग दो : नयी प्रवृत्तियाँ तथा उपागम

प्राथमिक तथा ग्रामीण शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा

समाज-शिक्षा

प्रशासन

भाग तीन : अध्यापकों की शिक्षा

परिशिष्ट

भाग एक

सामान्य सिद्धान्त

(भावी स्कूल का निर्माण)

१

पृष्ठभूमि

इस पुस्तक के पहले भाग में मैं भावी स्कूल के सिद्धान्तों पर विचार करना और उसका एक चित्र अंकित करना चाहता हूँ—विद्यालय के उस रूप का चित्र नहीं जैसा कि वह आज है बल्कि जैसा कि वह हो सकता है यदि लगन, बुद्धिमानी तथा समझ-बूझ के साथ उसका निर्माण किया जाय। आज साधारण भारतीय स्कूलों के जिस रूप से हम परिचित हैं उस रूप में तो वे युवकों के स्वभाव में पायी जानेवाली अधिकांश उपयोगी तथा बहुमूल्य बातों का पूरा-पूरा लाभ उठाने में स्पष्टतः असफल रहे हैं; वे उनकी सृजनात्मक शक्तियों के स्रोतों का पता लगाने और उन्हें फलप्रद दिशाओं में प्रवाहित करने में असफल रहे हैं। ये स्कूल साधारणतया ऐसे स्थान होते हैं जहाँ पढ़ाई, लिखाई तथा चित्रांकन जैसे कुछ बँधे-सधे कामों की या इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान जैसे कुछ निर्धारित पाठ्य-विषयों की औपचारिक शिक्षा दी जाती है। सबसे बुरी बात तो यह है कि वे बच्चों में उल्लास, उत्साह और काम के प्रति प्रेम की भावना को नष्ट कर देने के साधन बनाये गए हैं। मेरा खयाल है कि एच० जी० वेल्स ने किसी प्रसंग में कहा था, और वह किसी भी दृष्टि से निराशावादी व्यक्ति नहीं थे : "अगर आप इस बात को महसूस करना चाहते हैं कि पीढ़ियों के बाद पीढ़ियाँ किस तरह पहाड़ी नदियों के वेग से—जी हाँ पहाड़ी नदियों के वेग से—तबाही की ओर बढ़ती जा रही हैं तो किसी प्राइवेट स्कूल को ध्यान से देखिए।" यह बात निश्चय ही इंगलैण्ड के आजकल के स्कूलों पर लागू नहीं होती; उनमें से बहुत-से स्कूलों ने सराहनीय सप्राणता और आधुनिक आवश्यकताओं तथा विचारों के प्रति जागरूकता का परिचय दिया है। परन्तु स्वयं हमारे देश के अधिकांश स्कूलों के बारे में, चाहे वे सरकारी हों या प्राइवेट, यह बात सच है। इस बात में जो कटु आलोचना निहित है उसे पूरी तरह समझते हुए जब मैं यह बात कहता हूँ तो मेरा उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि मैं उन अनेक अध्यापकों के काम को तिरस्कार की दृष्टि से

देखता हूँ, जो अपनी समझ के अनुसार तन-मन से शिक्षा की सेवा कर रहे हैं। ऐसा भी नहीं है कि इधर कुछ वर्षों में विशेष रूप से बुनियादी शिक्षा की योजना के माध्यम से और मुदालियर आयोग की सिफारिशों के आधार पर माध्यमिक स्कूलों के पुनर्गठन की दिशा में किये गए प्रयासों के कारण स्कूलों में जो परिवर्तन हुए हैं उनकी ओर मेरा ध्यान न हो। परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है और दुर्भाग्यवश यह बात स्वतः शिक्षा के क्षेत्र में क्रांति नहीं ला सकती। अध्यापकों में शिक्षा के उद्देश्यों की सच्ची समझ और इन उद्देश्यों की पूर्ति के उपायों तथा साधनों के विवेकपूर्ण ज्ञान की प्रेरणा होनी चाहिए। हमारे सबसे अच्छे अध्यापकों तक में बहुधा यह चीज़ नहीं होती; अध्यापकों के उस विशाल बहुमत की तो बात ही छोड़िए जो न तो पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित ही होते हैं और न ही जिनमें इस बात की रुचि होती है कि वे पूरा मन लगाकर अपना काम करें। इसलिए स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापकों को, उन अध्यापकों को जो प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं, और उन सभी लोगों को जो सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन को सुधारने के एक साधन के रूप में शिक्षा में दिलचस्पी रखते हैं, एक बेहतर, अधिक सप्राण, अधिक स्फूर्तिदायक स्कूल की नींव रखने के काम में जुट जाना चाहिए; यही हमारा भावी स्कूल होगा और वह हमारे वर्तमान स्कूलों का स्थान ले लेगा, जो स्कूलों के उस रूप की एक विडम्बना-मात्र हैं जैसा कि उन्हें सचमुच होना चाहिए और जैसे कि वे सचमुच हो सकते हैं।

मेरी कल्पना में इस स्कूल का जो रूप है उसकी रूप-रेखा अंकित करने से पहले वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के गम्भीर तथा ठोस अवगुणों को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। यदि हम उसकी बुनियादी सामाजिक तथा मनोविज्ञान-सम्बन्धी कमियों को ठीक-ठीक समझ लें तो हमारा आधा काम पूरा हो जायगा और आवश्यक सुधार करने के लिए मार्ग साफ हो जायगा। अब तक हमारी शक्तियों का बहुत अपव्यय हुआ है, क्योंकि हम परिस्थिति का सही-सही निदान करने में असफल रहे हैं। अभी कुछ ही समय पहले तक शिक्षा का भला चाहने वाले लोग प्रशासन-व्यवस्था में या पाठ्यचर्या में या शिक्षा की प्रणालियों में किसी सुधार-विशेष का सुझाव रखकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे और शिक्षा के सरकारी संरक्षक मुख्यतः जिस काम में व्यस्त रहते थे उसे हम 'शिक्षा की मशीन के कल-पुर्जों का ज्ञान' कह सकते हैं; वे वार्षिक आँकड़े संग्रह करने, कागजात तैयार करने और शिक्षा पर व्यय किये जाने वाले बहुत थोड़े-से धन को बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वितरित करने में ही फँसे रहते थे। जैसा कि सार्वजनिक रूप से शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर पूरी जानकारी न रखने वाले

लोगों की बहस से पता चलता है, यह प्रवृत्ति अभी बिलकुल खत्म नहीं हुई है। पाठ्यचर्या में थोड़ा-सा 'विज्ञान', या जिसे विज्ञान कहा जाता है, और थोड़ी-सी ड्राइंग या हस्तशिल्प जोड़ दिये गए हैं; बड़े अनमने भाव से स्कूलों में शिक्षा का माध्यम धीरे-धीरे बदला गया है; कहीं कुछ वर्ष पहले और कहीं कुछ वर्ष बाद अन्य देशी भाषाओं की शिक्षा दी जाने लगी है। इस प्रकार की छुट-पुट तथा बिखरी हुई कोशिशों से समस्या की जड़ पर कोई असर नहीं पड़ता; यह तो परछाइयों से लड़ने के समान है जिससे आदमी सन्तोष तो अनुभव कर सकता है पर उससे बुनियादी खराबियाँ दूर नहीं होतीं। तात्कालिक रूप से आवश्यकता इस चीज की है कि राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा आदर्शों के प्रसंग में शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति का सही-सहीं मूल्यांकन किया जाय और शिक्षा-सम्बन्धी नीति के आधारभूत विचारों तथा सिद्धान्तों में भी और उसकी विधियों तथा संगठन में भी एक आमूल परिवर्तन करने के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न किया जाय। यदि हम चाहते हैं कि इस प्रकार का मूल्यांकन विशद हो और उसमें सभी प्रसंगानुकूल विशेषताओं पर विचार किया जाय तो उसके लिए कई ग्रन्थ लिखने पड़ेंगे; इसलिए यह चीज इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है। मुझे इतने पर ही संतोष करना होगा कि एक विस्तृत दृश्यपट की प्रमुख विशेषताओं की तरह कुछ मुख्य-मुख्य बातों को चुनकर शिक्षा-पद्धति की कमजोरियाँ बता दूँ और यह दिखाने की कोशिश करूँ कि पूरी परिस्थिति पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है।

शिक्षा एक ऐसा काम है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति और समाज दोनों ही से है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका सम्बन्ध समाज में व्यक्ति की स्थिति के साथ है। इसलिए शिक्षा की हर पद्धति को इस कसौटी पर परखा जाना चाहिए: क्या उससे वैयक्तिक क्षमताओं के विकास को प्रोत्साहन मिलता है और क्या इस विकास के दौरान में वह व्यक्ति को पर्याप्त रूप से उसके विकासवान सामाजिक वातावरण के अनुकूल ढाल देती है? इसी बात को और ठोस रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि क्या हमारे स्कूल बच्चों के श्रेष्ठतम तथा विलक्षण गुणों को सामने लाने में सफल होते हैं? क्या वे इन बच्चों को इस बात की सुविधाएँ और अवसर प्रदान करते हैं कि उनकी विशेष प्रतिभाएँ और प्रबल स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ विकसित हो सकें ताकि आगे चलकर उनका उपयोग सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सके? क्या वे भारतीय विद्यार्थी को उसके वातावरण के अनुकूल ढाल देते हैं—उन सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल जिनके बीच उसे रहना है और जिनसे उसे अपनी जीवन-

चर्या का विशेष रंग-रूप ग्रहण करना पड़ता है ? आइये, हम इन दोनों कसौटियों पर एक-एक करके विचार करें।

जिस किसी को भी हमारे स्कूलों के काम करने के ढंग का और उनमें पढ़ने वालों के मानसिक स्तर का थोड़ा-बहुत भी ज्ञान है, वह इस बात को स्पष्ट रूप से देख सकता है कि बहुधा इन स्कूलों का संगठन इस ढंग का होता है कि वे वैयक्तिक क्षमताओं के विकास में बाधा डालते हैं। मैंने इन कठोर शब्दों का प्रयोग जान-बूझकर किया है क्योंकि केवल इतनी ही बात नहीं है कि वे अलग-अलग हर बच्चे के विशिष्ट गुणों और उसकी निहित क्षमताओं को प्रकट करने में असफल रहते हैं—यह बात तो और देशों के भी बहुत-से स्कूलों के बारे में काफी बड़ी हद तक सच होगी—पढ़ाने और सीखने और अनुशासन के अपने तरीकों द्वारा वे सक्रिय रूप से वैयक्तिक क्षमताओं को कुचल देते हैं और बच्चों की लाक्षणिक प्रतिभाओं को पोषक तत्त्वों के अभाव और दुरुपयोग के कारण मुरझा जाने देते हैं। उनके छात्रों में जो उत्तम मानवीय गुण निहित होते हैं उनको निर्ममतापूर्वक नष्ट कर देने की जिम्मेदारी इन स्कूलों पर ही है, भले ही वे जान-बूझकर ऐसा न करते हों। मुझे कई अंग्रेज विद्यार्थियों के साथ काफी अच्छी तरह घुलने-मिलने के और उनकी क्षमताओं का अनुमान लगाने के अनेक अवसर मिले हैं; मैं दूसरे देशों के विद्यार्थियों से भी मिला हूँ और मैं राष्ट्राहंकार की भावना के बिना कह सकता हूँ कि जहाँ तक औसत भारतीय विद्यार्थी की स्वाभाविक प्रतिभाओं तथा क्षमताओं का सवाल है, बौद्धिक भी और व्यावहारिक भी, वह किसी भी दूसरे देश के औसत विद्यार्थी से कम नहीं होता है। सम्भव है कि कुछ बातों में वह अपनी समृद्ध जातीय तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण उनसे श्रेष्ठ ही होता हो। मैंने ऊपर जो बात कही है उसमें एक शर्त भी लगा दी है : 'जहाँ तक उसकी स्वाभाविक प्रतिभाओं तथा क्षमताओं का सवाल है।' इस शर्त को बहुत ध्यानपूर्वक समझ लिया जाना चाहिए क्योंकि वास्तव में हम देखते हैं कि कुछ समय तक स्कूल में पढ़ चुकने के बाद—समझ लीजिए लगभग चौदह वर्ष की आयु में—भारतीय विद्यार्थी में अन्य देशों के अपने समवयस्क विद्यार्थियों की तुलना में कम उत्साह, कम सूझ-बूझ और अपनी तरफ से कोई काम करने की कम प्रेरणा होती है; उसकी रुचियों का क्षेत्र भी कम व्यापक होता है; उसमें आत्म-चेतना और सामुदायिक सम्बन्धों की चेतना भी अपेक्षतः क्षीण होती है। परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि अनुकूल परिस्थितियों में और उचित शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत हम अपने स्कूलों में बहुत होनहार और निश्चित वैयक्तिक क्षमताएँ रखने वाले ऐसे युवक-युवतियों को तैयार कर सकते

हैं जो व्यावहारिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से किसी भी देश के युवक-युवतियों का मुकाबला कर सकते हैं। आज भी भारत में अत्यन्त प्रमुख वैयक्तिक क्षमताएँ रखने वाले ऐसे लोग हैं जिन्होंने जीवन के लगभग हर क्षेत्र में यश प्राप्त किया है—ऐसे लोग जिनकी बराबरी करने वाले दुनिया में बहुत ही थोड़े लोग होंगे और उनसे बढ़कर तो शायद ही कोई हो। उनमें से कुछ तो ऐसे लोग हैं जो हमारी शिक्षा-पद्धति की चक्की के पाटों के बीच कभी आये ही नहीं; और कुछ ऐसे हैं जो स्कूलों तथा कालेजों के दमनकारी प्रभाव को सफलतापूर्वक झेल गए और मौलिक गुणों को तथा अपने चरित्र की दृढ़ता को कायम रख सके। यदि जीवन चारों ओर से जकड़ा हुआ और सीमाबद्ध न होता और हमारे स्कूल इस ढंग से संगठित होते कि वे जीवन के सृजनात्मक आवेगों को बन्धनों में जकड़कर रखने के बजाय इन शक्तियों को उन्मुक्त करते तो हम क्या कुछ नहीं कर सकते थे! क्योंकि कवि इकबाल के शब्दों में :

बंदगी में घुट के रह जाती है इक जू-ए-कमआब,
और आजादी में बह्र-ए-बेकराँ है जिन्दगी ।

(बन्धनों में जकड़ी हुई और घुटी हुई जिन्दगी एक छोटी-सी मन्दगामी धारा के समान होती है; उन्मुक्त होने पर वही अनन्त सागर का रूप धारण कर लेती है।)

स्कूलों में हम बच्चों के जीवन को किस प्रकार सीमित तथा संकुचित कर देते हैं, मैं इसके कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख करूँगा। पहली बात तो यह कि पढ़ाने का तरीका हर जगह एक जैसा होने के कारण, पाठ्यक्रम पत्थर की लकीर की तरह अटल होने के कारण और हमारे स्कूलों के संकुचित दृष्टिकोण के कारण हर बच्चे को अपनी सुविधा के अनुसार अभिव्यक्ति का उचित अवसर नहीं मिलता। अलग-अलग मानसिक कोटियों को न तो स्वीकार ही किया जाता है न अच्छी तरह समझा ही जाता है। एक ऐसे समय पर जब कि उनके अस्तित्व की सारी शक्तियाँ पुकार-पुकारकर कहती हैं कि उन्हें इस अवस्था में सक्रिय रूप से खेल-कूद में और खुली हवा में उल्लासप्रद कामों में व्यस्त होना चाहिए था, बच्चों को भेड़-बकरियों की तरह स्कूल के नीरस, पुस्तकों तक सीमित तथा निष्प्राण वातावरण में ढकेल दिया जाता है। मैं यहाँ पर उन्हीं बच्चों का उल्लेख कर रहा हूँ जो इतने 'भाग्यशाली' होते हैं कि स्कूल जा सकें; विशाल बहुमत तो ऐसे बच्चों का है जिन्हें यह सौभाग्य कभी प्राप्त ही नहीं होता। स्कूल में इन बच्चों को घंटों नीरस काम करते रहने और किताबों से नीरस

ढंग से सीखने की कठिन तपस्या को सहन करना पड़ता है और आम तौर पर इन सब बातों का तात्पर्य तथा उद्देश्य उनकी समझ से बाहर होता है। बहुधा इन स्कूलों में शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों ही प्रकार के ऐसे सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्यों के लिए कोई व्यवस्था नहीं होती जिनमें बच्चों को अपनी वैयक्तिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता हो। बहुधा बेसिक स्कूलों में भी शारीरिक काम गिरकर एक बँधे हुए ढर्रे के नीरस काम के स्तर पर पहुँच जाता है। हर्षप्रद काम के बिना, रोचकता या जिज्ञासा के अभाव में, या इस बात का सुखद आभास न होने के कारण कि वे अपनी पसंद का कोई काम कर रहे हैं, स्कूल बच्चों के लिए एक कारावास बन जाता है; जैसे-जैसे वर्ष बीतते जाते हैं इस कारावास का 'अन्धकारमय वातावरण बढ़ते हुए बच्चे को चारों ओर से घेरता जाता है।' और यह बात तो स्पष्ट है कि कोई भी कारावास उसमें रहने वालों की श्रेष्ठतम निहित क्षमताओं को उभार नहीं सकता। उल्लास से वंचित इस बाल्यावस्था के बाद किशोरावस्था आती है जिसमें पहुँचकर हम बच्चे में कोई विशिष्ट तथा दूसरों से भिन्न रुचि विकसित रूप में नहीं पाते। माध्यमिक स्कूलों में भी लड़कों (और लड़कियों) से यह आशा की जाती है कि वे निष्क्रिय रूप से यंत्रवत् अव्यावहारिक अध्ययन के उसी नीरस क्रम का पालन करते रहें जिसमें निजी पसंद या रुचि के लिए बहुत ही कम गुंजाइश रहती है। साधारणतया बच्चे को इन्हीं विषयों में से किसी एक को चुन लेना पड़ता है कि वह अरबी पढ़ेगा या फारसी या संस्कृत और साइन्स लेगा कि ड्राइंग। अभी कुछ ही समय से कुछ राज्यों में माध्यमिक स्कूल की परीक्षा के लिए बहुत-से ऐसे नये विषय जोड़ दिये गए हैं जिनमें से विद्यार्थी अपनी पसन्द के विषय चुन सकता है। परन्तु अपनी पसन्द के विषय चुनने की यह स्वतंत्रता बहुत बड़ी हद तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहती है क्योंकि बहुत ही थोड़े स्कूल ऐसे होते हैं जहाँ आम परम्परागत विषयों के अलावा और किसी विषय की शिक्षा देने की व्यवस्था हो। परन्तु अब जो नये बहु-प्रयोजन विद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं जिनकी पाठ्यचर्या में कुछ मूल अनिवार्य विषय भी होंगे और साथ ही ऐच्छिक विषयों के रूप में व्यावसायिक विषयों की शिक्षा का भी प्रबन्ध होगा, उनके द्वारा एक स्वस्थ परिवर्तन का आयोजन किया जा रहा है।

किशोरावस्था के आरम्भ से ही हर बालक-बालिका में वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने की और कोई निश्चित तथा ठोस काम करने की लालसा रहती है और कला, कविता तथा साहित्य और समाज-सेवा के प्रति उसकी रुचि बढ़ती जाती है। उसके मन में उत्तरोत्तर ऐसी प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं जो उदार विचारों

तथा भावनाओं को जन्म दे सकती हैं। परन्तु इन बातों की जरा भी परवाह किये बिना स्कूल नीरस किताबी काम के अपने उसी बँधे हुए ढर्रे पर चलता रहता है जिसकी नीरसता सारे उत्साह को कुचल देती है। स्कूल की ओर से बच्चों के भावी व्यवसाय की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता और वे निरुद्देश्य अपनी शिक्षा का एक के बाद दूसरा साल पूरा करते रहते हैं। साधारण स्कूलों में उन शिक्षाप्रद साधनों का कोई भी लाभ नहीं उठाया जाता जो कला, शिल्प, उद्योग, कृषि तथा मानव-जाति की अन्य प्रमुख गतिविधियों में निहित होते हैं और युवकों का प्रशिक्षण इस ढंग से होता है जैसे आगे चलकर उनमें से लगभग सभी को दफ्तरों में बाबू बनना है। फिर इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि आर्थिक परिस्थितियों से विवश होकर विशाल बहुमत का वास्तव में यही लक्ष्य बन जाता है और उनकी विविध प्रतिभाएँ, जिन्हें विकसित किया जा सकता था और राष्ट्र के जीवन को समृद्ध बनाने के लिए अन्य कार्य-क्षेत्रों में जिनका उपयोग किया जा सकता था, उचित उपयोग न होने के कारण कुण्ठित होकर रह जाती हैं और वे या तो दफ्तरों में कोई काम पा जाने में 'सफल' हो जाते हैं या भटकते हुए किसी भी ऐसे रोजगार में लग जाते हैं जो उनकी रुचि के अनुकूल तो नहीं होता पर जहाँ उन्हें अपने पाँव जमाने का मौका मिल जाता है। ऐसा नहीं है कि दफ्तर में काम करना या क्लर्की का पेशा अपनाना बुनियादी तौर पर कोई आपत्तिजनक या अपमानजनक बात है। परन्तु जब पूरे राष्ट्र को ही सचेतन अथवा अचेतन रूप से इसी संकुचित लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर शिक्षा दी जा रही हो तो अलग-अलग विद्यार्थियों में किसी विशेष वैयक्तिक प्रतिभा की आशा करना व्यर्थ है। भारतीय शिक्षा-पद्धति बहुत समय से यह गलती करती आई है कि उसने किसी आदर्श के जगमगाते हुए सितारे को अपना अवलम्ब बनाने के बजाय तुच्छ जीविका कमाने के सड़क की बत्ती जैसे प्रकाश का सहारा लिया। अपने आदर्श को इतने नीचे स्तर पर ले आने के दुष्परिणाम हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं। अब हमें इस गलती का बहुत तीव्र आभास है पर एक शताब्दी तक गलत मार्ग पर चलते रहने की कीमत हमें कई वर्ष तक चुकानी पड़ेगी—उस समय तक जब तक कि यह गतिरोध भंग न हो जाय और अध्यापक तथा विद्यार्थियों के माता-पिता नये रवैये और नये तरीके न अपना लें।

अपनी शिक्षा-पद्धति को सामाजिक दृष्टिकोण से देखने पर, अर्थात् उसे विद्यार्थी को उस सामाजिक आर्थिक, तथा सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल ढालने के एक साधन के रूप में देखने पर जिसमें उसे अपना सारा जीवन

व्यतीत करना है, क्या हम स्थिति को बेहतर पाते हैं ? इस मामले में स्कूलों की वर्तमान व्यवस्था की असफलता का कारण उसकी उत्पत्ति के इतिहास में निहित है। जबकि हमारे स्कूलों ने अपने उद्देश्यों तथा आदर्शों के मामले में और शिक्षा-प्रणाली, पाठ्यचर्या तथा संगठन के मामले में भी, भारतीय संस्कृति और सामाजिक आदर्शों से प्रेरणा न लेकर एक विदेश के पुराने ढंग के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों तथा संस्थाओं की नकल करने पर ही सन्तोष कर लिया है तो फिर वे बच्चे का उसके वातावरण के साथ सामंजस्य कैसे स्थापित कर सकते हैं और उसमें अपनी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं को समझने की अन्तर्दृष्टि कैसे पैदा कर सकते हैं ? जबकि कई दशाब्दियों से बच्चे की मातृभाषा उसकी शिक्षा का माध्यम नहीं रही है तो हमारे स्कूल उसके सामने बाह्य जगत् के या स्वयं उसकी बौद्धिक तथा भावात्मक रुचियों के आन्तरिक जगत् के द्वार कैसे उन्मुक्त कर सकते हैं ? इतनी भयंकर कठिनाइयों में घिरे होने के कारण जीवन और शिक्षा के घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध को सही ढंग से न समझने के कारण हमारे स्कूलों का अपने चारों ओर के जटिल तथा वैविध्यपूर्ण जीवन के साथ कोई भी सजीव सम्पर्क नहीं रह गया है जब कि इस प्रकार का सम्पर्क ही उनकी अध्यापन-सम्बन्धी गतिविधियों को सार्थक बना सकता है और उन्हें उचित दिशा प्रदान कर सकता है। हमारे स्कूल सबसे नाता तोड़कर अपनी अलग ही एक कृत्रिम दुनिया में बन्द हो गए हैं। जो बच्चा, समझ लीजिए, पाँच या छः वर्ष की आयु में स्कूल की चौखट पार करके इस कृत्रिम जगत् में प्रवेश करता है और वहाँ सत्रह या अठारह वर्ष की आयु तक रहता है, उसके लिए यह स्वाभाविक ही है कि इस दौरान में बाहरी जीवन के साथ उसका सम्पर्क बिलकुल ही टूट जाय। जब वह कोई सजीव अथवा सप्राण अनुभव प्राप्त किये बिना इस दुनिया से बाहर निकलता है तो यह स्वाभाविक ही होता है कि वह तत्कालीन व्यवस्था में कहीं खप न सके और अपने पैर दृढ़ता तथा विश्वास के साथ कहीं जमा न सके। उस बन्दी की भाँति जिसे बहुत समय तक एक अँधेरी कोठरी में रखा गया हो, वह बाहरी दुनिया के कोलाहल में और चकाचौंध कर देने वाले प्रकाश में कुछ खोया-खोया अनुभव करता है। उसके लिए यह परिवर्तन बहुत आकस्मिक होता है; वह यह पता नहीं लगा पता कि इन दोनों परिस्थितियों के उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा सम्बन्धों को परस्पर जोड़ने वाली कोई कड़ी है भी कि नहीं। कुछ वर्ष बाद जब वह अपने काम में लग जाता है तब भी वह न तो स्वयं अपने से पूरी तरह सन्तुष्ट रहता है, न अपने चारों ओर की परिस्थितियों से ही। उसके मन को रह-रहकर यह भावना कुरेदती रहती है कि जैसे कोई चीज अधूरी है जैसे किसी चीज

की कमी है, क्योंकि 'स्कूली दुनिया' से 'असली दुनिया' में आने पर उसे जो झटका लगता है वह बहुत आकस्मिक होता है और उससे उसके मानसिक सन्तुलन और उसकी बौद्धिक आदतों में विघ्न पड़ जाता है। स्कूल में उसकी जो आदतें पड़ गई थीं और उसने जो रवैये अपनाये थे उनमें से कई को भुला देना उसके लिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि उसकी नयी परिस्थितियों में उनसे 'काम चलता' ही नहीं। इस प्रकार स्कूल बच्चे को उसकी परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की प्रक्रिया में सहायता देने के बजाय वास्तव में एक बाधा और अड़चन बन जाते हैं।

मैं आशा करता हूँ कि मैंने इस चित्र को प्रस्तुत करने में अतिरंजना से काम नहीं लिया है और न ही अपनी बात को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसकी दोषपूर्ण विशेषताओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है। हमारे प्रतिदिन के अवलोकन और अनुभव इस बात की पुष्टि करते हैं। उदाहरण के लिए, हम गाँव के एक ऐसे होनहार बच्चे को लें जिसके माता-पिता किसी उपयोगी धन्धे में, जैसे खेती-बारी या कपड़ा बुनने के काम में, लगे हों। अपने समाज के जीवन में उनकी एक निश्चित भूमिका है; उनका काम मामूली पर सम्मानप्रद है और उससे उन्हें अपने स्थानीय समाज में एक विशेष मर्यादा का आश्वासन हो जाता है। यदि वे पैसा बचाकर और स्वयं बहुत-से सुखों से वंचित रहकर अपने लड़के को गाँव की पाठशाला में और फिर पास के शहर के स्कूल में भेजने में सफल होते हैं तो उन्हें निश्चय ही यह आशा रखने का अधिकार है कि स्वयं उन्हें जीवन में जैसे अवसर प्राप्त हुए थे, स्कूल उनके बच्चे को जीवन में उससे अच्छे अवसर प्रदान करेगा। पर वास्तव में होता क्या है? वर्षों तक धैर्यपूर्वक आत्म-त्याग करते रहने और सुखद आशाएँ लगाये रहने के बाद उनका लड़का गाँव लौटकर आता है; हम मान लेते हैं कि वह इतना भाग्यशाली है कि वह रास्ते में ही अटक नहीं जाता और मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेता है। घर लौटने पर इस 'पढ़े-लिखे' नौजवान को पता लगता है—जिसकी आशंका कदाचित् पहले ही से उसके मन में थी—कि वह गाँव के जीवन की अर्थ-व्यवस्था के लिए न तो अपने प्रशिक्षण की ही दृष्टि से उपयुक्त है न अपनी रुचि की ही दृष्टि से। अपने अल्प-ज्ञान के कारण—जिसमें दुनिया भर की विविध बातों के बारे में बिखरी हुई तथा अव्यवस्थित जानकारी के कुछ अंश होते हैं—उसके मन में अपने महत्त्व के बारे में एक झूठी भावना उत्पन्न हो जाती है। अपनी स्कूल की शिक्षा के कारण, जिसमें ईमानदारी के साथ कठोर शारीरिक श्रम करने के शिक्षाप्रद तत्त्व का सर्वथा अभाव रहा है, उसकी मान्य-

ताएँ विकृत हो जाती हैं। बहुधा वह अपने पिता और अन्य गाँव वालों के काम को यदि तिरस्कार की दृष्टि से नहीं तो अरुचि की दृष्टि से तो अवश्य ही देखने लगता है। उसके स्वप्नों तथा विचारों का केन्द्र अब हल और चरखा नहीं रह जाते हैं, जो मानव सभ्यता के दो सबसे बहुमूल्य औजार हैं; उसके विचार और स्वप्न दफ़्तर की कुरसी और बहीखातों की ओर अधिक झुकने लगते हैं। मैं यहाँ पर इस बहस में नहीं पड़ना चाहता कि इनमें से कौन किससे श्रेष्ठतर है। अकाट्य निर्विवाद तथ्य यह है कि जितने लोग क्लर्कों का काम करना चाहते हैं उन सबके लिए इन विभागों में स्थान ही नहीं होता और राष्ट्रीय जीवन की अर्थ-व्यवस्था का तकाजा यह है कि विभिन्न प्रकार के उन शारीरिक कामों को करने के लिए, जो आवश्यक हैं, पर्याप्त संख्या में सुशिक्षित, काम करने की इच्छा रखने वाले और सुयोग्य लोग हों। परिणाम यह होता है कि यह नवयुवक जो अपने निर्धन परिवार की आशाओं का दीपक है, कोई 'नौकरी' ढूँढ़ने के निष्फल प्रयास में कुछ वर्ष और गँवा देता है और इस दौरान में उसे उन सारे अपमानों और अवांछनीय प्रभावों का सामना करना पड़ता है जो इस काम का एक अभिन्न अंग हैं और जो बड़े कारगर ढंग से मनुष्य के आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना को नष्ट कर देते हैं। अन्त में वह या तो किसी दफ्तर में अल्प वेतन पाने वाले अधीनस्थ कर्मचारी के रूप में 'जम जाता' है और कोई नीरस तथा बेजान बँधा हुआ काम करने लगता है, या फिर विवश होकर उसे अपने बाप का धन्धा अपनाना पड़ता है—पर बड़े अनमनेपन के साथ। इन कटु तथा अरुचिकर अनुभवों से गुजर चुकने के बाद, जो सामान्य मान्यताओं के प्रति उसके दृष्टिकोण को विकृत कर देते हैं, शायद ही कभी ऐसा होता हो कि वह अपना काम उस तरह पूरा जी लगाकर और वैसी लगन के साथ कर सके जिससे साधारण-से-साधारण व्यवसाय को भी सृजनात्मक कार्य का गौरव प्राप्त होता है और फलस्वरूप काम करने वाले के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि उसने स्वयं कुछ पाया है और उसके व्यक्तित्व में व्यापकता आई है। वह जीवन भर 'असंगत' रहता है और असंगत लोगों की इसी दुर्दशा के कारण, गोल छेद में चौकोर खूँटियाँ ठूँसने के इसी प्रयत्न के कारण, आज हम दुनिया में इतना असन्तोष तथा इतनी व्यथा देखते हैं—हर समय भूत की तरह मँडराने वाली निराशा की भावना; यह भावना कि जैसे कोई चीज नहीं है, जैसे कोई चीज अधूरी है या गलत जगह पर लगी हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे स्कूल अपने सामाजिक दायित्व को पूरा करने में किस प्रकार और कहाँ पर असफल रहे हैं। वे न तो उनमें पढ़ने वाले

बच्चों की व्यक्तिगत क्षमताओं को विकसित करने में सफल हुए हैं और न इस बात में कि बच्चे अपने विशिष्ट वातावरण में सुखी अनुभव कर सकें और यह अनुभव कर सकें कि वे उपयोगी ढंग से अपने वातावरण के अनुकूल ढल गए हैं। स्कूलों ने किताबों से ही सीखने और प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने जैसे गलत उद्देश्यों तथा मान्यताओं पर जोर देने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है और अधिक महत्त्वपूर्ण तथा बुनियादी मान्यताओं तथा उद्देश्यों की उपेक्षा की है। स्कूलों में केवल किताबी ज्ञान प्रदान किये जाने और श्रम के विभिन्न रूपों के शिक्षाप्रद महत्त्व तथा गौरव की ओर ध्यान न दिये जाने का परिणाम यह हुआ है कि पढ़े-लिखे लोग कुछ सीमित व्यवसायों में आवश्यकता से अधिक संख्या में जमा हो गए हैं और अन्य व्यवसायों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इस प्रकार हम चाहे व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखें चाहे पूरे समाज के दृष्टिकोण से, हम इसी दुःखद निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक सामाजिक तथा शैक्षणिक संस्था के रूप में स्कूल अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहे हैं।

एक और क्षेत्र में हमारे स्कूलों की पद्धति की गलत दिशा के कारण असीम क्षति पहुँची है—वह है संस्कृति की व्याख्या करने का क्षेत्र। जैसा कि हर युग में शिक्षा-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है, यह स्कूलों का काम है कि उनकी चहार दीवारी के भीतर जिस पीढ़ी का पोषण हो रहा है उस तक राष्ट्रीय संस्कृति को संक्रमित करने तथा उसकी व्याख्या करने के साधन के रूप में वे काम करें। परन्तु पिछली कई दशाब्दियों से हमारी शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीय संस्कृति की विस्तृत नींव पर आधारित नहीं रही है और वह अपने अतीत की उपलब्धियों या वर्तमान के महत्त्वपूर्ण कामों या अपने भविष्य की आशाओं से प्रेरणा प्राप्त नहीं करती है। स्कूलों और राष्ट्रीय संस्कृति के स्रोतों के बीच इस दुर्भाग्यपूर्ण विच्छेद का परिणाम यह हुआ है कि नयी पीढ़ी अपने साहित्य, दर्शन, नीति तथा धर्म की परम्पराओं से अधिकाधिक दूर हटती गई है। इसके बजाय उसमें प्रेरणा के विदेशी स्रोतों का सहारा लेने की प्रवृत्ति पाई जाती है; प्रेरणा के ये स्रोत स्वतः तो बहुत अच्छे और अपनी जगह पर बहुत ही मूल्यवान हैं, परन्तु हमारी नयी पीढ़ी के लोगों के लिए उनका वही अर्थ और महत्त्व नहीं हो सकता। यह एक अनोखा व्यंग्य है कि हमारे स्कूलों तथा कालेजों में युवक-युवतियाँ शेक्सपियर तथा मिल्टन का तो अध्ययन करते हैं पर उन्हें स्वयं अपने देश के महान् साहित्यकारों के बारे में कोई जानकारी नहीं होती; दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिए वे अफलातून और अरस्तू और काण्ट और बर्कले का सहारा लेते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि भारत कई युगों से एक ऐसी दर्शन-पद्धति का केन्द्र रहा है

जिसका अध्ययन पाश्चात्य देशों के विद्वान् बड़ी श्रद्धा के साथ करते रहे हैं, और यह कि यहाँ बसने वाली विभिन्न जातियों तथा लोक-समुदायों ने इस बहुमूल्य निधि में अमूल्य योगदान दिये हैं। मेरा यह दृष्टिकोण संकुचित 'राष्ट्रवाद' की भावना के कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं देखता और वह पूरी मानव-जाति की सम्पत्ति है।[१] हमें अपनी राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में अपने देश की संस्कृति को अधिकाधिक महत्त्व क्यों देना चाहिए, इसका कारण मनुष्य के स्वभाव में ही निहित है। केवल वे ही लोग किसी देश की संस्कृति तथा विचारों के तात्पर्य तथा महत्त्व को पूरी तरह समझ सकते हैं जो उसकी मिट्टी में पले-बढ़े हों और जिनके विचारों तथा भावनाओं ने सचेतन रूप से और अचेतन रूप से भी उसके विशिष्ट सार-तत्त्व को और उसके साकार रूपों को आत्मसात् कर लिया हो। अध्यवसायी भारतीय विद्यार्थी को तो अंग्रेजी साहित्य अथवा दर्शन की भूल-भुलैयों में बड़ी मेहनत से अपना मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा, परन्तु अंग्रेज विद्यार्थी बड़ी आसानी से और स्वभावतः सहज रूप से उनमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालेगा। परन्तु यदि उसी भारतीय विद्यार्थी का मानसिक पोषण स्वयं उसकी साहित्यिक परम्पराओं द्वारा किया जाय और उसका परीक्षण ऐसे ज्ञान के माध्यम से हो जो ऐतिहासिक तथा मानसिक दृष्टि से उसके लिए अनुकूल हो तो वह अधिक बौद्धिक जिज्ञासा तथा आत्म-विश्वास का परिचय देगा। ज्ञानोपार्जन तथा मानसिक विकास से संबंधित आधुनिक मनोविज्ञान ने व्यक्ति की और समूह अथवा समाज की बौद्धिक तथा व्यावहारिक गतिविधियों के घनिष्ठ सम्बन्ध के प्रति इस निष्ठा को बहुत बल प्रदान किया है। मैं सबसे अच्छा यही समझता हूँ कि कुशाग्र बुद्धि शिक्षण-मनोविज्ञानावेत्ता डा० हिल्डा टाबा ने इस विषय पर जो कुछ कहा है उसे अपने समर्थन के साथ ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर दूँ।

> "ऐसे व्यक्तिगत कार्य की निरर्थकता, जो हमारी सामूहिक संस्कृति से मेल न खाती हो और जिसे उस संस्कृति का समर्थन न प्राप्त हो, आधुनिक इतिहास में अब से पहले कभी भी हमारे सामने इतने स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं हुई थी। सामूहिक आचरण के रूपों तथा उद्देश्यों पर व्यक्तिगत आचरण के रूपों तथा उद्देश्यों की निर्भरता पहले कभी भी वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा व्यावहारिक अनुभव द्वारा इससे अधिक प्रभावशाली ढंग से सिद्ध नहीं की गई थी।"[२]

---

१. मुहम्मद साहब का एक प्रख्यात कथन है: "इल्म (ज्ञान) मोमिन (धर्म पर विश्वास करने वाला) की खोयी हुई दौलत है; वह उसे जहाँ मिल जाय उस पर उसका हक है।"

२. टाबा : "प्रोग्रेसिव एजुकेशन—ह्वाट नऊ ?" (**प्रोग्रेसिव एजुकेशन** में, मार्च १९३४)।

शिक्षा के संगठन से सम्बन्धित इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में निहित आशय पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ पर तो हमें केवल इस बात को ध्यान में रखना है कि स्कूल सांस्कृतिक दृष्टि से इसलिए कुछ नहीं कर पाते कि उनकी गतिविधियाँ और प्रगति हमारी सामूहिक संस्कृति से 'मेल नहीं खातीं' और स्वयं अपने सांस्कृतिक स्रोतों से पोषक तत्त्व तथा प्रेरणा ग्रहण करने के पहले ही वे नवयुवकों पर विदेशी सामग्री थोपकर उनकी बुद्धि को कुण्ठित कर देते हैं।

अभी कुछ समय पहले तक कई दशाब्दियों से यही परिस्थिति चली आई थी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से और कुछ क्षेत्रों में उससे भी पहले से एक और प्रवृत्ति पैदा हो गई है जो उतनी ही खतरनाक है; एक प्रकार की अन्धी 'पुनरुत्थान की प्रवृत्ति' पैदा हो गई है जिसके अधीन संस्कृति की—और फलस्वरूप शिक्षा की—व्याख्या बहुत संकुचित अर्थ में की जाती है और इस प्रवृत्ति के कारण लोग भारतीय संस्कृति को प्राचीन संस्कृति का पर्याय समझ लेते हैं; मध्ययुग में तथा आधुनिक काल में उसमें जो समृद्ध योगदान किये गए हैं उनकी ओर वे या तो बिलकुल ध्यान ही नहीं देते या उन्हें मिटा देने का सक्रिय रूप से प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का प्रतिक्रियावादी रवैया एक सप्राण तथा प्रगतिशील संस्कृति तथा एक सच्चे राष्ट्रवादी अथवा मानव-प्रेमी दृष्टिकोण के विकास के लिए घातक है। भारतीय शिक्षा-पद्धति को इस खतरे से अपनी रक्षा करनी चाहिए जो इधर कुछ समय से बहुत विकराल रूप धारण करता जा रहा है।

आप पूछ सकते हैं कि इन परिस्थितियों में बेचारे अध्यापक क्या कर सकते हैं। जिन परिस्थितियों में वे काम करते हैं वे इस चीज के लिए कदापि अनुकूल नहीं हैं कि सुधार की दिशा में कोई फलप्रद प्रयास किया जा सके। कुछ जगहों पर, जैसे काश्मीर के एक अध्यापक वाले प्राथमिक स्कूलों में मैं अक्सर लगन और सूझ-बूझ रखने वाले ऐसे अध्यापकों से मिला हूँ जिन्होंने बहुत ही कठिन परिस्थितियों में सराहनीय काम किया है। परन्तु उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं कि यदि उनमें सदिच्छा हो भी तब भी उनमें अपनी इन इच्छाओं को व्यवहार में पूरा करने की न तो स्वाभाविक क्षमता होती है और न ही वे इसके लिए प्रशिक्षित होते हैं। अपने ज्ञान को गतिवान क्रियाशीलता का रूप देने के लिए उनके पास आवश्यक ज्ञान भी नहीं होता और उसकी क्षमता तो उनमें और भी कम होती है। कुछ विरले उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जब विवेकपूर्ण समझ-बूझ के साथ उनमें अपनी ओर से कुछ करने की क्षमता भी होती है, पर ये लोग रूढ़िबद्ध व्यवस्था के भार के नीचे इतनी बुरी तरह दबे रहते हैं कि वे पिंजरे

में बन्द पक्षी की तरह लाचारी से अपने पंख फड़फड़ाकर लोहे की सलाखों से टकराकर रह जाते हैं। नये-नये प्रशिक्षित अध्यापकों के सिलसिले में ऐसा हो सकता है, और कभी-कभी होता है, कि वे अपना कार्य बड़े उच्च आदर्शों को लेकर और बड़े आशापूर्ण उत्साह के साथ आरम्भ करते हैं; परन्तु चारों ओर छाई हुई उदासीनता, अज्ञान और दफ्तरों की कार्रवाई का लम्बा चक्कर शीघ्र ही उन्हें अपने क्रूर पंजे में बुरी तरह जकड़ लेता है। दुर्भाग्य की बात यह है कि अधिकांश प्राइवेट स्कूल भी इस मामले में सरकारी स्कूलों से बेहतर नहीं हैं, और कभी-कभी तो वे उनसे भी बदतर होते हैं। उनमें से बहुतेरे स्कूलों को या तो मुनाफाखोर चलाते हैं या ऐसे जाहिल, आत्म-सन्तुष्ट और मन्दबुद्धि 'परोपकारी लोग' चलाते हैं जो हठपूर्वक अपने मूर्खतापूर्ण विचारों को अध्यापकों पर थोपते हैं और उन्हें वह स्वतन्त्रता तथा सम्मान नहीं देते जिसके बिना कोई भी स्वतःस्फूर्त तथा सृजनात्मक प्रयास असम्भव है। इस प्रकार अधिकांश स्कूल हर नयी चीज को, उल्लासमय तथा सृजनात्मक क्रियाकलाप को नष्ट कर देने-वाली यन्त्रवत् पढ़ाई तथा अनुशासन के चंगुल से बच्चों को मुक्त कराने के हर प्रयत्न को, अरुचि और शंका की दृष्टि से देखते हैं। वे अध्यापक को बच्चों को सैर के लिए कहीं बाहर ले जाते हुए या खुली जगह में उनके साथ उल्लासपूर्वक खेलते हुए देखने के बजाय इसी को ज्यादा पसन्द करते हैं कि वह रजिस्टरों की खानापूरी करता रहे, फीस जमा करता रहे और हर सप्ताह बच्चों की निरर्थक परीक्षा लेता रहे। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार के अवरोधों के बीच काम करते-करते वह शीघ्र ही निराश तथा निरुत्साह हो जाता है और कुछ समय तक संघर्ष करने के बाद वह परम्परागत ढंग का एक भीरु अध्यापक बन जाता है। ऊपर जो प्रश्न किया गया था उसे मैं एक बार फिर दोहराऊँगा : इन परिस्थितियों में अध्यापक क्या कर सकते हैं? अगले अध्यायों में मैं उपरोक्त सर्वेक्षण के प्रकाश में इस बात पर विचार करूँगा कि भारत में किन मुख्य-मुख्य दिशाओं में स्कूलों का पुनर्गठन किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

२

स्कूल एक सक्रिय वातावरण है

भावी स्कूल का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते समय उपलब्ध सामग्री की प्रचुरता को देखकर हम बौखला जाते हैं। गत पचास वर्षों के दौरान में अन्य देशों में अनेक 'नये स्कूल' खुले हैं और कई शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग किये गए हैं और जो लेखक पहले से यह कल्पना करना चाहता है कि भविष्य में चलकर क्या होगा उसका काम है कि वह शिक्षा के पुनर्गठन के लिए इन प्रगतिशील स्कूलों के महत्त्व तथा उनके निहित अर्थ का पता लगाए। इनमें जो अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं उनमें से प्रत्येक में हमें कोई-न-कोई बहुमूल्य सुझाव मिलता है, मानो कोई उँगली उस बेहतर स्कूल की, जिसका निर्माण करने की कोशिश की जा रही है, किसी महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत कर रही हो। शिक्षा-सम्बन्धी नये विचारों से प्रोत्साहन पाकर विभिन्न देशों में जो अनेक 'नये स्कूल' स्थापित किये गए हैं उनकी लाक्षणिक विशेषताओं का पता लगाना और उन पर विचार करना एक रोचक गवेषणा होगी। परन्तु इस काम में हाथ डालकर हम अपने विषय के क्षेत्र से बहुत दूर निकल जायँगे। यों भी पश्चिमी देशों की प्रगतिशील शिक्षा-व्यवस्था के बारे में बहुत काफी साहित्य मौजूद है। इसलिए जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ तथा विचार उन **सबमें समान रूप से** मौजूद हैं उन्हीं पर मैं अपना ध्यान केन्द्रित करूँगा, क्योंकि इन्हीं में से हम अपने भावी स्कूल का पूरा चित्र उभरता हुआ देखेंगे।

पहली बात तो यह कि आज जिस रूप में परम्परागत स्कूल मौजूद हैं उनमें और 'नये' स्कूल में प्रमुख अंतर क्या है? बच्चे के प्रति अपने रवैये में और रोजमर्रा की समस्याओं के क्षेत्र के प्रति अपने रवैये में भी 'नया' स्कूल परम्परागत स्कूल से भिन्न है। वह बच्चे की स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व देता है और उसने यह रवैया अकाट्य मनोवैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर ही अपनाया है। वह इस आस्था से प्रेरणा लेता है कि बच्चे का विकास केवल उसी दशा में सुनिश्चित बनाया जा

सकता है जब उसकी जन्मजात शक्तियों तथा क्षमताओं और उसकी बाह्य परिस्थितियों के बीच फलप्रद क्रिया-प्रतिक्रिया को पूरा अवसर प्रदान किया जाय। नया स्कूल अपने काम की कल्पना इस रूप में नहीं करता कि किताबी ज्ञान अर्जित करने के अतिरिक्त अन्य सभी दिशाओं में बच्चों के उत्साह और उनकी क्रियाशीलता का निरन्तर दमन करते रहना ही उसका काम है। वह इस बात की कोशिश करता है कि वह बच्चे के लिए ऐसा वातावरण उपलब्ध करे जो यथासंभव अधिक-से-अधिक समृद्ध, सक्रिय तथा उल्लासमय हो, जिसमें खेल-कूद सामाजिक सहयोग, शारीरिक श्रम, सृजनात्मक तथा रचनात्मक कामों और अपने आप पसन्द की गई पुस्तकों तथा विषयों के अध्ययन के लिए पूरा अवसर हो; और जब इस प्रकार का वातावरण योजनानुसार उपलब्ध कर दिया जाय तो बच्चे को उसकी उन सभी विविध गतिविधियों में पूरी तरह भाग लेने का मौक़ा दिया जाय जो उसकी आयु और उसकी रुचियों के अनुकूल हों। बच्चे को प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर अपने कर्तव्यों तथा दायित्वों को निभाने के लिए तैयार करने का सबसे अच्छा ढंग यही है कि वह बाल्यावस्था से ही ऐसा जीवन व्यतीत करे जो उपयोगी हो जिसमें उसे फौरन कुछ संतोष मिले और जो उसके लिए अर्थपूर्ण हो। इस रवैये के लिए यह जरूरी है कि अध्यापक में यह सच्ची आस्था हो कि बच्चे की स्वाभाविक प्रेरणाएँ ही उसकी शिक्षा का मुख्य साधन तथा आधार-सामग्री हैं। शिक्षा और बने-बनाए ज्ञान को बच्चे के दिमाग में उड़ेल देना दोनों एक ही चीज नहीं हैं; शिक्षा का अर्थ है मूल्यवान तथा महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों के लिए बच्चे की शक्तियों तथा क्षमताओं को अनुशासित, संगठित तथा समन्वित करना। बौद्धिक दृष्टि से, आधुनिक शिक्षण का सार-तत्त्व यह है कि ज्ञानोपार्जन के साधनों का उपयोग करने में बच्चे को निपुण बना दिया जाय और उसमें ज्ञान प्राप्त करने की एक प्रबल जिज्ञासा तथा उत्सुकता जाग्रत की जाय। कारण यह है कि पिछली दो शताब्दियों में वैज्ञानिक ज्ञान में इतने उल्लेखनीय ढंग से तथा इतनी तीव्र गति से वृद्धि हुई है कि कोई भी शिक्षा-पद्धति, वह कितनी ही सर्वांगीण तथा दीर्घकालीन क्यों न हो, यह आशा नहीं कर सकती कि वह छात्र को समस्त उपलब्ध ज्ञान का या उसके काफी बड़े हिस्से का भी पंडित बना देगी। इसलिए अनेक बिखरे हुए तथा असम्बद्ध विषयों से उसे सतही तौर पर परिचित करा देने के बजाय, यह अधिक उपयोगी है कि थोड़े-से महत्त्वपूर्ण अनुभवों की पूरी तरह तथा शांत भाव से विवेचना की जाय, और इस प्रकार इस प्रक्रिया के दौरान में तथा उपयोगी ढंग से उसे ज्ञानोपार्जन के साधनों के प्रयोग में निपुण बना दिया जाय और उसकी बौद्धिक जिज्ञासा को निरन्तर उत्तेजित किया जाय। इस प्रकार,

आधुनिक 'प्रगतिशील' स्कूल केवल जानकारी प्रदान करने के स्थान पर अनुभव प्रदान करने की चेष्टा करता है और अपनी विषय-वस्तु के लिए अनुभव के सबसे महत्त्वपूर्ण तथा चिरस्थायी पहलुओं को चुनता है और फलस्वरूप स्कूल के जीवन को सक्रिय तथा अर्थपूर्ण बना देता है। हम अभी आगे चलकर इस बात पर विचार करेंगे कि स्कूल के काम से सम्बन्धित इस दृष्टिकोण में क्या आशय निहित हैं।

नये स्कूल बाह्य जगत् के प्रति अपने रवैये में भी भिन्न हैं। परम्परागत ढंग से स्कूल की कल्पना जिस रूप में की जाती रही है वह जरूरत से ज्यादा हद तक केवल सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित तथा मठों जैसा रूप रहा है; स्कूल को एक ऐसी जगह समझा जाता रहा है जिसे प्रतिदिन के जीवन के थपेड़ों और टक्करों से, प्रतिदिन के जीवन के काम तथा चिन्ताओं से बिलकुल अलग रखा जाना चाहिए। ये स्कूल अपना अध्यापन का काम अपने चारों ओर के उमड़ते हुए सामाजिक तथा आर्थिक जीवन से बिलकुल अलग रहकर ऐसे वातावरण में करते थे जहाँ पढ़ाई के अतिरिक्त और कोई चीज होती ही नहीं थी। शिक्षा के बारे में समाज-शास्त्र का जो आधुनिक दृष्टिकोण है उसमें यह बताया गया है कि स्कूलों को अपनी विषय-वस्तु, अपनी अध्यापन-प्रणाली और अपने काम के उद्देश्यों के स्रोत के रूप में निरन्तर सामाजिक जीवन तथा गतिविधियों का सहारा लेना चाहिए। स्कूल की छोटी-सी दुनिया और बाहर की बड़ी दुनिया के बीच सचेतन तथा सतत सम्बन्ध रहना चाहिए; उनके बीच स्वतन्त्र आदान-प्रदान होना चाहिए। समाज-सेवा में, नगरपालिका के कामों में, स्वास्थ्य-सम्बन्धी आन्दोलनों में और उन सभी सार्वजनिक गतिविधियों में जो शिक्षात्मक महत्त्व रखती हों, बच्चों को स्वयं भाग लेने और इस प्रकार व्यवहार द्वारा सेवा तथा सहयोग के सबक सीखने का अवसर दिया जाना चाहिए। अन्यथा, स्कूल तथा जीवन का यह अलगाव पढ़ाई को कृत्रिम बना देगा, उसमें कोई महत्त्वपूर्ण सार-तत्त्व और वास्तविकता की भावना नहीं रह जायगी और बच्चे अपने दैनिक जीवन में अपनी स्कूल की पढ़ाई तथा संस्कृति के फलों का लाभ नहीं उठा पाएँगे।

नये स्कूल के आन्दोलन के इन दो मार्गदर्शक सिद्धान्तों में हमें स्कूल की एक ऐसी कल्पना मिलती है जो कई महत्त्वपूर्ण बातों में वर्तमान कल्पना से भिन्न है। जरूरत इस बात की है कि स्कूलों के उद्देश्यों को यदि पूरी तरह बदला न भी जाय तब भी नये सिरे से उनकी व्याख्या अवश्य की जाय, उनकी पाठ्यचर्या तथा अध्यापन प्रणाली की योजना नये सिरे से तैयार की जाय, और उनके आन्तरिक जीवन तथा अनुशासन को और साथ ही समाज के जीवन

के साथ उसके सम्बन्ध को नये सिरे से संगठित किया जाय। आइए, हम इन तकाजों की कुछ विस्तारपूर्वक जाँच करें।

इस समय आम तौर पर स्कूल एक संकुचित पर सुस्पष्ट समस्या को सुलझाने में व्यस्त हैं—यह समस्या कि वे अपने छात्रों को उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए कैसे तैयार करें जो शिक्षा-अधिकारियों ने अपनी अज्ञेय बुद्धि द्वारा निर्धारित की हैं। आम तौर पर, जिस चीज से भी इस उद्देश्य की पूर्ति में सहारा मिलता है उसका स्वागत किया जाता है तथा उसे प्रोत्साहन दिया जाता है; जिस चीज का इस उद्देश्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता उसको या तो सक्रिय रूप से दबाया जाता है या उसे बेतुकी बात समझकर तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। कभी-कभी बच्चे की प्रकृति की स्वाभाविक आकांक्षाओं की बदौलत स्कूल की छोटी-सी दुनिया में भी सामाजिक जीवन तथा सामाजिक गतिविधियों का प्रादुर्भाव होता है। उदाहरण के लिए, कई स्कूलों में खेल-कूद का बहुत चलन हो गया है। परन्तु बहुधा खेल-कूद को स्कूल के नियमित काम के क्षेत्र से बाहर की चीज समझा जाता है और दकियानूसी ढंग के अध्यापक न तो उसका स्वागत करते हैं और न ही सामान्य शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करते हैं। उनकी संकुचित दृष्टि औपचारिक, विद्योपार्जन-सम्बन्धी आवश्यकताओं से आगे नहीं जाती। इस दृष्टिकोण के विपरीत नया स्कूल इस बात का प्रयत्न करता है कि वह "अपने छात्रों में नये जीवन का संचार करे और भरपूर मात्रा में संचार करे।" उसमें विद्योपार्जन को निश्चय ही अपना उचित स्थान प्राप्त रहेगा, परन्तु मुख्यतः बच्चे के जीवन तथा उसकी रुचियों को अधिक समृद्ध बनाने के एक साधन के रूप में ही, अर्थात् उसे भरपूर, सुखी तथा क्रियाशील जीवन के उद्देश्यों के अधीन कर दिया जायगा। यह मार्ग स्पष्टतः उस दृष्टिकोण से बुनियादी तौर पर अलग है जिसमें शिक्षा की व्याख्या इस रूप में की गई है कि वह प्रौढ़ व्यक्ति के रूप में बच्चे के भावी जीवन की तैयारी होती है, और इसी भावी जीवन के तकाजों की वेदी पर उसके वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं तथा हितों को बलि चढ़ा दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत नये स्कूल का सिद्धान्त यह है कि बच्चों को अपने स्कूल के जीवन में ही सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए जो उनके लिए स्वभावतः बहुत बहुमूल्य तथा हर्षप्रद होता है, और ऐसा करते समय उन्हें क्रियाशीलता, सहयोग तथा आत्म-अभिव्यक्ति की अपनी समस्त स्वस्थ तथा प्राकृतिक शक्तियों का विभिन्न प्रकार से उपयोग करना चाहिए। विषयों का ज्ञान प्राप्त करने और ज्ञानोपार्जन के प्राविधिक साधनों के उपयोग में निपुणता प्राप्त करने

को गौण स्थान दिया जाना चाहिए जो उनका उचित स्थान है; उन्हें नित्य-प्रति विस्तृत होते हुए जीवन की गतिविधियों में सहायता प्रदान करने वाले साधन समझा जाना चाहिए जो विद्यार्थी के दृष्टिक्षेत्र तथा उसकी रुचियों तथा उसकी नियंत्रण-शक्ति को व्यापक बनाने के लिए आवश्यक होते हैं। उन्हें स्वतः कोई लक्ष्य मानकर प्राप्त नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि दूसरों के साथ मिलकर ऐसे काम करने के दौरान में जो उन्हें स्वयं अच्छे लगते हैं उन्हें यह ज्ञान तथा निपुणता प्राप्त हो जाय। भविष्य पर जोर न देकर वर्तमान पर जोर देने के लिए, प्रौढ़ावस्था की आवश्यकताओं तथा अभीष्टों पर जोर न देकर बाल्यावस्था की आवश्यकताओं तथा अभीष्टों पर जोर देने के लिए एक पूरी शैक्षणिक क्रान्ति की जरूरत है। पहले से इस बात की योजनाएँ बना लेने के बजाय कि बच्चा आगे चलकर क्या बनेगा और क्या करेगा और उसे कौन-कौनसे ज्ञान तथा कौशल सिखाए जायँगे—अर्थात् उसे पहले से तैयार किये गए एक साँचे में ढालने के बजाय—स्कूल को यह समझना चाहिए कि हर बच्चा एक अनोखा और स्फूर्तिमय व्यक्ति होता है जिससे हमें स्वयं उसके भविष्य के बारे में परामर्श करना चाहिए और उसे इस बात का मौका दिया जाना चाहिए कि वह युक्तिपूर्ण तथा सहानुभूतिमय मार्गदर्शन में अपने विकास का मार्ग स्वयं निर्धारित करे। नहीं तो यह हो सकता है कि वह सभी बाह्य प्रतिबन्धों को ठुकरा दे और उसके विकास को प्रोत्साहन देने के लिए जो उपाय किये जायँ उनका वह विरोध करे। इसीलिए नये स्कूल के अध्यापकों के लिए इस बात की आवश्यकता है कि वे ध्यानपूर्वक बच्चे के विकास की अवस्थाओं का, उसकी रुचि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाओं का और इनमें से प्रत्येक से सम्बन्धित क्रिया-कलापों तथा लाक्षणिकताओं का अध्ययन करें। इन बातों की जानकारी के बिना और इन बातों के प्रति सजग रहे बिना इस बात का खतरा है कि वे अपने स्कूल की शिक्षा का निर्माण खोखली नींव पर करेंगे।

स्कूल का जो चित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है उसके समर्थन में मैं शिक्षण-क्षेत्र के दो अधिकारी व्यक्तियों का मत उद्धृत करूँगा; इनमें से एक अंग्रेज हैं और एक अमरीकी, और दोनों ही ने शिक्षा-सम्बन्धी आधुनिक विचार तथा व्यवहार पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। डाक्टर नन ने, जो लंदन विश्व-विद्यालय में शिक्षा-शास्त्र के प्रोफेसर थे, स्पष्ट रूप से कहा है:

> "स्कूल की कल्पना मुख्यतः ज्ञानोपार्जन के एक ऐसे स्थान के रूप में नहीं की जानी चाहिए जहाँ ज्ञान की कुछ बातें सिखायी जाती हैं, बल्कि उसकी कल्पना एक ऐसे स्थान के रूप में की जानी चाहिए जहाँ बच्चों को

कुछ प्रकार के कामों द्वारा अनुशासन का अभ्यास कराया जाता है, अर्थात् ऐसे कामों द्वारा जो व्यापक जगत् में सबसे अधिक तथा सबसे स्थायी महत्त्व रखते हैं।"[१]

अमरीका के प्रमुख शिक्षा-दार्शनिक प्रोफेसर ड्यूई ने अपनी रचनाओं में अपनी कल्पना के अनुरूप स्कूल का पूर्ण तथा सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि सामाजिक जीवन के साथ उसका सतत तथा गतिवान सम्पर्क रहता है।[२] उनकी दृष्टि में स्कूल एक 'विशेष वातावरण' होता है जहाँ बच्चे के विकास को वांछनीय दिशाओं में निर्देशित करने के उद्देश्य से एक विशेष कोटि के जीवन और कुछ विशेष प्रकार की गतिविधियों तथा कार्य-कलापों की व्यवस्था की जाती है। उन्होंने स्कूल के इस वातावरण की तीन लाक्षणिक विशेषताएँ बताई हैं जिनका उल्लेख कर देना उपयोगी होगा। पहली लाक्षणिक विशेषता यह है कि वह एक ऐसा सरलीकृत वातावरण प्रस्तुत करता है जिसमें जटिल तथा पेचीदा आधुनिक जीवन में से ऐसे तत्त्वों को चुन लिया जाता है जो स्थायी तथा बुनियादी महत्त्व के होते हैं और इतने काफी सुबोध तथा रोचक होते हैं कि बच्चे में उनके प्रति उत्साह जाग्रत हो सके। सभ्य जीवन का पोषण करने वाली समस्त गतिविधियों तथा संस्थाओं में से—व्यापार, राजनीति, कला, विज्ञान, साहित्य, धर्म, इत्यादि में से—सरल तथा बुनियादी चीजों को चुनकर स्कूल उन्हें बच्चों के सामने सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे वे देखने में अस्त-व्यस्त प्रतीत होने वाले अपने जगत् का वास्तविक अर्थ समझने लगते हैं।

स्कूल के वातावरण का दूसरा काम यह है कि बाहर के सामाजिक जीवन में जो कुछ कुरूप या अनुपयुक्त हो उसे वह अलग हटा दे और केवल उन चीजों को प्रतिबिम्बित करे जो मूल्यवान तथा शिक्षाप्रद हैं, ताकि वह बच्चे के लिए उस श्रेष्ठतर तथा स्वच्छतर समाज का प्रतिरूप बन जाय जो भविष्य में हमारे सामने आने वाला है। अतीत की उन तमाम चीजों का बहिष्कार करके जो तुच्छ या दूषित हैं या जो हमारे लिए केवल एक बोझ बनी हुई हैं, और बच्चे को कार्य का एक शुद्ध तथा चुना हुआ माध्यम प्रदान करके स्कूल प्रगति तथा बेहतर जीवन का केन्द्र बन सकता है। इस प्रकार वह अपने में बाहर की दुनिया को प्रतिबिम्बित तो करेगा पर ऊटपटाँग या विवेकहीन ढंग से नहीं; वह उन कुत्सित उद्देश्यों तथा लक्ष्यों और दूषित सामाजिक सम्बन्धों को प्रचलित

१. एजुकेशन—इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल्स।

२. डेमोक्रेसी ऐण्ड एजुकेशन।

नहीं करेगा जो प्रौढ़ समाज को भ्रष्ट तथा विकृत कर देते हैं।

तीसरे, स्कूल को यह काम करना चाहिए कि वह सामाजिक वातावरण के विभिन्न उपादानों तथा तत्त्वों के बीच संतुलन स्थापित करे, व्यक्तियों तथा समूहों के बीच बहुमूल्य तथा वैविध्यपूर्ण सम्पर्क स्थापित करे और बच्चे की रुचियों तथा निष्ठाओं को समन्वित करे, जिन पर कई दिशाओं से, और परस्पर विरोधी दिशाओं से, प्रभाव पड़ता रहता है। आधुनिक जीवन बच्चों से जिन विभिन्न बातों का तकाजा करता है उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने तथा उन्हें एक क्रम-सोपान में व्यवस्थित करने का कर्तव्य यदि स्कूलों ने अपने कन्धों पर न लिया तो ये बच्चे आगे चलकर न तो अपने व्यक्तित्व को एकाकार बना सकेंगे न अपने चरित्र को स्थायित्व ही प्रदान कर सकेंगे।

इस प्रकार नये स्कूल का रूप हमारे सामने प्रकट होने लगा है, भले ही वह अभी कुछ धुँधला है और केवल एक रूप-रेखा मात्र है। स्कूल निष्प्राण ज्ञानोपार्जन का नहीं बल्कि स्फूर्तिमय जीवन का केंद्र होता है; वह स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों के लिए विविध प्रकार की गतिविधियों की व्यवस्था करता है और जीवन की परिपूर्णता तथा उल्लास को केवल किताबी ज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त की गई सफलताओं से अधिक महत्त्व देता है; उसका चारों ओर के जीवन की वास्तविकताओं से प्रत्यक्ष तथा गहरा सम्पर्क रहता है, और वह उस जीवन की उन श्रेष्ठतम तथा सबसे उपयोगी विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करता है जो इतनी सरल हों कि बच्चे को उनके प्रति रुचि हो सके; और अपनी गतिविधियों के उचित संगठन तथा मूल्यांकन द्वारा वह बच्चे के व्यक्तित्व को दृष्टिकोण की एकता तथा निष्ठाओं का सामंजस्य प्रदान करता है।

स्कूल की इस कल्पना के अनुकूल हमें बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखते हुए अपने अध्यापन के प्रतिदिन के तरीकों का नये सिरे से संगठन करना है। बच्चे की स्वाभाविक रुचियों तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उसे स्वाभाविक रूप से तथा जन्मतः कुछ करने, विभिन्न प्रकार के कामों में हाथ डालने और स्वयं अपने अस्पष्ट विचारों तथा योजनाओं को क्रियान्वित करने में दिलचस्पी होती है। रचनात्मक कार्यों द्वारा और उन्हीं से सम्बन्धित 'विध्वंस' के कार्य द्वारा, जिस पर बड़ों को इतनी झुँझलाहट होती है, बच्चा अपने आपको व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। 'शारीरिक क्रिया' तथा 'मानसिक क्रिया' (ये नाम थार्नडाइक के दिये हुए हैं) की दो सामान्य प्रवृत्तियाँ बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के दौरान में एक-दूसरे के निकट सहयोग में काम करती रहती हैं। शुरू-शुरू के वर्षों में पहले वाली प्रवृत्ति बाद वाली प्रवृत्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण

तथा बुनियादी होती है; कारण यह कि सोचने, किसी चीज की योजना बनाने और एक ही चीज के बारे में कई विचारों तथा योजनाओं को आजमाने के काम शारीरिक क्रिया के अधीन होते हैं और उसी के माध्यम से किये जाते हैं। ज्ञान निश्चित रूप से क्रिया की आवश्यकताओं के अधीन रहता है; यह तथ्य हमें इस बात की याद दिलाता है कि किस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान का विकास, मानव-जाति के अनुभव के दौरान में हुआ है। बच्चे की यह अवस्था अमूर्त विचारों तथा तर्कों की अवस्था नहीं होती क्योंकि उसे अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं तथा समस्याओं को हल करने के साधनों के रूप में उनकी जरूरत नहीं होती। इस प्रकार आरम्भ में एक अमूर्त संख्या के रूप में बच्चे की समझ में 'चार' का कोई अर्थ नहीं होता; उसकी समझ में तो उसका अर्थ होता है चार ईंटें, या चार कुर्सियाँ या चार बच्चे। बच्चे की सभी मानसिक कल्पनाओं में हम चीजों का यही साकार अर्थ देखते हैं; उसके दिमाग में विचारों का सम्बन्ध इस बात से होता है कि उन्हें वास्तविक समस्याओं तथा स्थितियों पर कैसे लागू किया जाता है। 'कर्तव्य-परायणता' या 'विनम्रता' जैसे गुण उसके लिए केवल इसी हद तक वास्तविक होते हैं कि वह अपने कुछ विशिष्ट कर्तव्यों को निभाते समय या अपने माता-पिता या साथियों या पालतू जानवरों के प्रति विनम्रता का व्यवहार करते समय उनको अनुभव करता है। यही बात उसकी स्कूल की पढ़ाई पर भी चरितार्थ होती है। किसी पुस्तक का अध्ययन या गणित की किसी समस्या को हल करने की निपुणता केवल उसी दशा में बच्चे के जीवन का अंग बन सकती है और उसकी क्षमता में वृद्धि कर सकती है जब उसका सम्बन्ध उसकी वर्तमान गति-विधियों तथा रुचियों या उन परिस्थियों से हो जो घर पर या खेल के मैदान में उसका ध्यान आकर्षित करती हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी पुस्तक या पत्रिका को पढ़ने से उसकी साहसपूर्ण कहानियाँ पढ़ने की प्यास बुझती है या उसे खेलने के लिए हवाई जहाज बनाने में सहायता मिलती है, या उसे अपने तितलियों के संग्रह के लिए कोई उपयोगी सुझाव मिलते हैं तो वह उस पुस्तक को सहर्ष स्वीकार करेगा और उसके पढ़ने में जो कठिनाइयाँ सामने आएँगी उन्हें दूर करने में अपने आप पूरी लगन से जुट जायगा। इस प्रकार ज्ञानोपार्जन उसके प्रतिदिन के जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होगा। इसी प्रकार यदि उसके गणित के पाठों का सम्बन्ध हिसाब लगाने की ऐसी समस्याओं से होगा जो उसके दैनिक जीवन में उठती रहती हैं। उदाहरण के लिए उनसे यदि उसे अपना बाग नापने, या घर की पुताई की लागत का हिसाब लगाने या घर के खर्च का हिसाब रखने में सहायता मिलेगी तो गणित के प्रति उसकी

रुचि तथा आकर्षण इतना तीव्र हो जायगा कि इस विषय के उकताये हुए अध्यापकों को भी आश्चर्य होगा। ऐसी 'निबन्ध-रचना' जिसमें उसे स्वयं अपनी गतिविधियों तथा अनुभवों को वर्णन करने का मौका मिले और उसे चीजों को ध्यान से देखने तथा अपनी कल्पना-शक्ति से काम लेने में प्रोत्साहन मिले, उसके लिए आत्माभिव्यक्ति का हर्षप्रद स्रोत बन जाती है; वह उसके लिए एक ऐसा उल्लास का विषय बन जाती है जिसका उल्लेख वह अपने साथियों से करता है और अपने उल्लास से उन्हें भी उल्लसित करता है। निबन्ध-रचना उसके लिए वाक्य-रचना की और व्याकरण की दुर्बोध तथा आसानी से न सुलझने वाली गुत्थियों को सुलझाने की नीरस तथा औपचारिक प्रशिक्षा मात्र नहीं रह जाती। स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले किसी भी अन्य विषय के प्रसंग में इस बात को और भी स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है, पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं।

इस सिलसिले में कट्टरपंथी अध्यापकों की ओर से यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ज्ञानोपार्जन का सम्बन्ध बहुत प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशीलता की आवश्यकताओं के साथ स्थापित करके, या उसे इन आवश्यकताओं के अधीन रखकर क्या आप ज्ञानोपार्जन की मर्यादा को गिरा नहीं रहे हैं। क्या इस प्रकार ज्ञानोपार्जन का महान् तथा उदात्त आदर्श बाल्यावस्था की हर सनक और झक और क्षणिक रुचि की वेदी पर बलि नहीं चढ़ जायगा? इस दृष्टिकोण के पीछे आर्थिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक संघर्षों का एक पूरा इतिहास है जिसकी छानबीन करना यहाँ पर संभव नहीं है। यह दृष्टिकोण अनेक ऐसे परस्पर-विरोधी विचारों पर आधारित है जो हमेशा से शिक्षण-दार्शनिकों तथा अन्य लोगों की विचार-धारा को प्रभावित करते रहे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान इस तर्क को सार्थक नहीं मानता। बच्चा बहुत कट्टर, निर्लज्ज और उत्साही परिणामवादी होता है। आप उसके सामने उच्चतम कोटि का ज्ञान, विद्या तथा सत्य रख दें परन्तु वह हमेशा किंचित् 'धृष्टतापूर्वक' यही सोचेगा कि इन सबका मेरे लिए क्या उपयोग है, इनसे मुझे अपनी योजनाओं तथा कामों को बेहतर ढंग से व्यवस्थित करने में क्या सहायता मिलती है। वह स्कूल का कोई भी काम उस समय तक जी लगाकर नहीं करेगा जब तक वह अपने दृष्टिकोण से उसकी उपयोगिता को न समझ ले, अर्थात् यह कि उस काम का स्वयं उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और उस काम से उसका जीवन कैसे समृद्ध बनता है। जब तक यह बात उसकी समझ में नहीं आ जाती तब तक वह अपनी पढ़ाई के प्रति उदासीन रहता है, या हद-से-हद आधे मन से ही अपनी पढ़ाई करता है। 'ज्ञान ज्ञान के हेतु' या 'कला कला के लिए' जैसे नारे उसे बिलकुल आकर्षित नहीं करते। इसलिए

व्यावहारिक कार्य के प्रति बच्चे की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा उसकी जन्मजात उपयोगपरायणता को हम उचित मानें या न मानें पर हमें अध्यापन को प्रभावशाली बनाने में सहायता देने वाले एक तत्त्व के रूप में विवश होकर उसका लाभ उठाना पड़ता है। परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से देखते हुए भी जीवन तथा उसके उदात्त ध्येयों को कला या विज्ञान की आवश्यकताओं के मुकाबले में प्रधानता देने पर कोई तर्कसंगत आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। 'ज्ञान-ज्ञान के हेतु' संकुचित मनोवृत्ति वाले उस कूपमण्डूक विद्वान् का नारा होता है जिसकी दृष्टि से मानो निरन्तर एक स्फटिक को देखते रहने के कारण विशाल सृष्टि ओझल हो गई हो। इसी प्रकार 'कला कला के लिए' पतनशील कलाकार का सिद्धान्त होता है। परन्तु कुछ हद तक तो अपने काम के स्वभाव में ही निहित शक्तियों के कारण और कुछ हद तक विद्वानों तथा पुस्तकीय ज्ञानोपार्जन के केन्द्रों की प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर अध्यापकगण इस दृष्टिकोण का शिकार हो गए हैं और उन्होंने इस दृष्टिकोण को बच्चों के विकासवान तथा विस्तृत होते हुए जीवन पर थोपने की कोशिश की है। उन्होंने बच्चों की शिक्षा के केन्द्रों को 'किताबी स्कूलों' में बदल दिया है, जहाँ हर उस चीज को जिसे ज्ञान माना जाता है, अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और अपने मन से काम करने को तथा आत्म-अभिव्यक्ति को, मौलिकता तथा सृजनात्मकता को, बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार बच्चे की मान्यताएँ आरम्भ से ही गलत दिशा में मुड़ जाती हैं। हर उपयोगी तथा सृजनात्मक काम को तिरस्कार की दृष्टि से देखने की उसकी आदत पड़ जाती है और वह ज्ञान के प्रतीकों के साथ अनमने भाव से खेलने की अपनी प्रवृत्ति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना सीख लेता है। शिक्षण-सम्बन्धी इस स्थिति का व्यंग्य यह है कि वह अपने तात्कालिक उद्देश्य को भी पूरा करने में सफल नहीं होती; स्कूलों से ऐसे विद्यार्थी नहीं निकलते जिनकी रुचि विद्वत्ता की ओर हो और जिनके पास विद्वत्ता प्राप्त करने के साधन हों। बाद में चलकर पता यही चलता है कि खोदा पहाड़ और निकली चुहिया, क्योंकि जीवन से असम्बद्ध ज्ञान बंजर तथा सतही रह जाता है। उसके प्रति न तो बच्चे में रुचि पैदा होती है और न ही वह बच्चे के जीवन तथा उसके कार्य-कलाप का अंग ही बन पाता है।

हमने अपने स्कूल की कल्पना जिस रूप में की है उसकी मुख्य लाक्षणिक विशेषताएँ फिर क्या होंगी? पहली बात तो यह कि पढ़ाई, विशेषतः छोटी कक्षाओं में, ऐसे 'व्यवसायों' के चारों ओर केन्द्रित होगी जो बच्चों के लिए उपयुक्त हों और जिनका सचमुच कुछ सामाजिक महत्त्व हो। इन कामों को

करते समय बच्चों तथा किशोर बालकों के सामने वास्तविक जीवन की स्थितियाँ तथा समस्याएँ आएँगी जिनके बारे में उन्हें सोचना पड़ेगा तथा उनकी ओर उन्हें ध्यान देना पड़ेगा। इन्हें हल करने के लिए उन्हें विविध प्रकार के ज्ञान तथा कई लोगों की सहायता की आवश्यकता होगी—अपने माता-पिता, अध्यापकों तथा मित्रों की। केवल इसी बात के फलस्वरूप कि बच्चे स्वयं कुछ गणित, या भूगोल या भौतिकी सीखने की आवश्यकता को अनुभव करेंगे, इस प्रकार के काम की तरफ उनका रवैया बदल जायगा। वे हर्षपूर्वक उस काम को पूरा जी लगाकर करेंगे और अपने आप करने का सबक सीखेंगे। इस प्रकार वे सही भावना के साथ अपने उद्देश्यों की पूर्ति की आवश्यकताओं के अनुसार ज्ञान की उपयोगी बातों को चुन लेने का साहसपूर्ण जीवन आरम्भ करेंगे, परन्तु शुरू-शुरू में उन्हें इस बात की तनिक भी चिन्ता न होगी कि उन बातों का औपचारिक नाम क्या है, अर्थात्, उनके लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि तथ्यों तथा विचारों के किसी समूह-विशेष का सम्बन्ध इतिहास से है या भूगोल से या विज्ञान से। बाद में जब उनका ज्ञान तथा अनुभव बढ़ेगा तभी जाकर उन्हें इस बात की आवश्यकता होगी कि ज्ञान को अलग-अलग विषयों में बाँट दिया जाय और हर विषय को अलग एक नाम दे दिया जाय। सतर्क तथा जागरूक अध्यापक बच्चे द्वारा अपने जीवन में, यदा-कदा देश-भ्रमण के दौरान में, ऐतिहासिक या भौगोलिक महत्त्व के स्थानों की यात्रा के दौरान में, बागवानी, हस्तशिल्प तथा खेल-कूद से सम्बन्धित अपनी गतिविधियों के दौरान में प्राप्त किये गए समस्त उपयोगी ज्ञान तथा मनोवृत्तियों को होशियारी के साथ तथा बहुत दिखावा किये बिना समन्वित करने और स्वस्थ तथा फलप्रद दिशाओं में निर्देशित करने की चेष्टा करेंगे। वे भूगोल, इतिहास, भौतिकी, वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि के समस्त भावी अध्ययन का आधार इसी चीज को बनाएँगे, परन्तु साथ ही इस बात का भी ध्यान रखेंगे कि इन विषयों को जीवन की उन गतिविधियों से अलग करके न देखा जाय जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है। इन विषयों का अध्यापन उनके उपयुक्त व्यावहारिक कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए किया जाना चाहिए। इस प्रकार उदाहरण के लिए, भूगोल पढ़ाने के लिए बच्चों को अनेक बार सैर कराने के लिए ले जाना पड़ेगा। भौगोलिक घटनाओं के अवलोकन के लिए भी उन्हें बाहर ले जाना पड़ेगा। इसके लिए एक भौगोलिक संग्रहालय की भी आवश्यकता होगी जिसमें विभिन्न प्रकार के पौधों, फसलों और कारखानों की बनी हुई चीजें, तथा पत्थरों के नमूने हों और दुनिया के विभिन्न प्राकृतिक क्षेत्रों के जो पेड़-पौधे तथा पशु-पक्षी मिल सकें वे भी वहाँ

रखे जायँ। इसी प्रकार वनस्पति-शास्त्र की शिक्षा देते समय बागवानी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखा जायगा और सजीव प्राकृतिक घटनाओं का अवलोकन किया जायगा तथा उनके साथ विद्यार्थी का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जायगा। विशेषज्ञ अध्यापक विस्तारपूर्वक प्रविधियाँ निर्धारित करेंगे, परन्तु यदि शिक्षा का उद्देश्य कवि की प्रार्थना के अनुसार :

हममें अधिक ज्ञान उत्पन्न हो
और हमारे मन में अधिक श्रद्धा हो

ज्ञान तथा श्रद्धा दोनों ही उत्पन्न करना है तो हमारी शिक्षण-प्रणाली को विद्योपार्जन तथा जीवन के बीच सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए और हमारे अन्दर जीवन के सभी रूपों तथा गतिविधियों के प्रति एक विवेकपूर्ण रुचि उत्पन्न करना चाहिए।

हमारे 'सक्रिय स्कूल' में पढ़ाये जाने वाले अन्य विषयों के पुनर्गठन के लिए भी इसी प्रकार के सुझाव रखे जा सकते हैं; इन सिद्धान्तों पर काम करने वाले नये स्कूलों को बहुत से यूरोपीय तथा अमरीकी लेखक 'सक्रिय स्कूल' ही कहते हैं। भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र तथा जीव-विज्ञान जैसे विषय, जिनका व्यावहारिक उपयोग है, मुख्यतः कार्यशालाओं (वर्कशाप) में और यंत्रादि से पूर्णतः सज्जित प्रयोगशालाओं में पढ़ाए जायँगे, आजकल की गुड़ियाघरों जैसी प्रयोगशालाओं में नहीं जहाँ बच्चे दो-चार टेस्ट-ट्यूब लेकर खिलवाड़ करते रहते हैं और केवल इतना सीखते हैं कि द्रव पदार्थों का रंग कैसे बदला जाता है। ये स्कूल यथा-सम्भव सचमुच की कार्यशालाओं तथा प्रयोगशालाओं में काम करने की वास्तविक परिस्थितियों को उसी रूप में उत्पन्न करने की कोशिश करेंगे और इस प्रकार किशोरवयस्क विद्यार्थी को वास्तविकता के साथ वह सम्पर्क प्रदान करेंगे जिसके लिए वह इस अवस्था में लालायित रहता है।

इस प्रकार की योजना पर स्पष्टतः खर्च बहुत आएगा; इस आपत्ति का विरोध करने से कोई लाभ नहीं; परन्तु जब तक हम शिक्षा पर पैसा खर्च करने को तैयार नहीं होंगे तब तक हमें 'सस्ती' शिक्षा के अलावा और कुछ नहीं मिल सकता। आधुनिक जीवन की परिस्थितियों में और जिस प्रकार की शिक्षा अपेक्षित है उसे देखते हुए हम एक बीते हुए युग की शिक्षा-सम्बन्धी सजा से सन्तुष्ट नहीं हो सकते जब शिक्षा प्रदान करने के लिए किसी विशद अथवा बहुत महँगी साज-सजा की आवश्यकता नहीं थी। मुख्यतः पुस्तकों पर आधारित तथा सैद्धान्तिक होने के कारण यह शिक्षा परोपकार की भावना रखने वाले विद्वान् हद-

से-हद कुछ पुस्तकों या पाण्डुलिपियों की सहायता से उन लोगों को प्रदान कर सकते थे जो ज्ञान की खोज में उनके पास आते थे। आधुनिक शिक्षा सचमुच प्रभावपूर्ण तभी हो सकती है जब स्कूलों में उन सभी चीजों की व्यवस्था करने के लिए पैसा खर्च किया जाय जिनसे बच्चों की क्रियाशीलता तथा आत्माभिव्यक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अन्य देशों ने धन की समस्या को हल कर लिया है और इस दिशा में काफी प्रगति की है; हम हमेशा के लिए इस बहाने की आड़ नहीं ले सकते कि हमारे पास धन का अभाव है।

पिछले कुछ वर्षों में, विशेष रूप से पहले विश्व-युद्ध के बाद से, ऐसी शिक्षा-संस्थाओं के उत्साहवर्द्धक विवरण प्रकाशित हुए हैं जिन्होंने नये मार्ग प्रशस्त किये हैं। यहाँ पर मैं इस प्रकार के दो विवरणों का उल्लेख करूँगा—एक है इंगलैण्ड के आउण्डल नामक स्थान में एक पब्लिक स्कूल का और दूसरा है बेल्जियम के बियर्जेस नामक स्थान में एक 'नये स्कूल' का। आउण्डल स्कूल का यह सौभाग्य रहा कि उसे इस शताब्दी की प्रथम दशाब्दियों में मिस्टर सैण्डरसन नामक हेडमास्टर की सेवाएँ उपलब्ध रहीं जो असाधारण कल्पना-शक्ति तथा प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति रखते थे। उन्हें इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इस स्कूल में एक पूर्णतः नयी भावना का संचार किया। इससे पहले यह स्कूल भी इङ्गलैंड के अन्य पब्लिक स्कूलों की मध्ययुगीन परम्पराओं के अनुसार चलाया जाता था। उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई को बिल्कुल नये सिरे से संगठित किया और उसे न केवल अधिक यथार्थतापूर्ण तथा व्यावहारिक बना दिया बल्कि सांस्कृतिक शिक्षा के उद्देश्यों के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित किया। उन्होंने स्कूल में समस्त आवश्यक सामग्री से युक्त प्रयोगशालाओं तथा कार्यशालाओं की स्थापना की, सृजनात्मक, रचनात्मक तथा व्यक्तिगत कार्य को प्रोत्साहन दिया और अपने निजी उत्साह तथा प्रेरणाप्रद अध्यापन द्वारा लड़कों को इस बात का प्रोत्साहन दिया कि वे सहकारी योजनाओं को पूरा करने का बीड़ा उठाएँ। उन्होंने स्कूल के 'आधुनिक पहलू' को इतना बल प्रदान किया कि उसकी काया ही पलट गई। उन्होंने विषयों के कठोर सीमाओं में जकड़े हुए विभाजन को खत्म कर दिया और हर पाठ का सम्बन्ध बच्चों के हितों और मानव-जीवन के अधिक व्यापक उद्देश्यों के साथ जोड़ दिया। इन प्रयोगों का अत्यन्त रोचक विवरण उनके साथियों द्वारा संकलित 'सैण्डरसन आफ आउण्डल' नामक स्मृति-ग्रन्थ में मिलता है। उनके विचारों का बहुत अच्छा और रोचक विवरण एच० जी० वेल्स की पुस्तक 'द स्टोरी आफ ए ग्रेट स्कूल मास्टर' में मिलता है। स्वयं एच० जी० वेल्स को छोड़कर सैण्डरसन ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने

वेल्स को किसी की जीवनी लिखने की प्रेरणा प्रदान की। बेल्जियम के स्कूल की योजना, संगठन तथा उसके आधारभूत विचारों का विवरण उसके संस्थापक वैसकांसेलोज़ ने एक पुस्तक में दिया है जिसका अनुवाद अंग्रेजी में 'ए न्यू स्कूल इन बेल्जियम' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार नयी शिक्षा के सिद्धांत शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक शिक्षा की ठोस समस्याओं पर लागू किये गए और किस प्रकार अपने आप काम करने और समूह में मिल-जुलकर काम करने के दोहरे सिद्धांत को स्कूल के सारे काम का आधार बनाया गया। पहले विश्वयुद्ध के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के फलस्वरूप यह स्कूल तो ठप हो गया परन्तु यहाँ पर इस स्कूल के छोटे-से जीवन में जिन विचारों तथा प्रणालियों को व्यवहार में परखा गया था वे स्थायी महत्त्व के हैं और उन्हें कुछ परिवर्तनों के साथ अनेक प्रगतिशील स्कूलों में आजमाया जा रहा है।

हमारे अध्यापकों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे स्कूलों की कार्य-प्रणाली का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, इस बात का पता लगाएँ कि इन स्कूलों के विचार हमारी परिस्थितियों में किस हद तक व्यवहार में आ सकते हैं और फिर वे अपने चारों ओर की निरुत्साह करने वाली परिस्थितियों से (यथासंभव) विचलित हुए बिना उन विचारों को क्रियान्वित करने की दिशा में अग्रसर हों। वे देखेंगे कि इस प्रकार के सभी स्कूलों में विद्योपार्जन को एक सक्रिय प्रक्रिया बना दिया गया है; उपयुक्त सामग्री की व्यवस्था करके तथा ऐसे कामों के लिए सुविधा प्रदान करके जिनके प्रति बच्चों में अपने आप रुचि पैदा हो और जिनके द्वारा वे रचनात्मक कार्यों में संलग्न रह सकें, स्वयं छात्रों की क्रियाशीलता को जागृत किया जाता है। इसके लिए जरूरत इस बात की है कि विभिन्न प्रकार की दस्तकारी, शिल्प तथा 'अभिव्यक्तिमूलक कार्य' शिक्षण-प्रक्रिया के मूलभूत तत्त्व माने जायँ। दस्तकारी को अध्ययन का अलग एक 'विषय' न मानकर विद्योपार्जन के प्रति एक रवैया या शिक्षण-प्रक्रिया का केन्द्र माना जाना चाहिए, जिसका उद्देश्य यह हो कि विद्यार्थी पाठ्यक्रम के सभी विषयों को बेहतर ढंग से समझ सकें। महान् जर्मन शिक्षा-सुधारक जार्ज कर्शेन्सटाइनर के मतानुसार समस्त वास्तविक शिक्षा तथा संस्कृति का आधार ऐसे उत्पादनशील कार्य को बनाया जाना चाहिए जो सहयोग की भावना के साथ तथा रुचिपूर्वक किया जाय, न कि छपी हुई पुस्तक को, जिसे अब तक अध्यापकों तथा छात्रों के विचार में सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त रहा है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, गांधीजी की बुनियादी शिक्षा की योजना का आधारभूत विचार भी यही है, हालांकि उन्होंने अपनी योजना का

सूत्रपात्र एक बिलकुल ही दूसरी बात से किया था और अपने विचारों को किसी शिक्षण-सम्बन्धी सिद्धान्त पर नहीं बल्कि देश की आवश्यकताओं के विवेकपूर्ण निजी अध्ययन पर आधारित किया था। स्कूलों में लागू करने के लिए उत्पादन-शील कार्य के उपयुक्त रूपों को चुनते समय हमारा मार्गदर्शक सिद्धांत यह होना चाहिए कि उनके माध्यम से विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों तथा कार्यों को उनके मौलिक रूप में प्रस्तुत किया जा सके ताकि बच्चे एक ऐसे वातावरण के प्रसंग में ज्ञान प्राप्त कर सकें जो उनके भावी जीवन के वातावरण से मिलता-जुलता हो।

हमारे भावी स्कूल की एक और लाक्षणिक विशेषता है जिसका उल्लेख किये बिना यह रूपरेखा पूरी नहीं होगी। वह बच्चे की स्वतन्त्रता को सर्वोपरि महत्त्व देता है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की कोशिश करता है जो स्वतःस्फूर्ति विकास के लिए अनुकूल हों। बच्चा एक स्वायत्त व्यवस्था की तरह होता है, अर्थात् उसके विकास की सारी प्रेरक शक्तियाँ उसके अन्दर ही मौजूद रहती हैं। अध्यापक बुनियादी तौर पर न तो उसके विकास की रफ्तार को बदल सकता है न उसके विकास की दिशा को। यदि वह लगातार कोशिश करने पर ऐसा करने में सफल हो जाय, तो वह उसके विकास को या तो अवरुद्ध कर देगा या उसे विकृत कर देगा। नयी शिक्षा की पद्धति में उसके काम की व्याख्या यह की गई है कि वह विवेकपूर्वक 'प्रकृति का अनुसरण' करे, बच्चे के वातावरण में ऐसी गतिविधियों, कामों तथा प्रोत्साहन देने वाले तत्त्वों की व्यवस्था करे जिनसे उसकी शक्ति के प्राकृतिक स्रोत उन्मुक्त तथा पोषित हों। उसका काम यह है कि वह बच्चे के मार्ग से भौतिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार की अनावश्यक बाधाओं को दूर करे; और उन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करे जो स्वस्थ तथा उपयोगी हों। परन्तु विकास की मूलभूत प्रक्रिया स्वयं बच्चे के भीतर से ही निर्देशित होनी चाहिए। वैयक्तिकता (अर्थात् स्वायत्त-भाव) के इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पहलू अनेक हैं और इससे पहले के पृष्ठों में उनका उल्लेख किया जा चुका है। यह सिद्धान्त दमनकारी नहीं बल्कि स्वतन्त्र अनु-शासन-पद्धति को मानता है और स्कूल में किसी उचित रूप में आत्म-शासन के पक्ष में है। शिक्षण-विधियों और विषयों के वर्गीकरण में अनमनीयता, सबके लिए सफलता के एक ही मानदंड-निर्धारण और यंत्रवत् अनुशासन इस सिद्धान्त के अन्तर्गत हानिकारक और बच्चे के विकास की स्वतन्त्रता में अवांछनीय हस्तक्षेप समझे जाते हैं। यदि बच्चे को स्कूल में और स्कूल के बाहर सफल आत्माभिव्यक्ति की चेष्टा करनी है तो स्पष्ट है उसकी शक्तियों को

अनुशासित करना होगा। परन्तु यह अनुशासन अधिकाधिक स्वयं उसके भीतर से एक संयम के रूप में उत्पन्न होना चाहिए, जिसकी प्रेरणा उसे सामाजिक दायित्वों तथा उन परिस्थितियों को समझ लेने के फलस्वरूप मिले जो किसी स्थिति-विशेष में फलप्रद कार्य के लिए आवश्यक होती हैं। केवल ऐसे वातावरण में ही, जिसमें नमनीयता, वैविध्य और वैयक्तिक रुचियों के अनुसार अपने को परिस्थिति के अनुकूल ढाल लेने की गुंजाइश हो, स्पष्टतः अलग-अलग मानसिक कोटियों के बच्चों के विशिष्ट वैयक्तिक गुणों को फलप्रद बनाया जा सकता है।

३

स्कूल एक सृजनात्मक वातावरण है

स्कूलों के वर्तमान वातावरण का बच्चे के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? हम देख चुके हैं कि इस वातावरण को इस ढंग से नहीं आयोजित किया गया है कि वह बच्चे की रुचियों को समझ सके और उन्हें अपनी शक्ति का उपयोग करने के लिए उपयुक्त माध्यम प्रदान कर सके, क्योंकि वह आवश्यकता से अधिक औपचारिक तथा किताबी रहा है और अब भी है; उसके अन्तर्गत ज्ञानोपार्जन के प्रतीकों तथा साधनों के महत्त्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर स्थान दिया जाता है और क्रियाशीलता तथा आत्माभिव्यक्ति की दिशा में बच्चे की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की उपेक्षा की जाती है। उसका प्रतिदिन के काम का ढर्रा इतनी सख्ती से बँधा हुआ होता है कि बच्चा उसकी ओर बिलकुल भी आकर्षित नहीं होता। बच्चों की शारीरिक क्रियाशीलता की, उनके सृजनात्मक तथा सामाजिक आवेगों की, उनकी कुछ करने की, किसी चीज का निर्माण करने की, अपने चारों ओर की चीजों को लेकर कोई नया प्रयोग करने की इच्छा का जो दमन किया जाता है उसके विरुद्ध उनकी प्रत्येक सहज प्रवृत्ति पुकार-पुकारकर दुहाई देती है। शिक्षकों के सामने समस्या यह है कि स्कूलों के काम का पुनर्गठन कुछ इस ढंग से किया जाय कि उनके प्रति बच्चों का रवैया बिलकुल बदल जाय और उनकी अदम्य स्फूर्ति तथा उत्साह को स्कूल के काम में लगाया जा सके। यह समस्या कुछ हद तक तो इस बात की है कि स्कूलों में पढ़ाये जानेवाले आम विषयों का अध्यापन कुछ बदला जाय, उनकी विषय-वस्तु को अधिक समृद्ध बनाया जाय, बच्चे के जीवन तथा वातावरण के साथ इन विषयों का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाय ताकि वह स्कूल के कामों को अधिक महत्त्वपूर्ण तथा 'करने योग्य' समझ सकें। समस्या के इस पहलू पर मैंने पिछले अध्याय में चर्चा की थी जहाँ पर मैंने स्कूल को एक ऐसे सक्रिय वातावरण में परिवर्तित कर देने की आवश्यकता बतायी थी, जिसमें 'मधुमक्खी

के छत्ते की तरह उपयोगी तथा सृजनात्मक कार्य की हरदम चहल-पहल रहे।'
इस समस्या के दूसरे पहलू का सम्बन्ध स्कूल के जीवन तथा कार्य में उन क्रियाकलापों तथा व्यवसायों का समावेश करके, उसे अधिक समृद्ध बनाने की चेष्टा के साथ है, जिन्हें पाठ्यचर्या से बाहर के या पाठ्यचर्या के साथ-साथ चलने वाले क्रियाकलाप तथा व्यवसाय कहा जाता है और जो स्कूलों की परम्परागत पाठ्यचर्या का अभिन्न अंग भले ही न हों तो भी उचित परिस्थितियों में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक शिक्षा के बहुमूल्य साधन बन सकते हैं। ये क्रियाकलाप तथा व्यवसाय स्वाभाविक रूप से स्कूल के प्रतिदिन के काम के दौरान में उत्पन्न होने वाली रुचियों तथा उन दूसरे कामों के फलस्वरूप प्रकट हो सकते हैं जिनमें बच्चे व्यस्त रहते हैं या फिर किसी हृदयग्राही अभिरुचि के प्रति किसी अध्यापक या अपेक्षतः पुराने छात्र के संक्रामक उत्साह के फलस्वरूप अस्तित्व में आ सकते हैं। स्वतःस्फूर्त तथा स्वतन्त्रता के वातावरण में सम्पन्न होने पर ये रुचियाँ अलग-अलग हर बच्चे की रुचि के अनुसार और विकसित होंगी और आगे चलकर बच्चे को अपनी संगठन करने की शक्ति, सूझ-बूझ तथा अपने-आप किसी काम का बीड़ा उठाने की क्षमता से काम लेना पड़ेगा जो उसके लिए कष्टसाध्य तो अवश्य होगा पर साथ ही शिक्षाप्रद भी होगा। स्कूलों में जो काम का आम ढर्रा होता है उसमें इन क्षमताओं का उपयोग करने की काफी गुंजाइश नहीं होती—पर होनी चाहिए! क्योंकि यदि स्कूलों की आम पढ़ाई को इस समय की तुलना में बेहतर ढंग से संगठित भी कर दिया जाय तब भी उसमें बहुत-सी ऐसी औपचारिक विषय-वस्तुएँ रहेंगी—व्याकरण, कौशल-सम्बन्धी विषयों की प्रविधि, इतिहास तथा भूगोल के तथ्य—जिन पर बच्चे को अपनी कुछ मानसिक शक्तियाँ तो खर्च करनी पड़ेंगी पर जिनके प्रसंग में उसकी कुछ अन्य बुनियादी तथा सृजनात्मक क्षमताओं का कोई उपयोग नहीं हो सकेगा। बच्चे के स्वभाव के इसी पहलू को ध्यान में रखते हुए स्कूल के क्रियाकलापों के क्षेत्र को इस प्रकार विस्तृत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं कि उसमें बच्चा अपने अवकाश के समय के कार्य भी कर सके ताकि उसकी बढ़ती हुई विविध शक्तियों तथा क्षमताओं का उपयोग हो सके और स्कूल के सुनियोजित वातावरण में उसके विकास को समन्वित किया जा सके। जब स्कूल के कार्य-क्षेत्र को इतना व्यापक बना दिया जायगा तब वह बच्चे के पूरे जीवन पर अपना प्रभाव डालेगा और उसे काम तथा खेल-कूद, सैद्धान्तिक अध्ययन तथा व्यावहारिक कार्यों, वैयक्तिक रुचियों तथा सामूहिक क्रियाकलाप का अवसर प्रदान करेगा। इससे संघर्ष की उस भावना अथवा मन न लगने के

उस दोष को दूर करने में सहायता मिलेगी, जो हर उस बच्चे की प्रगति की राह में बाधक होता है जिसका घर पर या खेल के मैदान में एक रवैया तथा व्यक्तित्व होता है—सक्रिय, गतिवान और अपने ढंग से सृजनात्मक—और स्कूल में बिल्कुल ही दूसरा रवैया तथा व्यक्तित्व होता है जहाँ वह बिना किसी रुचि या उत्साह के एक मशीन की तरह हर चीज को निष्क्रिय ढंग से ग्रहण करता जाता है। घर को स्कूल से, काम को अवकाश से और पढ़ाई को खेल से अलग करने वाली जो अभेद्य तथा अस्वाभाविक सीमाएँ खड़ी कर दी गयी हैं उन्हें खत्म करके और बच्चे के पूरे जीवन को अपने क्षेत्र में समेटकर स्कूल का वातावरण सच्चे अर्थ में सबसे शिक्षाप्रद बन सकता है।

पश्चिमी देशों में और विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमरीका में, इस आन्दोलन ने काफी प्रगति की है और उसे व्यावहारिक रूप दिया गया है। कुछ शिक्षा-अधिकारियों ने दिन में बच्चे का स्कूल में रहने का समय बढ़ा दिया है, स्कूल के विस्तार-क्षेत्र तथा उसकी इमारतों में वृद्धि कर दी है और स्कूल के कार्यक्रम को इस प्रकार बदल दिया है कि उसमें सभी उपयुक्त कार्य तथा क्रियाकलाप आ जायँ। इसके पीछे उद्देश्य यह है कि स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों को यथासंभव अधिक-से-अधिक समय तक शिक्षात्मक प्रभावों में रखा जाय—समझ लीजिये, दिन में बारह घण्टे और सप्ताह के हर दिन—और स्कूल के भीतर केवल पढ़ाई और खेल-कूद के लिए ही नहीं बल्कि उन कामों के लिए भी सुविधा प्रदान की जाय जिनका सम्बन्ध घर के जीवन, क्लब के जीवन और औद्योगिक कार्यशालाओं से है। बच्चे स्कूल में काम करते हैं, खेलते-कूदते हैं, अपने शौक के काम करते हैं और सामाजिक समारोह तथा मनोरंजन के कार्यक्रम संगठित करते हैं। उदाहरण के लिए, स्कूलों की एक पूरी पद्धति की इस प्रकार की योजना सुपरिंटेंडेन्ट वर्ट ने तैयार की थी, जिस योजना को आम तौर पर गैरी योजना कहा जाता है। इस योजना पर एक स्पष्ट आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि इसके अन्तर्गत बच्चे को बहुत ज्यादा समय तक घर से बाहर रहना पड़ेगा और वह जरूरत से ज्यादा हद तक 'स्कूल के अध्यापक के प्रभाव' में रहेगा। परन्तु इस आपत्ति का खंडन करते हुए बताया गया है कि पहली बात तो यह कि ये उस प्रकार के 'स्कूली अध्यापकों वाले स्कूल' नहीं हैं जहाँ अध्यापक नादिरशाही ढंग से 'बड़े रोब-दाब की भयंकर मुद्रा में' सबसे अलग बैठा रहता है और अपने शिष्यों का दमन करता है, ये तो बुनियादी तौर पर स्वतन्त्र स्कूल होंगे। दूसरे, यह तो सही है कि घर पर बच्चे को यदि उचित ढंग के प्रभावों में रहने को मिले तो वह एक अमूल्य वरदान है, परन्तु आधुनिक जीवन की खींचा-तानी में अधिकांश

बच्चे घर पर एक वास्तविक **शिक्षाप्रद** वातावरण से वंचित रहते हैं। अत्यधिक उद्योगीकृत देशों तथा स्थानों में जहाँ आर्थिक तथा औद्योगिक परिस्थितियों के कारण पारिवारिक जीवन धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न होता जा रहा है, वहाँ समन्वय करने वाले एक ऐसे माध्यम की विशेष आवश्यकता है जो बच्चे के जीवन को एक लड़ी में पिरो देने में सहायता दे और एक केन्द्रगामी शक्ति के रूप में काम करे। बच्चे की इस अवस्था में ऐसा केन्द्र अनिवार्य रूप से स्कूल ही होगा जो परिस्थितियों के कारण ऐसे अनेक दायित्वों का 'अवशेष-उत्तराधिकारी' बन गया है जिनकी ओर बच्चे के घरवाले, समाज और धर्म-संस्थाएँ कोई ध्यान नहीं देते। ऐसा भी नहीं है कि यह विषय हमारे लिए केवल सैद्धान्तिक दिलचस्पी का विषय हो। हम स्वयं अपने देश में इस प्रकार की घटनाओं के वास्तविक अर्थ तथा व्यापक महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारी जिन परम्परागत संस्थाओं को स्वाभाविक रूप से उदीयमान पीढ़ी की शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत गंभीर दायित्व सौंप दिये जाते हैं, उनमें कोई भी अपने कार्य को कुशल ढंग से नहीं कर रही हैं। पुरानी व्यवस्था के भंग हो जाने के फलस्वरूप भारत में जो सांस्कृतिक अव्यवस्था उत्पन्न हुई उसके कारण और नयी व्यवस्था के दोषों के कारण बच्चे उन शिक्षाप्रद साधनों से वंचित हो गये हैं जो एक सुव्यवस्थित समाज में साधारणतया उपलब्ध रहते हैं। उदाहरण के लिए, घर और परिवार युगों से हमारी संस्कृति का आधार रहे हैं, परन्तु अब अधिकांश बच्चों पर उनका कोई सच्चा शिक्षाप्रद प्रभाव नहीं पड़ता। उनके माता-पिता बहुधा इतने निर्धन और अनपढ़ होते हैं कि वे अपने बच्चों के उचित विकास के लिए अनुकूल भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियाँ नहीं प्रदान कर सकते। अधिकांश भारतीय घरों में जीवन की उन सुविधाओं की आशा करना हमारे लिए बुद्धिसंगत न होगा जो दूसरे देशों में बच्चों पर परिष्कारक तथा सांस्कृतिक प्रभाव डालती हैं। अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में बच्चों के माता-पिता जीविका कमाने की उस समस्या को, जिसे अब तक हल नहीं किया जा सका है, हल करने में कहीं ज्यादा फँसे रहते हैं; उनके पास न इतना अवकाश ही होता है और ज्ञान तथा धन के रूप में न इतने साधन ही होते हैं कि वे अपने बच्चों का पालन-पोषण उचित रूप से कर सकें। यह बात कहते समय मैं गाँव के बच्चों के खेतों में या कारखानों में अध्यवसायपूर्वक काम सीखने के नैतिक महत्त्व या अनुशासनकारी प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर रहा हूँ। परन्तु हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि अधिकांश बच्चों का लालन-पालन अस्वास्थ्यजनक, अपरिष्कृत, तथा शिक्षा का हनन करने वाले वातावरण में होता है और इसलिए हर अच्छे स्कूल का यह कर्तव्य है कि निर्धन

घरानों की परिस्थितियों में जो दोष या कमियाँ पाई जाती हैं उनके दुष्प्रभावों को दूर करें और स्कूल में उनके सामाजिक जीवन, उनकी रूचि के कामों तथा खेल-कूद आदि की व्यवस्था करें, जो चीजें साधारण परिस्थितियों में बहुत बड़ी हद तक उनके माता-पिता पर छोड़ी जा सकती थीं। हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि अन्य महान् सामाजिक संस्थाएँ भी—धार्मिक, व्यावसायिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ—इस प्रकार संगठित नहीं हैं कि वे शिक्षा का भार वहन करने में स्कूल का हाथ बँटा सकें और इसलिए हमें देखना यह है कि हम इस कठिन परिस्थिति का मुकाबला पर्याप्त रूप में कैसे करें जिससे स्कूल बच्चे के पूरे जीवन और उसकी विविध रुचियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हों।

इस समस्या को हल करने का उपाय यह है कि स्कूलों को उत्तरोत्तर अधिक सक्रिय तथा उत्तरोत्तर अधिक सृजनात्मक बनाया जाय। इनमें से पहले शब्द पर कुछ विस्तार के साथ चर्चा की जा चुकी है; दूसरे शब्द, अर्थात् 'सृजनात्मक' की स्पष्ट व्याख्या करने की जरूरत है। इस सारगर्भित तथा महत्त्वपूर्ण विशेषण के अर्थ को किसी भी हद तक पूर्णतः समझाना बहुत कठिन है। सृजनात्मक आवेग के अर्थ की अधिक विस्तृत विवेचना के लिए चौथा अध्याय देखिए। शिक्षा में 'सृजनात्मकता' केवल एक 'प्रणाली' मात्र नहीं है; यह उस भावना की द्योतक है जिसे लेकर हम किसी ऐसे काम में हाथ डालते हैं जिसमें हम उल्लास-पूर्वक, स्वतंत्रतापूर्वक तथा स्वतःस्फूर्त ढंग से अपने आपको व्यक्त करते हैं। हर सृजनात्मक क्रिया की तीन लाक्षणिक विशेषताएँ होती हैं—हम स्वतःस्फूर्त ढंग से उस काम में इसलिए हाथ लगायें कि हम यह अनुभव करते हैं कि उस काम की पूर्ति और इस उद्देश्य से किये गए प्रयास स्वयं हमारे लिए श्रेयस्कर होंगे; अपनी विधियों तथा साधनों के निर्वाचन में स्वतंत्रता और सारे बाहरी बन्धनों तथा प्रतिबन्धों से स्वतंत्रता; और अन्ततः उल्लास, जिसके बारे में बर्गसाँ ने कहा है कि उस समस्त क्रियाकलाप पर, जिसमें हम विजयपूर्वक अपनी शक्तियों को प्रदर्शित तथा व्यक्त करते हैं, जब 'प्रकृति अपनी छाप लगा देती है' तब उसे हम उल्लास कहते हैं। ये तीनों शर्तें पूरी हो जाने पर सृजनात्मक क्रियाकलाप का जन्म होता है, आवश्यक रूप से इस अर्थ में नहीं कि उसके फलस्वरूप कोई बहुत उच्च कोटि की कलाकृति तैयार होती है बल्कि इस अर्थ में कि उससे स्वयं हमारे व्यक्तित्व की विशेषताएँ तथा निहित सम्भावनाएँ उन्मुक्त होती हैं। सृजनात्मक मनोवृत्ति के इस महत्त्व को शायद अनातोल फ्रांस की 'अवर लेडीज जगलर' नामक कहानी द्वारा उचित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है; यह कहानी बहुत

सारगर्भित तो नहीं पर रोचक अवश्य है। इस कहानी का मुख्य पात्र एक बाजीगर है जो अपनी कला का उस्ताद है और वह बाजीगर के ऐसे खेल दिखा सकता है जिसका मुकाबला उसके पेशे का कोई दूसरा आदमी नहीं कर सकता। उसकी प्रवृत्ति कुछ धर्म की ओर है और कई वर्ष तक सफलतापूर्वक एक लोकप्रिय बाजीगर के रूप में जीवन व्यतीत करने के बाद वह अपना शेष जीवन देवी मरियम की सेवा में अर्पित कर देने का निश्चय करता है और एक ईसाई मठ में भरती हो जाता है। वहाँ उसे अत्यन्त प्रतिभाशाली कलाकारों, कवियों, मूर्तिकारों तथा संगीतज्ञों का एक बहुत बड़ा समूह मिलता है जो देवी मरियम के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए चित्र बनाते हैं, गीत गाते हैं और सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ बनाते हैं। बाजीगर बहुत निराश तथा क्षुब्ध हो जाता है क्योंकि वह इस प्रकार का कोई काम नहीं कर सकता। वह अपनी इस अक्षमता पर अपने आपको कोसता है कि उसके पास कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे वह देवी के चरणों में अर्पित कर सके। परन्तु एक दिन सहसा उसे प्रेरणा मिलती है। वह उस कमरे में जाता है जहाँ देवी की मूर्ति रखी हुई है; वह सब दरवाजे बन्द कर लेता है और सर के बल खड़े होकर अपनी पूरी दक्षता और श्रद्धा के साथ देवी के आगे बाजीगरी के वे सारे करतब दिखाने लगता है जिनसे पहले वह दर्शकों को मुग्ध किया करता था; अपने इस काम (या उपासना ?) में उसे तन-मन की सुध नहीं रहती; उसे इस बात का भी आभास नहीं रहता कि वह जिस स्थान पर ये करतब दिखा रहा है वहाँ आम तौर पर लोग देवी के प्रति सम्मान प्रकट करने आते हैं। उसका मन एक सच्चे कलाकार के उल्लास से भर उठता है और वर्षों तक धर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने के कारण जो आकांक्षाएँ दब गई थीं उनसे प्रेरित होकर वह अपने इस प्रदर्शन में तन-मन से तल्लीन हो जाता है और ऐसे करतब दिखाता है जैसे उसने इससे पहले कभी नहीं दिखाये थे। संयोगवश कुछ पादरी उसे यह करते हुए देख लेते हैं; उन्हें बहुत क्रोध आता है और वे इसे देवी का अपमान समझते हैं। परन्तु जब वे इस बात पर विचार कर रहे होते हैं कि उसे वहाँ से हटा दिया जाय, यदि आवश्यक हो तो बलपूर्वक हटा दिया जाय, उसी समय उन्हें यह देखकर आश्चर्य होता है कि देवी मरियम की मूर्ति अपने आसन पर से उतरकर अपने आँचल से उसके माथे का पसीना पोंछ रही है।

लेखक ने मन की दशा को पहचानने की अपनी विलक्षण अन्तर्दृष्टि की सहायता से इस प्रतीकात्मक कहानी में बड़े सुन्दर ढंग से बाजीगर के काम के आधारभूत महत्त्व को व्यक्त किया है। यह सच्ची रुचि तथा लगन द्वारा उत्प्रेरित शुद्ध आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह उन्मुक्त तथा स्वतःस्फूर्त

आत्माभिव्यक्ति है और उससे इस काम के करनेवाले को हर्ष प्राप्त होता है; इसलिए यह सचमुच सृजनात्मक कार्य है—उन दर्शकों के दृष्टिकोण से, उन कूपमण्डूकों के दृष्टिकोण से नहीं जो उस समय संयोगवश वहाँ पर उपस्थित थे बल्कि स्वयं उस बाजीगर के दृष्टिकोण से और देवी मरियम के दृष्टिकोण से, जिन्होंने उस उद्देश्य तथा भावना को सराहा जिससे प्रेरित होकर वह काम किया गया था; और चूँकि उस काम को उसने अपनी पूरी लगन के साथ किया था और उसकी श्रेष्ठतम तथा सर्वोच्च क्षमताएँ उस काम में केन्द्रित हो गई थीं, इसलिए वह अत्यन्त बहुमूल्य तथा उपयोगी काम हो गया था। इसी अर्थ में प्रत्येक बालक या प्रौढ़ व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र में, चाहे वह कार्य-क्षेत्र तुच्छ हो या प्रतिष्ठित, सृजनात्मक कार्य कर सकता है। मनोविज्ञान इस मत की पुष्टि करता है कि साधारणतया हर बच्चे में किसी विशेष प्रतिभा का अंकुर होता है; सवाल बस इस बात का होता है कि हम उसका पता लगा सकें, और अध्यापक का यह काम होता है कि वह इस अंकुर का पता लगाये और इस बात का प्रबन्ध करे कि उसे पूर्णतः प्रस्फुटित होने का अवसर मिले। मैं यह मानता हूँ कि वर्तमान परिस्थितियों में बच्चों द्वारा किये जाने वाले हर काम का कला की दृष्टि से कोई बहुत बड़ा महत्त्व नहीं होगा। परन्तु इसका हर बच्चे के रवैये और उसके व्यक्तित्त्व पर जो प्रभाव पड़ेगा वह प्राविधिक दृष्टि से निर्विकार किसी भी ऐसे उत्पादनशील कार्य से कहीं अधिक मूल्यवान होगा जो छोटी-से-छोटी बात में भी अध्यापक की यंत्रवत् निगरानी में किया गया हो; क्योंकि जैसा कि बर्गसाँ ने कहा है, "मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य एक ऐसी कृति का सृजन है, जो कलाकार या किसी वैज्ञानिक की कृति से इस बात में भिन्न हो कि जीवन के हर क्षण हर आदमी समान रूप से उसकी साधना कर सके...(अर्थात्) स्वतः स्वयं की सृष्टि, उन तत्त्वों द्वारा व्यक्तित्त्व को समृद्ध बनाना जिन्हें हमारा व्यक्तित्व कहीं बाहर से नहीं ग्रहण करता बल्कि जिन्हें वह स्वयं अपने अन्दर से उत्पन्न करता है।"

अपने स्कूलों में हम यही सृजनात्मक काम चाहते हैं ताकि बच्चे इसके माध्यम से 'अपने स्वयं की सृष्टि कर सकें' और अपनी समझ-बूझ तथा रुचियों को समृद्ध बना सकें। मैं कुछ उदाहरणों की सहायता से यह दिखाऊँगा कि कुछ अति उपयोगी कामों को किस प्रकार स्कूल के जीवन में सृजनात्मकता की वृद्धि करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। परन्तु मैं यहाँ इस बात पर चर्चा नहीं करूँगा कि स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले आम विषयों का अध्यापन सृजनात्मक ढंग से कैसे किया जा सकता है, हालाँकि यह अन्वेषण के लिए एक

अत्यन्त रोचक क्षेत्र है। बात को स्पष्ट करने के लिए मैं केवल इस बात की ओर संकेत कर दूँ कि कुछ विषय ऐसे होते हैं जिन्हें सृजनात्मक ढंग से पढ़ाने में बड़ी सुविधा होती है। उदाहरण के लिए, साहित्य सृजनात्मक कल्पना की श्रेष्ठतम उपज है और सृजनात्मक तरीका ही उसके अध्ययन तथा आस्वादन का एकमात्र तर्कसंगत तरीका है जिसके अन्तर्गत हम स्वयं वस्तुतः साहित्य का सृजन करके रूप तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को सराहना सीखते हैं। कविता, संगीत तथा चित्रकला से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए सृजनात्मक भावना के साथ साहित्य के अध्यापन की दिशा में सफल प्रयोग किये गए हैं। इसी प्रकार निबन्ध-रचना के अध्यापन में भी सृजनात्मक प्रणाली के लिए अनेक अवसर उपलब्ध हैं। इसी तरह यदि इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान को उचित ढंग से प्रस्तुत किया जाय तो इन विषयों से भी विद्यार्थी को सृजन का उल्लास तथा आत्माभि-व्यक्ति का अवसर प्राप्त हो सकता है। परन्तु स्कूल में पढ़ाये जाने वाले विषयों को छोड़कर आइये हम उन कामों की ओर ध्यान दें जिन्हें 'आधी हद तक पाठ्यचर्या के' या 'पाठ्यचर्या से बाहर के' काम समझा जाता है, जैसे बागवानी, शारीरिक श्रम, शिल्प-कार्य, समाज-सेवा, साहित्यिक गोष्ठियाँ, स्कूल की पत्रिका, जो स्कूल के जीवन को बच्चों के लिए सक्रिय, अर्थपूर्ण तथा सृजनात्मक बनाने के बहुत अच्छे अवसर प्रदान करते हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन कामों को निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी करनी चाहिएँ :

१. स्कूल की साधारण शिक्षा के दौरान में जो बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक अथवा कला-सम्बन्धी रुचियाँ उत्पन्न हुई हों उन्हें वे और आगे बढ़ाएँ और स्कूल के 'शैक्षिक' काम और विद्यार्थियों द्वारा अवकाश के समय अपनी रुचि के अनुसार किये जाने वाले कामों के बीच ऐसा सम्पर्क स्थापित करें जिससे दोनों एक-दूसरे को समृद्ध बना सकें।

२. प्रत्येक विद्यार्थी में जो कुछ भी विलक्षण तथा वैयक्तिक रूप से विशिष्ट हो उसकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए उन्हें पूरा मौका दें, और चूँकि वे अलग-अलग मानसिक कोटियों के होते हैं इसलिए आवश्यकता इस बात की होगी कि इन कामों में काफी विविधता हो।

३. वे विद्यार्थियों की अपने आप किसी काम का बीड़ा उठाने की क्षमता, उनकी सूझ-बूझ तथा लोकतन्त्रात्मक नेतृत्व में सहयोग की भावना के साथ तथा अनुशासित ढंग से काम करने की क्षमता को जाग्रत करें, क्योंकि कक्षा के बँधे हुए कामों में चरित्र-सम्बन्धी इन गुणों के विकास की बहुत बड़ी हद तक उपेक्षा की जाती है।

फिर अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हम किन कामों को चुनें ? यह तो स्पष्ट है कि अन्त में चलकर हर स्कूल को अपनी विशिष्ट परिस्थितियों को, अर्थात् अपने भौतिक साधनों को, अपने आस-पास के जीवन को, अपने छात्रों की रुचियों को और अपने अध्यापकों की अवकाशकालीन रुचियों को दृष्टिगत रखते हुए ही ऐसे कामों का एक पूरा क्रम निर्धारित करना होगा। ब्योरे की बातों में कोई एकरूपता नहीं हो सकती, यद्यपि वे मोटे-मोटे तौर पर उन्हीं सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार चुने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, मैं अनेक उपलब्ध कामों में से केवल कुछ को चुन लूँगा, अर्थात् उन कामों को जो सबसे अधिक लाक्षणिक तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण हैं और जिनके अन्दर स्वयं वैविध्य की तथा इस बात की काफी गुंजाइश है कि उन्हें अलग-अलग विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुसार ढाला जा सके। अब प्राथमिक (बुनियादी) शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा दोनों ही के स्तर पर इस प्रकार के कामों के महत्त्व को उत्तरोत्तर अधिक स्वीकार किया जा रहा है।

शारीरिक काम या शिल्प

मैंने विभिन्न प्रकार के शारीरिक कामों अथवा शिल्पों को बच्चों के प्रारम्भिक विकास में उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण इस सूची में पहला स्थान दिया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इनका महत्त्व इस बात में निहित है कि वे बच्चे के अनुभव के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक तत्त्वों के बीच उचित समन्वय तथा सामंजस्य रखते हैं, जिसके बारे में यह खतरा दिखाई पड़ता है कि स्कूलों का औपचारिक शैक्षिक काम इस समन्वय तथा सामंजस्य को भंग कर देगा। समाजशास्त्र की दृष्टि से इनका महत्त्व इस बात में निहित है कि वे मिल-जुलकर काम करने और सामाजिक नियंत्रण को सम्भव बनाते हैं। शिक्षण की एक प्रणाली के रूप में वे स्कूल में पढ़ाये जाने वाले सभी विषयों को ज्यादा अच्छी तरह समझने तथा उसमें निपुणता प्राप्त करने में सहायक होते हैं। स्पष्टतः विज्ञान के विषयों के अध्यापन के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है ही, परन्तु इतिहास तथा साहित्य जैसे कला के विषयों को समझने तथा उनकी परख पैदा करने के लिए भी उनका महत्त्व कुछ कम नहीं है। 'सृजन के बिना परख पैदा नहीं होती' और अधिकांश सृजनात्मक कामों में शारीरिक कार्य का एक तत्त्व अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त, स्कूल की आम पढ़ाई में निहित बँधी-बँधाई प्रक्रियाओं की अपेक्षा बढ़ईगीरी, बागवानी, ड्राइंग, चित्रकला आदि जैसे कामों द्वारा अलग-अलग हर छात्र की विशिष्ट तथा लाक्षणिक प्रतिभाओं

का पोषण करने की सम्भावना कहीं अधिक होती है। कुछ प्रकार के शारीरिक काम ऐसे हैं जिन्हें, मेरी राय में, उचित ढंग से चलाये जाने वाले हर स्कूल में अवश्य स्थान दिया जाना चाहिए क्योंकि मानसिक तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से वे बच्चे के विकास में सहायता प्रदान करते हैं।

(क) बढ़ईगीरी इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह अधिक जटिल तथा विकासवान कार्य करने की ऐसी सम्भावनाएँ प्रदान करती है जो लगभग असीमित होती हैं और बच्चा प्रविधि के मामले में अपनी बढ़ती हुई दक्षता तथा अपनी सृजनात्मक कल्पना का सहारा लेकर भी आसानी से इन सभी सम्भावनाओं का उपयोग करके उन्हें समाप्त नहीं कर सकता। इस काम की सहायता से वह अपनी मांस-पेशियों की क्रिया पर नियंत्रण रखने में समर्थ होता है और अपने स्नायुओं की क्रिया को समन्वित कर सकता है; और इससे उसे साधारण यान्त्रिक प्रक्रियाओं तथा औजारों को इस्तेमाल करने का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है जिसके बिना हमेशा इस बात का खतरा रहता है कि व्यक्ति अपने चारों ओर की परिस्थितियों के आगे लाचार अनुभव करने लगे और यह समझने लगे की वह अपने चारों ओर की परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढाल नहीं पाया है। इसके अतिरिक्त, यह एक सम्मानित तथा उपयोगी शिल्प है जिसके अभ्यास से हमारे अन्दर यह भावना उत्पन्न होती है कि हम भी किसी काम आ सकते हैं, हमारी भी कोई उपयोगिता है। स्कूलों के परम्परागत काम के दृष्टिकोण से भी यह काम इसलिए उपयोगी है कि इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा गणित की शिक्षा के साथ इसका सम्बन्ध सहज ही स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार इन विषयों की पढ़ाई को अधिक रोचक तथा वस्तुनिष्ठ बनाया जा सकता है।

(ख) बागबानी एक उल्लासप्रद अवकाशकालीन रोचक कार्य और स्वतः एक शिक्षा है। यदि मेरा बस चलता तो मैं स्कूल के हर विद्यार्थी से कुछ बागबानी करवाता और हर अध्यापक से अपने अवकाश के समय में इस काम को एक शौक के रूप में अपनाने का आग्रह करता। कारण यह कि शिक्षा की कला के साथ, बच्चों के पालन-पोषण की कला के साथ, बागबानी का एक स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही का सम्बन्ध सप्राण तथा विकासवान जीवियों की देखभाल तथा विकास के साथ है। यह केवल संयोग की बात नहीं थी कि फ्रोएबेल अपनी रचनाओं में अध्यापक की तुलना हमेशा एक माली से करते थे, और उन्होंने अपने बच्चों के स्कूल का नाम 'किण्डरगार्टन' रखा। यह एक सप्राण तथा सचमुच सृजनात्मक काम है जो रसानुभूति को परिष्कृत करने का अवसर प्रदान करता है; इसके द्वारा प्रकृति के साथ वह निकट सम्बन्ध

स्थापित किया जा सकता है जिससे मनुष्य के हृदय में शान्ति तथा निर्द्वन्द्वता की वह भावना जाग्रत होती है जिसको प्राच्य देशों की महानतम विभूतियों ने इतना महत्त्व दिया है। इसके अतिरिक्त इससे प्रकृति-ज्ञान, वनस्पति-विज्ञान तथा भूगोल की पढ़ाई में बहुमूल्य सहायता मिल सकती है; अन्यथा इस बात का खतरा है कि इन विषयों की पढ़ाई कक्षा में सीखी हुई एक अमूर्त धारणा-मात्र बनकर रह जाय। जब पूरा संसार, और उसके साथ शिक्षा-अधिकारी भी सचमुच सभ्य हो जायँगे तब हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि हर स्कूल, विशेष रूप से छोटे बच्चों का हर स्कूल, एक नयनाभिराम उद्यान में स्थित होगा जिसका सौन्दर्य और शान्तिमय वातावरण अनजाने ही उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालेगा और वे बड़े होकर वह सौम्य तथा शान्तिमय रूप धारण करेंगे जिसकी कामना अँग्रेजी के प्रख्यात कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी 'नेचर्स चाइल्ड' नामक कविता में अपनी प्रकृति-बाला के लिए की थी। इस कविता का भावार्थ इस प्रकार है:

> "उसमें उन मृग-शावकों-जैसी चंचलता होगी जो पुलकित होकर घास के मैदानों में या पर्वतीय जल-धाराओं के किनारे कुलेलें करते रहते हैं; उसके श्वास संजीवनी होगी और उसमें मूक तथा जड़ वस्तुओं-जैसी गम्भीरता तथा शान्ति होगी। आकाश में उड़ने वाले बादल उसे अपना गर्वीलापन और वेद-वृक्ष अपनी लचक प्रदान करेंगे। वह तूफान के थपेड़ों में भी ऐसी कमनीयता देखेगी जो अपनी मूक सहानुभूति द्वारा इस बाला का रूप निखार देगी।"

अन्य सभी चीजों की अपेक्षा सबसे ज्यादा स्कूल का उद्यान ही अपनी 'मूक सहानुभूति द्वारा' उनको प्रभावित करेगा। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब यह उद्यान उन्होंने स्वयं बनाया हो, उन्हें वह बना-बनाया न मिल गया हो, वह माली द्वारा सँवारी गई केवल देखने की चीज न हो जिसे वे उसी तरह अपनी बाह्य परिस्थितियों का एक अंग समझने लगें जैसे वे स्कूल की कक्षा को समझते हैं। स्कूल के समाज के सदस्य किसी दूसरी बात में इतना हर्ष तथा गर्व अनुभव नहीं कर सकते जितना यह कह सकने की स्थिति में होने पर कि "यह हमारा बाग है; इसे स्वयं हमने लगाया है!"

(ग) बढ़ईगीरी तथा बागबानी के अतिरिक्त कपड़ा बुनने का काम, ड्राइंग, चित्रकला और, छोटे बच्चों के लिए, मिट्टी की आकृतियाँ बनाने तथा दफ्ती की चीजें बनाने के काम सृजनात्मक आत्माभिव्यक्ति के साधन हैं। जैसा कि मैं पहले भी जोर देकर कह चुका हूँ, बच्चा स्वभावतः स्रष्टा होता है और अपने चारों ओर की चीजों पर अपनी छाप डालने और अपने मस्तिष्क में खेलनेवाली तथा अपने

मस्तिष्क को प्रभावित करने वाली योजनाओं तथा विचारों को साकार करने में उसे आनन्द मिलता है। यही कारण है कि वह इतने स्वाभाविक रूप से 'खेल' की ओर खिंचता है—खेल में ही वह कुछ जतन करके तथा अपनी कल्पना-शक्ति की सहायता से उपलब्ध भौतिक सामग्री को कोई नया रूप देकर सबसे आसानी से 'सृजन' कर सकता है। पेंसिल, कागज, रंग, मिट्टी, दफ्ती आदि के माध्यम से बच्चा उचित मार्ग-दर्शन पाकर अपने-आपको सुगमतापूर्वक व्यक्त करना सीखता है और यह काम, जो बहुत कुछ उन्मुक्त क्रीड़ा के समान होता है, निश्चित रूप से उसके व्यक्तित्व के विकास पर हितकर प्रभाव डालता है।

स्कूल की सोसायटियाँ तथा क्लब

ऊपर के उदाहरणों का सम्बन्ध ऐसे सृजनात्मक कार्यों से है जिनमें शारीरिक कार्य का तत्त्व प्रधान होता है। लेकिन कुछ दूसरे प्रकार के इतने ही उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसे हैं जिनमें बौद्धिक तथा विद्योपार्जन-सम्बन्धी तत्त्व की अधिक प्रधानता होती है और वे उन शर्तों को भी पूरा करते हैं जो स्कूली बच्चों के जीवन को समृद्ध बनाने के बारे में पिछले पैराग्राफों में कही गई हैं।

किसी भी सक्रिय तथा सुसंचालित स्कूल में न्यूनाधिक रूप में स्वतःस्फूर्त ढंग से बच्चों की सामूहिक रुचियों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक ऐसी सोसायटियों तथा क्लबों की स्थापना हो जाती है जिन्हें ये बच्चे अपनी पहलकदमी तथा उत्साह से संगठित करते तथा चलाते हैं। ऐसे स्कूल के स्वस्थ तथा उत्साहवर्द्धक वातावरण में समान रुचियाँ तथा शौक रखने वाले लड़के स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे की ओर खिंचेंगे और अपनी विशेष रुचि को पूरा करने के लिए छोटी-छोटी टोलियाँ बना लेंगे। विवेकपूर्ण संचालन तथा समयोचित प्रोत्साहन की सहायता से ये छोटी-छोटी टोलियाँ स्फूर्तिमय तथा विकासशील रुचियों के केंद्र बन सकती हैं। ऐसा हो सकता है कि कोई टोली स्कूल के संग्रहालय के लिए पेड़-पौधों तथा फूल-पत्तों आदि के नमूने जमा करे, दूसरी टोली इतिहास के विशेष विषयों का अध्ययन करके उनके बारे में गवेषणात्मक निबन्ध लिखे, तीसरी टोली भौगोलिक अध्ययन के लिए पर्यटन करे या फैक्टरियों तथा स्थानीय उद्योगों के बारे में छानबीन करे, चौथी टोली के लड़के वक्तृता की कला का अभ्यास करें। स्कूल की एक फोटोग्राफिक सोसायटी भी हो सकती है जो स्कूल की गतिविधियों तथा भ्रमण व यात्राओं का विवरण चित्रों में रखे। एक साहित्यिक सोसायटी हो सकती है जहाँ विद्यार्थी बैठकर अपने अवकाश के समय में अच्छी कहानियों, गल्प-साहित्य तथा अन्य प्रकार के साहित्य का आनन्द लें। फिर खेल-कूद के क्लब

और स्काउटों की संस्थाएँ होंगी। स्काउटों की संस्था में विशेष रूप से बहुत-सी संभावनाएँ हैं, क्योंकि इसे एक ऐसा केंद्रीय क्रियाकलाप बनाया जा सकता है जो बच्चों की सभी ज्ञानोपार्जन-सम्बन्धी तथा व्यावहारिक रुचियों तथा क्रियाओं को एक लड़ी में पिरो दे। स्कूल में इस प्रकार के कामों से बहुत बड़ा लाभ यह होता है वे स्कूल की कुल पढ़ाई में एक नयी शक्ति का संचार कर देते हैं और विद्यार्थियों को अपने-आप किसी काम का बीड़ा उठाने की और सूझ-बूझ तथा नेतृत्व की बहुत अच्छी प्रशिक्षा प्रदान करते हैं। इस प्रकार के संगठनों तथा समारोहों की व्यवस्था चलाने और दूसरे लोगों के साथ व्यवहार करने तथा विभिन्न प्रकार की चीजों का प्रबन्ध करने से उनके कुछ विलक्षण निहित गुण प्रकट तथा विकसित होते हैं। घर पर या स्कूल में जिस ज्ञान अथवा जिन रुचियों का सूत्र-पात होता है उन्हें इन कामों से बढ़ावा मिलता है और ये काम बहुधा उस चीज की नींव डालते हैं जो आगे चलकर उनका प्रमुख ध्येय या जीवन-लक्ष्य बन सकता है। कितने ही सार्वजनिक नेता ऐसे हैं जिन्हें पहले-पहल अपने स्कूल या कालेज के सभा-भवन में भाषण देते समय ही अपनी वास्तविक क्षमता का आभास हुआ और कितने ही अन्वेषक ऐसे हैं जिनका पता स्कूली लड़कों द्वारा संगठित किये गए छोटे-छोटे पर्यटनों तथा अभियानों के दौरान में लगा और उन्हें इन्हीं के दौरान में बहुत ही तुच्छ पर वास्तविक प्रशिक्षण प्राप्त हुआ।

स्कूल की पत्रिका

स्कूल की सोसायटियों तथा क्लबों की गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति स्कूल की एक पत्रिका के रूप में होनी चाहिए, जिसमें उनकी सभी गतिविधियों तथा कामों का विवरण दिया जाय ताकि पूरे स्कूल को इस बात की जानकारी रहे कि स्कूल की विभिन्न टोलियों के लड़के क्या कर रहे हैं। इससे बच्चों को अपने विचारों तथा भावनाओं को साकार रूप में व्यक्त करने की इच्छा को पूरा करने के लिए एक स्वस्थ माध्यम मिल जायगा। इसलिए स्कूल की पत्रिका इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह स्कूल के बौद्धिक जीवन तथा उसकी अन्य गति-विधियों का मुखपत्र होती है और विद्यार्थियों को साहित्यिक तथा कलात्मक आत्मा-भिव्यक्ति के लिए प्रेरणा तथा एक मंत्र प्रदान करती है। तब अध्यापक के लिए लिखा गया कोई अच्छा निबन्ध अन्धी गली में घुसने के समान नहीं रह जायगा; उसके सहारे बच्चा स्कूल की पत्रिका के प्रकाश में—चकाचौंध कर देनेवाले प्रकाश में—पहुँच सकता है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग हैसियतों से इस काम से सम्बन्ध रखने वाले सम्पादक-मण्डल के सदस्यों को इससे अनुशासन की बहुमूल्य

शिक्षा मिलती है और वे संगठन-सम्बन्धी तथा कार्यकारी योग्यता की प्रशिक्षा प्राप्त करते हैं। इसलिए यह उपयोगी होगा कि इस काम में यथासंभव ज्यादा-से-ज्यादा लड़कों को लगाया जाय और उसे केवल दो-तीन तेज लड़कों की जागीर न बना दिया जाय। यदि कोई यह जानने में दिलचस्पी रखता है कि इस प्रकार के आयोजन से स्कूल के वातावरण में कितना परिवर्तन आ सकता है, तो उसे मैं अर्नेस्ट यंग की रोचक पुस्तक 'द न्यू इरा इन एजुकेशन' में ऐसे ही एक प्रयोग का विवरण पढ़ने की सलाह दूँगा। उसमें बताया गया है कि किस प्रकार योग्य मार्ग-दर्शन में स्कूल की पत्रिका केवल एक विवरण-मात्र न रहकर सक्रिय बौद्धिक जीवन का सृजन भी कर सकती है।

स्कूल की प्रदर्शनी

स्कूल की वार्षिक प्रदर्शनी में विद्यार्थियों द्वारा स्कूल में या स्कूल के बाहर किये गए श्रेष्ठतम शिक्षाप्रद तथा रचनात्मक काम को एकत्रित करके सुव्यवस्थित तथा आकर्षक ढंग से प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इससे उन्हें अपनी इच्छा से अपनी समस्त क्षमताओं का उपयोग करते हुए वर्ष-भर काम करते रहने की प्रबल प्रेरणा मिलेगी ताकि वे इस अवसर पर अपने माता-पिता के सामने और इन बातों में दिलचस्पी लेने वाले स्थानीय समाज के अन्य सदस्यों के सामने अपना सृजनात्मक काम प्रस्तुत कर सकें और सर्वसाधारण स्कूल की कलात्मक तथा व्यावहारिक सफलताओं पर गर्व करना सीख सकें। विशेष रूप से भारत में जहाँ स्कूल और स्थानीय समाज के बीच बहुधा बहुत ही थोड़ा-सा सम्पर्क रहता है और बच्चे के माता-पिता हेडमास्टर की सूरत तभी देखते हैं जब कोई गड़बड़ हो जाती है, इस बात से दोनों ही पक्षों को एक दूसरे से सुखद तथा परस्पर उपयोगी मुलाकात का अवसर मिल सकता है। इसके अतिरिक्त, इससे लड़कों को भी इस बात का अवसर मिलेगा कि वे उस वर्ष के दौरान में किये गए उत्पादनशील कार्य का एक पूरा चित्र देख सकें, और यदि यह नियमित रूप से हर साल होने वाला आयोजन हो तो इससे पुराने लड़कों की परम्पराओं का ज्ञान नये लड़कों को हो सकता है और इस प्रकार स्कूल में अच्छा काम करने की परम्परा पड़ सकती है और मिल-जुलकर काम करने की भावना पैदा हो सकती है। यह अत्यन्त बहुमूल्य प्रेरक-शक्ति होगी और इससे विविध रुचियाँ तथा क्षमताएँ रखने वाले विद्यार्थियों को अवकाश के समय करने के उपयोगी रोचक कार्य मिल जायँगे तथा उपयोगी कामों के प्रति उनमें दिलचस्पी पैदा होगी। मेरा विश्वास है कि इस दशा में शुरुआत करना हर स्कूल के लिए सम्भव है,

क्योंकि इनमें से बहुत-से काम ऐसे हैं जिनके लिए बहुत पैसा खर्च करने की जरूरत नहीं है। परन्तु इसके लिए इस बात की जरूरत अवश्य है कि समझदारी, उत्साह तथा धैर्यपूर्ण दूरदर्शिता से काम लिया जाय और अध्यापकगण विद्यार्थियों के काम की योजना ध्यानपूर्वक तैयार करें।

इस प्रदर्शनी में क्या चीजें दिखाई जायँ? मैं यहाँ पर उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की ओर संकेत कर सकता हूँ और यह इंगित कर सकता हूँ कि उसमें क्या-क्या चीजें प्रदर्शित की जा सकती हैं:

१. कला-सम्बन्धी कार्य के नमूने—चित्रकला, ड्राइंग, सुन्दर-लेख इत्यादि।

२. दस्तकारी के नमूने—लकड़ी का काम, धातु का काम, मिट्टी का काम, जिल्दसाजी और लड़कों के बनाये हुए विज्ञान के यन्त्र।

३. पौधों, बीजों, वनस्पति क्षेत्र की विभिन्न वस्तुओं, डाक के टिकटों, चित्रों तथा अन्य ऐसी चीजों के संग्रह जिन्हें जमा करने में बच्चों को बहुत आनन्द आता है और जिन चीजों को अध्यापन के काम को अधिक प्रभावक बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

४. इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान की शिक्षा के लिए मानचित्र, तालिकाएँ, रेखाचित्र और स्थानीय परिस्थितियों के बारे में सामाजिक सर्वेक्षणों द्वारा जमा किये गए आँकड़ों को चित्रों के रूप में प्रदर्शित करने वाले खाके।

५. विद्यार्थियों द्वारा लिखे गए निबन्ध, लेख तथा अन्य प्रकार की रचनाएँ, जिन्हें चुनते समय इस बात का ध्यान रखा जाव कि जो रचनाएँ भेजी गई हों उनमें से सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ ही चुनकर प्रदर्शनी में रखी जायँ।

समाज सेवा के कार्य

अन्त में मैं एक और प्रकार के कामों के समूह का उल्लेख करूँगा—अर्थात् ऐसे कार्य जिनकी प्रेरणा समाज-सेवा की इच्छा से मिलती है। हमारी वर्तमान सामाजिक स्थिति में अन्तर्निहित कारणों से किसी दूसरी बात का महत्त्व विद्यार्थियों में सामाजिक कार्य की प्रबल इच्छा जाग्रत तथा विकसित करने से बढ़कर नहीं है, ताकि उनकी शिक्षा स्वयं उनके जीवन में और समाज के जीवन में एक सचमुच मानवीय भावनाएँ जाग्रत करने वाला प्रभाव बन सके।

इस दिशा में जो कुछ किया जा सकता है उस सब पर विस्तारपूर्वक चर्चा करना यहाँ पर सम्भव नहीं है। दृष्टान्त के रूप में यहाँ पर इस प्रकार के एक कार्य का उल्लेख किया जा सकता है जिसे अनेक स्कूलों में आजमाया गया है और जिसे अधिक व्यापक रूप से अंगीकार किया जाना चाहिए, अर्थात्

प्राविधिक कौशल प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं बल्कि स्कूल के फर्नीचर तथा अन्य सामान की मरम्मत करने तथा उसे उचित दशा में रखने और स्कूल के आस-पास की जगह को साफ रखने तथा सजाने के उद्देश्य से की जाने वाली शारीरिक सेवा। बच्चों के सामान्य प्रशिक्षण के ही एक अंग के रूप में उन्हें यह सिखाया जाना चाहिए कि वे अपने आस-पास की जगहों को साफ-सुथरा रखने की जिम्मेदारी महसूस करें और इस सराहनीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए निजी श्रम देने में संकोच न करें। कई देशों के स्कूलों में यह प्रयोग किया गया है; उदाहरण के लिए, वहाँ हर महीने में एक दिन और वर्ष के अन्त में पूरा एक सप्ताह इस प्रकार के काम में व्यय किया जाता है जब लड़के बाग की सफाई करके, सड़कों की मरम्मत करके, स्कूल की मेज-कुर्सियों की मरम्मत करके और आम तौर पर पूरे स्कूल की ऊपर से नीचे तक पूरी तरह सफाई तथा मरम्मत करके स्कूल की सेवा में जुटे रहते हैं। जिन लोगों ने इस प्रयोग को कभी आजमाकर नहीं देखा है उनके लिए इस बात की कल्पना करना बहुत कठिन है कि इससे स्कूल के प्रति—उस स्कूल के प्रति 'जिसे उन्होंने स्वयं अपने हाथों से सँवारा है'—बच्चों का प्रेम तथा लगाव कितना बढ़ जाता है। कई वर्ष पहले जब मैं पढ़ता था तब मैंने पानीपत के हाली मुस्लिम हाईस्कूल में इसी प्रकार के एक प्रयोग में भाग लिया था; इस स्कूल को इस बात का सौभाग्य प्राप्त था कि इसके मंत्री एक ऐसे सज्जन थे जिनकी शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टि तथा कल्पना बहुत व्यापक तथा महान् थी। मंत्री के आग्रह पर स्कूल में हर कक्षा के लिए प्रति सप्ताह एक घंटा (जिसे 'सेवा का घंटा' कहा जाता था) ऐसा रखा गया था जिसमें उस कक्षा के सारे लड़के स्कूल की खातिर किसी-न-किसी प्रकार का सेवा-कार्य करते थे। वे स्कूल के कमरों की सफाई करते थे, स्कूल के अहाते के अन्दर सड़कों की मरम्मत करते थे और बढ़ईगीरी की कक्षा में टूटी हुई मेज-कुर्सियों की मरम्मत करते थे। स्कूल के कुएँ में एक रहट लगा हुआ था जिसे लड़के अपने लगाये हुए बाग में सिंचाई करने के लिए बारी-बारी से चलाते थे। इस प्रकार की सामूहिक सेवा के नैतिक तथा सामाजिक मूल्य को जितना भी आँका जाय कम है, क्योंकि किसी महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर इन्हीं छोटे-छोटे कामों तथा तुच्छ सेवाओं को स्वेच्छा से तथा ईमानदारी के साथ पूरा करने से ही किसी व्यक्ति के चरित्र का, धीरे-धीरे ही सही, पर विश्वस्त रूप से निर्माण होता है। मैंने इस स्कूल के मंत्री महोदय को, जो देशव्यापी ख्याति रखने वाले एक प्रतिष्ठित वयोवृद्ध सज्जन थे, चिनाई का काम पूरा हो जाने पर स्कूल के आँगन से ईंटें हटाने और उसे साफ करने में

स्वयं अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की सहायता करते देखा था। क्या इससे भी अच्छा या खरा कोई दूसरा तरीका हो सकता है जिससे लड़के 'श्रम की मर्यादा' का अर्थ समझ सकें या टामस कार्लाइल के इस प्रेरणामय सुकथन का वास्तविक अर्थ जान सकें : "हर सच्चा काम पवित्र है। संसार का नवीनतम उपदेश यह है– 'अपने काम को जानो और उसे पूरा करो'!" कदाचित् इसी अनुभव की स्मृति मेरे मस्तिष्क में रही होगी जिससे प्रेरित होकर मैंने काश्मीर राज्य के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर की हैसियत से उस राज्य के सभी स्कूलों के लिए 'श्रम-सप्ताह' की योजना तैयार की थी। इस प्रयोग का विवरण पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

इन प्रयोगों तथा इस बात के अखण्डनीय प्रमाणों को देखते हुए कि हमारे स्कूल क्या हो सकते हैं, हम स्कूलों के काम को लिखाई, पढ़ाई तथा प्राथमिक गणित और कुछ दूसरे नीरस 'विषयों' तक सीमित कैसे रख सकते हैं? हमारे सामने शिक्षा के पुनर्निर्माण का जो काम है उसे करते समय हमें अपने स्कूलों के वातावरण का स्वरूप बिल्कुल बदल देना चाहिए, और उसे निष्क्रिय तथा यंत्रवत् वातावरण से बदलकर गतिवान् तथा सृजनात्मक बना देना चाहिए; हमें पाठ्यचर्या में सप्राण तथा उपयोगी विषय-वस्तु सम्मिलित करके उसे समृद्ध बनाना चाहिए और अध्यापन तथा अनुशासन के तरीकों का समाज के जीवन की प्रेरक शक्तियों के साथ सजीव सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार स्कूल युवकों के सक्रिय तथा उल्लासमय समाज बन जायँगे, जिन पर उनके वातावरण के श्रेष्ठतम प्रभाव पड़ेंगे और वे अपने भीतर शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा कलात्मक, हर प्रकार के सृजनात्मक कामों के लिए अवसर प्रदान करेंगे, काम करने तथा अवकाश का समय बिताने दोनों ही की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे और सबसे बड़ी बात तो यह कि वे बच्चे को एक ऐसा जीवन प्रदान करेंगे जो तात्कालिक रूप से भी और आगे चलकर भी बुनियादी तौर पर रोचक तथा उपयोगी होगा। अध्यापकों को अपनी सारी कोशिशें और अपनी सारी शक्ति स्कूलों के भीतर यही सप्राण सृजनात्मक वातावरण उत्पन्न करने में लगा देनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा की योजना का अपार महत्त्व इसी बात में निहित है कि वह न केवल शिक्षा और सामाजिक जीवन के बीच की दूरी को बल्कि शिक्षा और बच्चे की जन्मजात रुचियों के बीच की दूरी को भी खत्म करने की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम है।

४

स्कूल : सामुदायिक जीवन के केन्द्र के रूप में

: १ :

पिछले दो अध्यायों में हमने एक सक्रिय तथा सृजनात्मक वातावरण के रूप में स्कूल की विशिष्टताओं पर विचार किया है। इस अध्याय में मैं इस बात पर विचार करना चाहता हूँ कि स्कूलों का अपने चारों ओर के उस समाज के जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है जिसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही उनका अस्तित्व होता है, और मैं यह निर्धारित करने का प्रयत्न करूँगा कि इस सम्बन्ध का स्कूल की गतिविधियों के संगठन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस समस्या को उसके उचित प्रसंग में रखने के लिए यह उपयोगी होगा कि हम शिक्षा की प्रक्रिया के सामाजिक अर्थ की ओर ध्यान दें।

शिक्षा बुनियादी तौर पर एक सामाजिक समस्या है और समाज स्कूल को यह कर्तव्य सौंपता है कि वह युवकों का प्रशिक्षण तथा उनका पालन-पोषण इस ढंग से करे कि समाज के जिस समूह से वे सम्बन्ध रखते हैं उसके जीवन में वे प्रभावक ढंग से भाग ले सकें। उन्हें अपनी सामाजिक परम्पराएँ उसी प्रकार अपने-आप उत्तराधिकार में नहीं मिल जातीं जैसे उन्हें अपने पिता की सम्पत्ति मिल जाती है। उन्हें इस बात को सीखना पड़ता है कि उनके पूर्वज उत्तराधिकार के रूप में जो सांस्कृतिक निधि तथा संस्थाएँ उनके लिए छोड़ गए हैं उन पर वे अपना सक्रिय अधिकार किस प्रकार स्थापित करें। पुस्तकों में, काम में और सामाजिक सम्पर्कों में संचित अनुभव के प्रकाश के बिना वे अँधेरे में भटकते रहेंगे और उनके प्रयास निष्फल जायँगे। न ही वे इस स्थिति में होंगे कि वे विवेकपूर्वक इस सांस्कृतिक निधि का मूल्यांकन कर सकें या अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार उसकी पुनर्रचना कर सकें। समस्या की ओर यह दृष्टिकोण स्कूल के काम के बारे ये सच्ची परिकल्पना का द्योतक है। हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति बहुत बड़ी हद तक पायी जाती है कि हम शुद्धतः वैय-

क्तिक दृष्टिकोण से शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हैं तथा उनके बारे में फैसला कर लेते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं कि शिक्षा—चाहे वह स्कूलों की शिक्षा हो या कालेजों की—कोई ऐसी क्रिया नहीं है जिसका किसी दूसरी चीज से सम्बन्ध ही न हो, बल्कि जीवन के साथ हर कदम पर उसका सम्बन्ध है और जिन शक्तियों का भी उस पर प्रभाव पड़ता है उनके प्रति वह संवेदनशील होती है। स्कूल सामाजिक जीवन का एक 'आदर्श निचोड़' होता है, बल्कि यह कहना उचित होगा कि उसे ऐसा होना चाहिए, जिसमें समाज की सभी मुख्य उपयोगी गतिविधियों के तत्त्व प्रतिबिम्बित होते हैं। यह धारणा सर्वथा अपर्याप्त है कि स्कूल केवल व्यक्ति को 'प्रशिक्षित करता' है, उसकी 'क्षमताओं' को, उसकी ज्ञानेन्द्रियों को, उसके मस्तिष्क को प्रशिक्षित करता है, क्योंकि इस धारणा को मान लेने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है : "किस चीज के प्रसंग में प्रशिक्षित करता है?" और इस धारणा में इस प्रश्न के सन्तोषजनक उत्तर का कोई संकेत नहीं मिलता। यह तो निश्चित है कि व्यक्ति को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, परन्तु बाहर के बृहत्तर समाज की आवश्यकताओं, तकाजों और आदर्शों के प्रसंग में और कुछ हद तक उनके निमित्त ही उसे प्रशिक्षित किया जाना चाहिए और चूँकि समाज के ये तकाजे हमेशा बदलते रहते हैं, बढ़ते रहते हैं और उनमें सुधार होते रहते हैं इसलिए यह आवश्यक है कि स्कूल के बाहर के जीवन के साथ स्कूल का सजीव सम्बन्ध रहे और वह एक बदलते हुए तथा गतिशील वातावरण के लिए बच्चों को शिक्षा दे। अन्यथा हमेशा इस बात का खतरा रहेगा—जैसा कि हमारे देश में स्पष्टतः है—कि एक जड़ औपचारिकता उस पर छा जाय और वर्तमान वास्तविकताओं का स्थान अतीत की प्रेतात्माएँ ले लें। मैं एक बार फिर कहता हूँ कि इस बात का खतरा है कि स्कूलों में अपने आपको सबसे बिल्कुल अलग रखने की प्रवृत्ति पैदा हो जाय और वे जीवन की उन शक्तियों तथा घटनाओं की अपेक्षा, जिनका प्रतिनिधित्व करना मूलतः उनका उद्देश्य निर्धारित किया गया था, केवल प्रतीकों के महत्त्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताने लगें। जब ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है तो साहित्य केवल व्याकरण की गूढ़ताओं तथा भाषा की बारीकियों का एक अभ्यास-मात्र रह जाता है, जैसा कि मध्ययुगीन पंडितों के साथ हुआ; ऐसी दशा में साहित्य पुरानी तथा वर्तमान पीढ़ियों की आशाओं तथा विपदाओं, उनकी सफलताओं तथा विफलताओं का निचोड़ नहीं रह जाता। गणित-शास्त्र की कल्पना समाज की समस्त परिमाणात्मक घटनाओं का मूल्यांकन करने तथा उनको समझने के लिए उपयोगी एक सामाजिक साधन के रूप में न करके उसे

अमूर्त प्रतीकों अथवा ऐसी निरर्थक समस्याओं पर आधारित एक कौतुक समझा जाने लगता है जैसे, उदाहरण के लिए, यह पता लगाना कि यदि एक बैल एक दिन में दो सेर साढ़े ग्यारह छटाँक चारा खाता है तो साढ़े तीन बैल दो वर्ष दो महीने और चार दिन में कितना चारा खायेंगे ! मैं उस प्रकार की समस्याओं का एक उदाहरण दे रहा हूँ जैसी कि स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में सचमुच पायी जाती हैं और बहुत-से अध्यापक शायद इतने ही हास्यास्पद दूसरे उदाहरण दे सकेंगे। ये उदाहरण इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनसे यह पता चलता है कि ज्ञान और जीवन किस प्रकार एक-दूसरे से दूर होते गए हैं और इससे दोनों ही को हानि पहुँची है। इसी प्रकार विज्ञान की शिक्षा प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध मानव-मस्तिष्क के संघर्ष के और धैर्यपूर्ण अवलोकन तथा अनुसंधान द्वारा प्रकृति के नियमों का पता लगाने के रोचक विवरण के रूप में नहीं दी जाती। इस विषय को 'मनुष्य की सेवा में रत विज्ञान' के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि ऐसे अमूर्त नियमों तथ सूत्रों के रूप में पढ़ाया जाता है जिन्हें विद्यार्थी को उसी प्रकार रट लेना पड़ता है जैसे पुराने जमाने में ब्राह्मण मंत्र रट लिया करते थे या जिस प्रकार आजकल धार्मिक प्रवृत्ति रखने वाले लोग धर्मग्रन्थों के श्लोक आदि बिना समझे रट लेते हैं। इन लोगों के पास तो यह बहाना (या दलील) है भी कि वे अपनी आत्मा को मोक्ष दिलाने के लिए ऐसा करते हैं, परन्तु विद्यार्थी तो इस सान्त्वना से भी वंचित रहते हैं और उनके पास परीक्षाओं की कठोरता के अतिरिक्त कोई दूसरा बहाना नहीं होता।

मैंने प्रसंग से कुछ हटकर यह सब कुछ केवल इसीलिए कहा है कि दुर्भाग्य-वश स्कूल और जीवन में जो सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है उसे मैं स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकूँ और इस बात पर जोर दे सकूँ कि जब तक इन दोनों के बीच उचित सम्पर्क स्थापित नहीं किया जायगा तब तक शिक्षा प्रभावहीन तथा कृत्रिम रहेगी और सामाजिक प्रगति के एक साधन के रूप में उसका कोई उपयोग नहीं किया जा सकेगा। इस दोष को अमरीका के डाक्टर जॉन ड्यूई ने जितने स्पष्ट रूप में समझा है और उसे दूर करने के लिए जितना काम उन्होंने किया है उतना आधुनिक काल के किसी दूसरे शिक्षण-शास्त्री ने नहीं। उन्होंने असन्दिग्ध रूप से इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया है कि स्कूल की सारी पढ़ाई तथा उसकी सारी समस्याओं को उस जीवन के ही प्रसंग में देखा जाना चाहिए जिससे वे मूलतः उत्पन्न होती हैं। प्रौढ़ जीवन की सामाजिक स्थितियों से सम्बन्धित सक्रिय 'व्यवसायों' के प्रचलन से स्कूलों की पढ़ाई में जो परिवर्तन आ रहा है उसका मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा है :

"ऐसा करने का मतलब यह होगा कि हम अपने प्रत्येक स्कूल को समाज का एक अंकुर रूप बना देंगे, जो सक्रिय होगा और जिसमें बृहत्तर समाज के जीवन के प्रतिबिम्बित करनेवाले व्यवसायों की शिक्षा देने का प्रबन्ध होगा और वे कला, इतिहास तथा विज्ञान की भावना से ओत-प्रोत होंगे। जब स्कूल समाज के हर बच्चे को प्रशिक्षण देकर इस प्रकार के छोटे समाज का सदस्य बना देंगे, उसमें सेवा की भावना कूट-कूट कर भर देंगे और उसे प्रभावशाली आत्म-निर्देशन के साधन प्रदान कर देंगे, तब हमारे लिए एक ऐसे बृहत्तर समाज का पूर्णतम तथा श्रेष्ठतम आश्वासन हो जायेगा जो सुयोग्य, सुन्दर तथा सामंजस्यपूर्ण होगा।"[१]

इस प्रकार हमारी पहली समस्या यह है कि हम स्कूलों को बड़े समाज के प्रतिरूप छोटे-छोटे 'समाजों' में परिवर्तित कर दें, जहाँ बच्चा प्रत्यक्ष रूप से जीवन का अनुभव प्राप्त करके सीखे। इस समय वे केवल 'ऐसे स्थान हैं जहाँ बच्चा कुछ ऐसे पाठ सीखता है जिनका उस जीवन के साथ एक अमूर्त तथा बहुत दूर का सम्बन्ध होता है, जो शायद भविष्य में चलकर उसे व्यतीत करना पड़े।' यह रूपान्तरण तभी सम्भव है जब स्कूल में मिल-जुलकर उत्पादनशील काम करने के तत्त्व का समावेश कर दिया जाये ताकि सामूहिक कर्त्तव्यों के पालन में भाग लेकर बच्चे आत्म-अनुशासन, नेतृत्व तथा सामाजिक एकबद्धता के सबक सीख सकें, जिनके बिना सामुदायिक जीवन असम्भव है। यदि स्कूल में सामूहिक रूप से काम करने का उद्देश्य तथा संगठन नहीं होगा तो विद्यार्थियों में समाजोपकार की उस भावना का संचार करना सम्भव नहीं होगा, जो उन्हें अपने सामाजिक समूह का सक्रिय तथा कार्यक्षम सदस्य बनाने का एकमात्र साधन है।

अगली समस्या यह है कि स्कूल को उसके एकान्त वातावरण से बाहर निकाला जाये और सामुदायिक जीवन के सभी उपयोगी पहलुओं के साथ उसका सम्बन्ध अभिन्न रूप से स्थापित कर दिया जाये। इसके लिए जरूरत इस बात की है कि बच्चे के स्कूल से बाहर के अनुभव का उपयोग स्कूल में किया जाये, और उसकी पढ़ाई को उस ज्ञान तथा जानकारी तथा रुचियों पर आधारित किया जाये जो वह अपने साथ लेकर स्कूल में आता है और इन चीजों के साथ उसकी पढ़ाई का सम्बन्ध स्थापित किया जाये। इस समय चूँकि अध्यापक इस बहुमूल्य अनुभव का उपयोग अध्यापन को प्रभावशाली बनाने के लिए नहीं कर पाते हैं इसलिए स्कूलों में हमारे बहुत-से प्रयास व्यर्थ जाते हैं। यह स्पष्ट है कि बच्चे के

---

१. ड्यूई : "स्कूल एण्ड सोसायटी"

ज्ञान तथा उसके कौशल में, सामाजिक सदाचार तथा सामाजिक जीवन के रूपों के बारे में उसकी अन्तर्दृष्टि में और प्रौढ़ मान्यताओं के बारे में उसकी बढ़ती हुई समझ-बूझ में जो सबसे स्थायी तत्त्व होते हैं उन्हें वह अपने घर में, खेल-कूद के मैदान में और अपने मित्रों, सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य लोगों के साथ सामाजिक आदान-प्रदान के दौरान में प्राप्त करता है। यह अध्यापक का काम है कि वह बच्चे के हित में इन बातों का उपयोग करे, और अपनी पढ़ाई के दौरान में बच्चा जिन प्रतीकों का परिचय प्राप्त करता है उनका सम्बन्ध उनके उस वास्तविक अर्थ के साथ स्थापित करे जो उस सामुदायिक जीवन में मूर्त्त रहता है जिसके बारे में बच्चा प्रतिदिन जानकारी प्राप्त करता रहता है। उदाहरण के लिए, उसे यह बात स्पष्ट रूप से समझायी जानी चाहिये कि भूगोल पशुओं, पेड़-पौधों और मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित उन तथ्यों तथा घटनाओं के एक सुव्यवस्थित तथा कुछ हद तक औपचारिक विवरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता जो बच्चे के जीवन में प्रतिक्षण उसे चारों ओर घेरे रहती हैं; कि 'निबन्ध' उन्हीं अनुभवों, विचारों तथा भावनाओं को दूसरों तक पहुँचाने का केवल एक दूसरा तरीका है, जिन्हें वह प्रतिदिन बोलकर दूसरों तक पहुँचाता है; कि गणित या वनस्पति-विज्ञान या स्कूल में पढ़ाया जानेवाला कोई भी दूसरा विषय साररूप में तथा प्रतीकरूप में उसी व्यापारिक जीवन अथवा खेतों पर के या बाग में के जीवन की अभिव्यक्ति मात्र है जिसे बच्चा स्वयं स्कूल के बाहर देखता है। किसी विषय को प्रस्तुत करने का यह ढंग अपनाने से बच्चे के अनुभव की एकता तथा उसका क्रम बना रहेगा और स्कूल के प्रभावों तथा बाहरी जगत् के प्रभावों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया में सुविधा मिलेगी। इससे स्कूल की पढ़ाई अधिक यथार्थनिष्ठ तथा सजीव हो जायेगी और बच्चे में अधिक स्वतःस्फूर्त रुचि उत्पन्न होगी। दूसरी दिशा में स्कूल के जो विचार बच्चा अपनी कक्षा से घर ले जायेगा उनके प्रभाव के फलस्वरूप उसमें ऐसा परिष्कार आयेगा और उसके दृष्टिकोण में ऐसी व्यापकता आयेगी कि उसे अपने स्कूल के बाहर के जीवन में बड़ी सहायता मिलेगी। निस्संदेह इसके लिए हमें अपने दृष्टिकोण को बदलना पड़ेगा और कुछ ऐसी चिरपोषित धारणाओं को त्यागना पड़ेगा जिनका स्कूल के जीवन के संगठन पर हमेशा से प्रभुत्व रहा है। इसका अर्थ होगा प्रतिस्पर्द्धा के मुकाबले में सहयोग को, जो भी बात बतायी जाये उसे निष्क्रिय रूप से ग्रहण कर लेने की प्रवृत्ति के मुकाबले में मिल-जुलकर काम करने की प्रवृत्ति को प्रधानता देना और समस्याओं को हल करने के वर्तमान अत्यधिक पद्धतिबद्ध तथा तर्कसंगत तरीकों को त्यागकर अन्य ऐसे तरीके अपनाना जो देखने में कम सुसंगठित लगते हों पर जो वास्तव में मनोविज्ञान के अधिक

अनुकूल हों। हम जिस जगह से शुरुआत करेंगे वह ज्ञान के पद्धतिबद्ध ऐसे निकाय नहीं होंगे जिन्हें बड़े सुचारु रूप से सुव्यवस्थित तथा वर्गीकृत कर दिया गया हो—और उनमें से हर एक का अलग एक नाम रख दिया गया हो, बल्कि वह बच्चे के चारों ओर का सबसे निकट का वातावरण तथा सामुदायिक जीवन होगा। परम्पराओं में जकड़े हुए अध्यापक पहले तो इसका मजाक उड़ायेंगे और फिर विरोध प्रकट करेंगे, परन्तु इससे बच्चों को जो उल्लास मिलेगा और उनकी सृजनात्मक शक्तियों को जो उन्मुक्तता प्राप्त होगी उससे बच्चों को इतना लाभ होगा कि हमें इस उपहास तथा विरोध को भी सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए।

अब तक मैंने इस समस्या के एक महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर संकेत किया है—अर्थात् इस पहलू की ओर कि स्कूल का सामुदायिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहना चाहिए। परन्तु इसी से बहुत निकट रूप से सम्बन्धित दो समस्याएँ और भी हैं जिन पर संक्षेप में विचार कर लेना इस चित्र को पूरा करने के लिए आवश्यक है। पहली यह कि इस सम्पर्क को स्थापित करने के लिए कौन-से तरीके इस्तेमाल किये गये हैं या किये जा सकते हैं? दूसरी यह कि इस सामान्य सिद्धान्त का भारत में पाये जानेवाले विभिन्न प्रकार के स्कूलों पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

पहली समस्या पर हमें बहुत समय नहीं व्यय करना पड़ेगा क्योंकि वह वास्तव में एक ऐसी समस्या है जिसे प्रत्येक स्कूल को अलग-अलग हल करना पड़ेगा। यह इस पर निर्भर है कि उस स्कूल की विशिष्ट परिस्थितियाँ क्या हैं और जिस जगह वह स्कूल है वहाँ पर किस प्रकार का जीवन और किस-किस प्रकार के अध्यवसाय पाये जाते हैं। देहात के प्राइमरी स्कूल का अध्यापक गाँव के जीवन को सुधारने के लिए बहुत-कुछ कर सकता है और ऐसा करते हुए समाज में अपनी प्रतिष्ठा तथा मर्यादा स्थापित कर सकता है। परन्तु इस समस्या का एक अधिक व्यापक पहलू भी है जिसमें यह पहलू सम्मिलित है। केवल अध्यापक को ही अपने आपको सामुदायिक जीवन का केन्द्र और ज्ञान की ज्योति प्रसारित करनेवाला स्रोत नहीं बनाना है—पूरे स्कूल को इस स्थिति में होना पड़ेगा। इस समय भारत में स्कूलों की व्यवस्था में यह कमजोरी है कि लोग इस बात को समझते नहीं, और समझ सकते भी नहीं, कि स्कूल उनकी अपनी एक संस्था है, उसकी चिन्ता स्वयं उन्हें करना है। व्यावहारिक दृष्टि से स्कूल भी उसी प्रकार एक सरकारी समस्या हैं, वे उसी प्रकार सरकार की संस्था हैं जैसे न्यायालय या रेलें या जेलखाने! हमारे स्कूलों को भी वही बन जाना चाहिए

जिसके लिए जर्मनों तथा स्कैंडीनेविया-वासियों ने एक बहुत अच्छा नाम चुना है—'वोक्स्कूल', सच्चे अर्थ में 'जनता का स्कूल'।

'जनता के स्कूल' को स्पष्टतः जनता की समस्याओं तथा आवश्यकताओं पर आधारित होना चाहिए। उसकी पाठ्यचर्या को उनके जीवन का निचोड़ होना चाहिए। उसके काम करने के तरीके जनता के काम करने के तरीकों-जैसे ही होने चाहिए। उसे उन तमाम चीजों को प्रतिबिम्बित करना चाहिए जो समाज के जीवन के स्वाभाविक रूप में महत्त्वपूर्ण तथा लाक्षणिक होती हैं। उदाहरण के लिए, देहातों में स्कूलों को चाहिए कि वे बच्चों को सहानुभूति की भावना के साथ ग्राम्य जीवन की समस्याओं को समझने में सहायता दें और स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर लेने के बाद उस जीवन में प्रभावशाली ढंग से भाग लेने के लिए प्रशिक्षित करें। गाँव के स्कूल में पढ़नेवाले विद्यार्थी के लिए पौधों तथा पशुओं की जानकारी, खेती-बारी तथा बागवानी की जानकारी, निजी स्वास्थ्य तथा सफाई के नियमों की जानकारी, गाँव के जीवन के लिए हितकर तथा हानिकर तत्त्वों की जानकारी को गणित के हवाई सवालों या कोई विदेशी भाषा सीख लेने की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। उसके मन में प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न होना चाहिए और उसे हाथ से किये जानेवाले उत्पादनशील काम का महत्त्व समझना चाहिए; उसे सैद्धान्तिक तथा किताबों पर आधारित पढ़ाई को इसीलिए महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए कि उसके प्रभाव से उसके व्यक्तित्व के सुसंस्कृत रूप में एक व्यापकता आती है और वह अपने चारों ओर जो कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ पाता है उन्हें समझने तथा हल करने में इस पढ़ाई से सहायता मिलती है। इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्रों में स्कूलों को चाहिए कि वे बच्चे को धीरे-धीरे औद्योगिक औजारों तथा प्रक्रियाओं से और कारखानों में पायी जानेवाली जीवन की परिस्थितियों से परिचित करायें ताकि वह इस परिस्थिति के प्राविधिक तथा मानवीय दोनों ही तत्त्वों को समझ सके। उसे इन विविध नागरिक समस्याओं में दिलचस्पी लेना शुरू कर देना चाहिए जो इन बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न हुई हैं और उसे पुस्तकों तथा अपनी पढ़ाई को उस ज्ञान तथा शक्ति के स्रोतों के रूप में महत्त्व देना चाहिए जिनकी बदौलत एक मनुष्य की हैसियत से और समाज के एक उत्पादनशील सदस्य की हैसियत से उसकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है। यदि स्कूलों की पाठ्यचर्या उतनी ही किताबी रही जितनी कि इस समय है, यदि अपने कार्यक्रम, अध्यापन-प्रणाली तथा अनुशासन का संगठन करने में उन्होंने उस स्थान-विशेष की आवश्यकताओं तथा समस्याओं के लिए गुंजाइश न रखी तो वे जन-

साधारण में दिलचस्पी नहीं पैदा कर सकेंगे, उनकी सहानुभूति तथा समर्थन नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

परन्तु इतना ही काफी नहीं है। स्कूलों को इससे भी आगे बढ़ना होगा और समाज के कल्याण में सक्रिय रूप से दिलचस्पी लेनी होगी। स्कूल और समाज के जीवन के बीच यह निकट सहयोग स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये गये हैं। दृष्टान्त के रूप में उस चीज का उल्लेख किया जा सकता है जिसे अमरीका में 'गैरी योजना' कहा जाता था। यहाँ पर इस योजना पर विस्तारपूर्वक चर्चा करने की जरूरत नहीं है, परन्तु मैं दो बुनियादी विचारों का उल्लेख करूँगा जिन पर यह योजना आधारित है; इनका उल्लेख करने में मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि उनमें कोई असाधारण बात नहीं है और यह कि स्कूल के लक्ष्य के बारे में हमारा जो मत है उसे यदि स्वीकार कर लिया जाये तो हमारे अधिक समझदार अध्यापकों को इस प्रकार के विचार स्वाभाविक रूप से सूझने लगेंगे।

पहली बात तो यह कि इस योजना के अन्तर्गत विभिन्न विषयों के अध्यापन का समाज के जीवन के साथ सक्रिय सम्पर्क स्थापित कर दिया जाता है, उदाहरण के लिए, भौतिकी तथा रसायन का सम्बन्ध समझ लीजिये, नगरपालिका द्वारा घरों में पहुँचाये जानेवाले पानी को शुद्ध करने और मिठाई आदि को रोगाणुओं से सुरक्षित रखने की समस्याओं के साथ या नागरिक-शास्त्र के अध्यापन का सम्बन्ध नगर के वास्तविक जीवन के साथ स्थापित कर दिया जाता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले समाज के सदस्यों को आमंत्रित किया जाता है कि वे स्कूल में बच्चों को अपने प्रत्यक्ष तथा निजी अनुभवों से लाभान्वित करें। दूसरी बात यह कि बच्चों के माता-पिता शाम के समय स्कूल की इमारत को इस्तेमाल करते हैं। वहाँ उनका क्लब और विचारों के आदान-प्रदान का केन्द्र बन जाता है—एक प्रकार का सामाजिक 'भुगतान का केन्द्र'—जहाँ अध्यापक और बच्चों के माता-पिता आपस में मिलकर मित्रों की तरह उन शिक्षा-सम्बन्धी तथा सामाजिक समस्याओं पर बहस कर सकते हैं जिनका उन्हें सामना करना पड़ता है और जिनमें उन दोनों ही को दिलचस्पी होती है।

शिक्षा की ओर इस प्रकार के रवैये के लाभ स्पष्ट हैं। स्कूल सचमुच सामाजिक जीवन का केन्द्र बन जाता है, जहाँ से ज्ञान की ज्योति प्रसारित होती है और सुधार का आन्दोलन फैलता है। टैक्स अदा करनेवाले नागरिक यह महसूस करने लगते हैं कि वे जो पैसा देते हैं उसके बदले में उन्हें सचमुच कुछ मिल भी रहा है और वे सचमुच स्कूल की भलाई में दिलचस्पी लेने लगते हैं,

और इस प्रकार स्कूल सबसे अलग-थलग न रहकर एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक केन्द्र के रूप में अपना वास्तविक स्थान प्राप्त कर लेता है। अध्यापक भी अपने पद तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि करके समाज के उस समूह का नेता बन सकता है, यदि उसमें ऐसा करने की क्षमता हो। अपनी वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों के प्रसंग में विभिन्न विज्ञानों तथा अन्य विषयों की शिक्षा प्राप्त करने से लड़कों को भी अत्यधिक लाभ होता है और वे स्कूल में प्राप्त किये गये ज्ञान का उपयोग बड़ी आसानी से समाज के जीवन में कर सकते हैं, जिसका परिचय वे प्राप्त कर चुके होते हैं।

अन्त में, आइये हम संक्षेप में ऐसी कुछ बातों पर विचार करें जो एक औसत भारतीय स्कूल इस सिलसिले में कर सकता है।

१. शहरों में और देहातों में दोनों ही जगह स्कूल प्रौढ़-शिक्षा अथवा समाज-शिक्षा के केन्द्र बन जाने चाहिए। उन्हें नियमित रूप से निरक्षरता को दूर करने का आन्दोलन चलाना चाहिए और विद्यार्थियों के माता-पिता को भी शिक्षा देना चाहिए; उन्हें केवल लिखना, पढ़ना और थोड़ा बहुत हिसाब लगाना ही नहीं सिखाया जाना चाहिए बल्कि स्वास्थ्य तथा सफाई, समाज-संगठन तथा सामूहिक जीवन के साधारण नियम और कानून भी सिखाये जाने चाहिए। इस काम में अध्यापकों और बड़ी कक्षाओं के छात्रों को भाग लेना चाहिए, जिससे उन्हें समाज-सेवा का बहुमूल्य अभ्यास होगा। इधर कुछ वर्षों के दौरान में केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों ने और गैर-सरकारी संस्थाओं ने 'समाज-शिक्षा' की अनेक योजनाएँ बनायी हैं और इस दिशा में कुछ उपयोगी काम किया गया है। परन्तु पैसे और अच्छे कर्मचारियों की कमी की वजह से इस प्रकार के सभी प्रयासों में बहुत बाधाओं का सामना करना पड़ा है। समाज-शिक्षा का अन्तिम रूप कुछ भी बने, स्कूलों की इस सिलसिले में एक निश्चित भूमिका है और उन्हें निःस्वार्थ भाव से इस आन्दोलन का श्रीगणेश करना चाहिए। यदि वे यह काम कर लेंगे तो मुझे विश्वास है कि अन्त में चलकर उन्हें नाना प्रकार से इसका अच्छा फल मिलेगा।

२. सभी स्कूलों को किसी-न-किसी प्रकार के सामाजिक सर्वेक्षण क्लब संगठित करने चाहिए जो अपने आस-पास के समाज के जीवन की कुछ तात्कालिक आवश्यकताओं तथा समस्याओं के बारे में छान-बीन करने का काम अपने हाथ में लें, जैसे सड़कों की दशा, नगर अथवा गाँव में गन्दे पानी की नालियों की व्यवस्था, आस-पास के इलाकों में स्वास्थ्य तथा सफाई से सम्बन्धित परिस्थितियाँ, रोग फैलने के स्रोत, खाद्य-सामग्री के संभरण की व्यवस्था, उस क्षेत्र

विशेष के मुख्य उद्योग तथा व्यवसाय। इस प्रकार की हर छान-बीन का काम ऐसे लड़कों की एक छोटी-सी टोली के जिम्मे हो जिन्हें उस समस्या में दिलचस्पी हो और जिन्होंने उस समस्या का कुछ अध्ययन किया हो; इन लड़कों को किसी ऐसे अध्यापक के निर्देशन में काम करना चाहिए जो उनकी सहायता करे और उन्हें यह बताये कि वे किस प्रकार आगे बढ़ें। अन्त में उन्हें एक रिपोर्ट तैयार करना चाहिए जिसमें वे अपने सुझाव भी शामिल करें और यदि आवश्यक हो तो यह रिपोर्ट स्कूल के हेडमास्टर की मारफत नगरपालिका के पास भेज दी जाये। इस प्रकार के आयोजनों में उपयोगी काम की जो सम्भावनाएँ निहित हैं उन्हें जितना भी बढ़ा-चढ़ाकर आँका जाये कम है। यह हो सकता है कि बूढ़े अध्यापक इस प्रकार के 'परम्परा के विरुद्ध' कामों का मजाक उड़ायें, पर सभी समझदार लोग धीरे-धीरे इस बात में विश्वास रखने लगे हैं कि बच्चे के आस-पास के वातावरण का अध्ययन उसकी प्रारम्भिक शिक्षा का एक अभिन्न अंग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसकी स्कूल की पढ़ाई पर भी इसका अत्यन्त हितकर प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि इससे उसकी स्कूल की पढ़ाई को एक प्रेरणा तथा उद्देश्य की ज्योति प्राप्त होगी और उसमें ऐसी यथार्थता तथा वास्तविकता का समावेश हो जायेगा जिससे अब तक उसे वंचित रखा गया है।

३. ऊपर कही गयी बातों के ही प्रसंग में यह निष्कर्ष निकलता है कि स्कूलों में किसी-न-किसी प्रकार के समाज-सेवा संघ भी होने चाहिए। केवल इतना ही काफी नहीं है कि हम यह जान लें कि हमारे चारों ओर की परिस्थितियों में क्या दोष हैं—हमें इन दोषों को दूर करने में भी अपनी शक्ति-भर थोड़ा-बहुत योग देना पड़ेगा। जब भी इन संघों की सहायता की आवश्यकता होगी वे अपनी सेवाएँ अर्पित करने के लिए आगे आयेंगे—बाढ़ के समय, महामारी फैल जाने पर, या किसी उत्सव अथवा जलूस के अवसर पर, या इसी प्रकार के किसी अन्य अवसर पर जहाँ अनुशासित ढंग से काम करने की आवश्यकता हो। उनके काम को बड़े उपयोगी ढंग से स्काउट संगठन के साथ समन्वित किया जा सकता है क्योंकि वह भी ऐसे ही उद्देश्यों तथा आदर्शों द्वारा उत्प्रेरित है। ये संघ पुस्तकें तथा छात्रवृत्तियाँ देकर, या अन्य किसी रूप में सहायता देकर, स्कूल के अंदर ही गरीब तथा जरूरतमंद लड़कों की सहायता करने का काम अपने हाथ में ले सकते हैं। इस प्रकार की बातें न केवल विदेशों में की गयी हैं बल्कि मैं भारत में भी अनेक ऐसी संस्थाओं को जानता हूँ जहाँ विद्यार्थी इस प्रकार का काम सफलतापूर्वक कर रहे हैं। इस प्रसंग में मैं अध्यापकों का ध्यान कुछ वर्ष पहले बम्बई सरकार के शिक्षा परामर्शदाता के कार्यालय द्वारा प्रकाशित

'स्कूलों में समाज-सेवा' ('सोशल सर्विस इन स्कूल्स') नामक पुस्तिका की ओर आकर्षित कराना चाहूँगा। इस पुस्तिका में बम्बई राज्य के कई स्कूलों में स्वैच्छिक रूप से किये जानेवाले सामाजिक कार्य से सम्बन्धित प्रयोगों का वर्णन किया गया है। यदि यह सच है कि जिस काम को एक आदमी ने पूरा कर लिया है उसे दूसरा आदमी भी कर सकता है, तो यह कहना तो और भी बड़ी हद तक सच है कि इन स्कूलों में समाज-सेवा का जो काम किया गया है उसकी कोशिश दूसरे स्कूलों में भी किसी-न-किसी रूप में की जा सकती है और उसमें काफी सफलता प्राप्त की जा सकती है।

और इस प्रकार की समाज-सेवा स्कूलों तक ही सीमित नहीं रखी जानी चाहिए। मैंने स्कूल शब्द का प्रयोग सभी शिक्षा-संस्थाओं के अर्थ में किया है। कालेजों तथा विश्वविद्यालयों का तो यह और भी बड़ी हद तक कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र के जीवन के पुनर्निर्माण में हाथ बँटायें और उच्च शिक्षा के क्षेत्र को और विस्तृत करें और अपनी स्थानीय बस्ती की सीमाओं के बाहर पूरे देश में संस्कृति का प्रसार करें। योरप के कई देशों में, जहाँ मुझे विद्यार्थियों की गतिविधियों का अध्ययन करने का कुछ अवसर मिला है, मैं यह देखकर अत्यंत प्रभावित हुआ कि विश्वविद्यालयों तथा कालेजों के विद्यार्थी कितने बड़े-बड़े कामों का बीड़ा उठाकर उन्हें सफलतापूर्वक पूरा करते हैं। परंतु उनके सामने न केवल इस बात का खतरा था कि उनका बौद्धिक जीवन नष्ट हो जाये बल्कि कुछ उदाहरणों में तो इस बात का भी खतरा पैदा हो गया था कि विद्यार्थी वर्ग शायद जीवित ही न बचे। उनकी यह सेवा केवल अपने देशवासियों तथा अपने देश तक ही सीमित नहीं थी। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले और उसके बाद दूसरे देशों में समाज-सेवा तथा शारीरिक श्रम करने में 'इंटरनेशनल स्टूडेण्ट सर्विस' जैसे संगठन की जो भूमिका रही वह संघर्षों तथा द्वेषों से भरी हुई इस दुनिया में आशा की एक किरण है।

इसलिए शिक्षा को उसके एकान्तवास से बाहर निकाला जाना चाहिए और मानव-जाति की श्रेष्ठतम सामाजिक तथा बौद्धिक क्रिया के रूप में उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। यहाँ पर संक्षेप में जिन विचारों पर चर्चा की गयी है, उन्हें जब तक स्कूल नहीं अपनायेंगे—जाहिर है, अपनी विशेष आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार—तब तक वे राष्ट्र के जीवन पर कोई शक्तिशाली अथवा जीवनप्रद प्रभाव डालने में सफल नहीं होंगे। और शिक्षा-व्यवस्था के विरुद्ध इस समय जो असंतोष है वह बढ़ता जायेगा और उसके ऐसे अरुचिकर परिणाम होंगे जिनकी कल्पना कोई भी शिक्षाशास्त्री सही-सही नहीं कर सकता।

: २ :

भावी स्कूल के बारे में इस बहस को सार-रूप में रखने के लिए और पाठकों के सामने उसका एक रेखा-चित्र प्रस्तुत करने के लिए मैं नीचे ड्यूई की पुस्तक 'स्कूल एण्ड सोसायटी' से तीन चित्र दे रहा हूँ, जिनका उद्देश्य यह दिखाना है कि किस प्रकार भविष्य के स्कूल का समाज के जीवन के साथ अभिन्न संबंध रहेगा, किस प्रकार उत्पादनशील तथा रचनात्मक सामाजिक गतिविधियों के आधार पर उसका आंतरिक जीवन संगठित किया जायेगा और फलस्वरूप किस प्रकार वह एक ऐसे स्फूर्तिदायक तथा सृजनात्मक वातावरण में परिवर्तित हो जायेगा जहाँ बच्चे उन सभी चीजों के प्रेरणाप्रद सम्पर्क में रह सकेंगे जो मानव-जाति की उपलब्धियों में स्थायी महत्त्व रखती हैं और इस प्रकार चीजों को समझने, उनका मूल्यांकन करने तथा नियंत्रण रखने की उनकी शक्ति बढ़ेगी। चित्रों के आधार-भूत विचारों को स्पष्ट करने के लिए हर चित्र के साथ संक्षिप्त व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दे दी गयी हैं।

चित्र १

स्कूल और उसका परिवेश
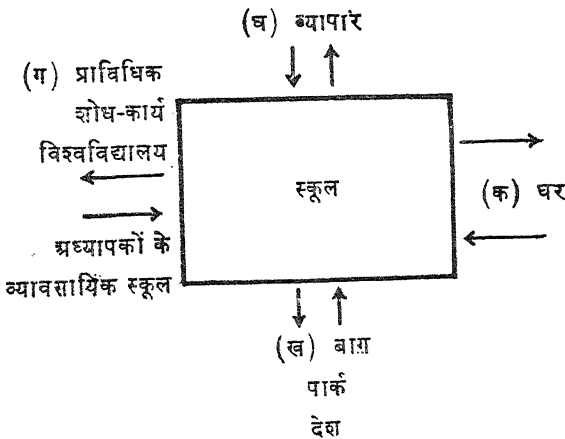
इस चित्र में स्कूल की कल्पना सामाजिक जीवन के एक अभिन्न अंग के रूप में की गयी है; समाज की विभिन्न महत्त्वपूर्ण 'संस्थाओं' के साथ उसका

पारस्परिक सम्बन्ध है, वह उन पर प्रभाव डालता है और उलटकर उस पर उनका प्रभाव पड़ता है; और वह अपनी पाठ्यचर्या तथा विषय-वस्तु प्रौढ़ समाज के समृद्ध तथा वैविध्यपूर्ण जीवन से ग्रहण करता है। निम्नलिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं :

(क) घर और स्कूल के बीच विचारों, प्रभावों तथा सामग्रियों की उन्मुक्त क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है।

(ख) आस-पास की प्राकृतिक परिस्थितियों के साथ स्कूल का गहरा सम्बन्ध रहता है, जिनका अध्ययन आगे चलकर 'भूगोल' तथा विज्ञान का रूप धारण कर लेता है।

(ग) इस व्यवस्था के उच्चतम तथा निम्नतम अंगों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। विश्वविद्यालयों तथा अध्यापकों के ट्रेनिंग कालेजों में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, जीव-विज्ञान आदि के क्षेत्रों में जो काम हो रहा है उससे स्कूल की प्रणालियों तथा समस्याओं के बारे में समझ-बूझ बढ़ेगी और उनकी सैद्धान्तिक खोजों की सार्थकता स्कूलों में व्यवहार की कसौटी पर परख ली जायेगी।

(घ) स्कूल और व्यापार तथा उद्योग की समस्याओं तथा आवश्यकताओं के बीच उन्मुक्त क्रिया-प्रतिक्रिया होनी चाहिए। इसका मतलब यह है कि बच्चे को किसी एक पेशे के लिए तैयार नहीं किया जाता बल्कि बच्चे में समाज के व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्धों की—फैक्टरी, बैंक, श्रम, शिल्प, कृषि, इत्यादि की—चेतना सामूहिक गतिविधियों के रूप में जाग्रत की जाती है। स्कूल का काम यह होगा कि वह ऊँची कक्षाओं में वैकल्पिक पाठ्यक्रमों की सुविधा प्रदान करके बच्चे में कोई व्यवसाय अपनाने से पहले ही उस व्यवसाय के प्रति तीव्र रुचि उत्पन्न कर दे और स्कूल को यह भी करना होगा वह जीवन के अधिक व्यापक तथा अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों के साथ व्यावसायिक पहलू का सम्बन्ध दिखाकर इस पहलू को इतना संकुचित न रहने दे। हमारे पुनर्गठित माध्यमिक स्कूल—'बहु-प्रयोजन' स्कूल—यही करने की कोशिश कर रहे हैं।

चित्र २ तथा चित्र ३ (अगले पृष्ठों पर) में स्कूल की इमारत का नक्शा नहीं प्रस्तुत किया गया है बल्कि प्रतीक-रूप में स्कूल के आन्तरिक वातावरण तथा उसके क्रियाकलापों का मोटा-मोटा चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

चित्र १

स्कूल का निचला खंड
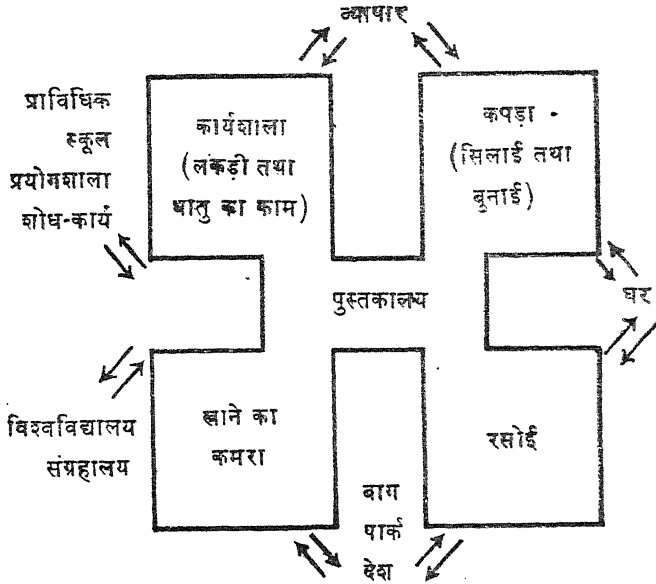
चित्र २ में निम्नलिखित बातें दिखायी गयी हैं :

१. एक तरफ रसोई तथा खाने का कमरा है; घर में होनेवाले कामों तथा भौतिक वातावरण के और स्कूलों के बीच जो सम्बन्ध है वह स्पष्ट है। इनसे सम्बन्धित व्यवसायों के प्रसंग में बच्चे स्कूल की भौगोलिक परिस्थितियों, जीव-विज्ञान, कृषि तथा गृह-विज्ञान के बारे में बहुत कुछ सीखेंगे और अन्य उपयोगी जानकारी प्राप्त करेंगे।

२. दूसरी तरफ लकड़ी तथा धातु के काम की कार्यशालाएँ और कपड़े की बुनाई तथा सिलाई के कमरे हैं, जो सभ्य जीवन के कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय हैं, जिनके लिए औजारों और औद्योगिक प्रक्रियाओं तथा उद्योगों द्वारा तैयार की जानेवाली चीजों की जानकारी आवश्यक होती है, और इन कामों के दौरान में गणित, रेखागणित, यान्त्रिकी आदि की जानकारी का उपयोग करना पड़ता है। स्कूल तथा व्यापारिक जीवन के बीच होनेवाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया दो दिशाओं में संकेत करनेवाले तीरों द्वारा इंगित की गयी है।

३. बीच में स्थित पुस्तकालय इस बात का द्योतक है कि अपनी इच्छा से किये गये या अध्यापकों द्वारा निर्देशित अध्ययन के फलस्वरूप ज्ञान में जो व्यापकता तथा सुव्यवस्था आयेगी उसके द्वारा इन सारी गतिविधियों में निखार आयेगा, वे संकुचित नहीं रह जायेंगी और उनके महत्त्व में वृद्धि होगी। पुस्तकालय से यहाँ अभिप्राय कक्षाओं में होनेवाली पढ़ाई, विचार-गोष्ठियों और व्यावहारिक क्रिया की अनुभूत आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले सैद्धान्तिक अन्वेषणों से है। वह इस बात का भी द्योतक है कि पुस्तकों से प्राप्त किया गया ज्ञान यद्यपि व्यावहारिक क्रियाओं की तुलना में गौण महत्त्व रखता है, परन्तु ज्ञान की व्याख्या तथा उसके विस्तृत विवेचन की दृष्टि से और बच्चों की क्षमता तथा उनकी नियन्त्रण-शक्ति को बढ़ाने की दृष्टि से वह सर्वाधिक महत्त्व रखता है।

चित्र ३

स्कूल का ऊपरी खंड
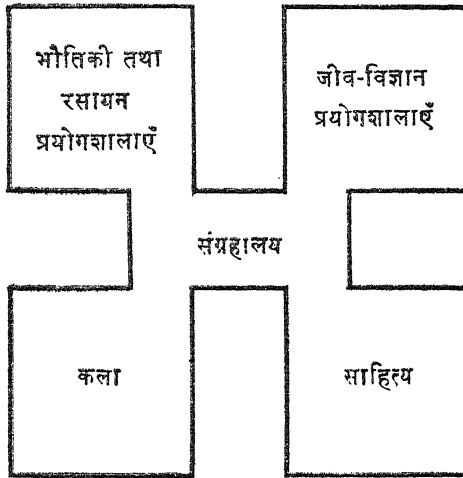
चित्र ३ में स्कूल की गतिविधियों के सैद्धान्तिक पहलू को प्रतीक-रूप में प्रस्तुत किया गया है और यह दिखाया गया है कि व्यवहार से किस प्रकार सिद्धान्त का विकास होगा, जो समस्याएँ उत्पन्न होंगी उन्हें किस प्रकार अध्ययन तथा स्पष्टीकरण के लिए प्रयोगशालाओं में लाया जायेगा। निम्नलिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं :

(क) कार्यशाला या बाग में उठनेवाली भौतिकी, रसायन तथा जीव-विज्ञान से सम्बन्धित समस्याएँ इन विषयों से सम्बन्धित अलग-अलग प्रयोगशालाओं में ले जायी जायेंगी और वहाँ उनका समाधान किया जायेगा।

(ख) हर सच्ची कला का स्रोत शिल्पकार का काम है। कार्यशालाओं में जो काम होगा और बच्चे जिन अवकाशकालीन रुचियों को अपनायेंगे उनके फलस्वरूप कला की कक्षा में ड्राइंग, चित्रकला, डिजाइन बनाने तथा माडल तैयार करने के कामों की उत्पत्ति होगी।

(ग) साहित्य स्कूल के पूरे काम को समन्वित करने का साधन होगा और उसके प्रभाव से हर क्षेत्र की संकीर्णता कम हो जायेगी : साहित्य, जिसमें उच्च कोटि की ऐसी गद्य तथा पद्य रचनाएँ ही नहीं होंगी जिनमें वह सब कुछ मूर्त्त है जो मनुष्य ने सहन किया है, जिसके मनुष्य ने स्वप्न देखे हैं और जिसे मनुष्य ने कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है, बल्कि उसमें मानविकी के अन्य तत्त्व भी होंगे—इतिहास, मानव भूगोल, इत्यादि।

(घ) मध्य भाग में स्थित संग्रहालय समस्त सृजनात्मक कार्य के संग्रह का प्रतीक होना चाहिए, चाहे वह काम स्कूल में किया गया हो या स्कूल के बाहर, और उसे प्रेरणा के एक स्रोत तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के वाहक के रूप में काम करना चाहिए।

जब हमारे स्कूलों की कल्पना इस रूप में की जायेगी और उन्हें इस योजना के अनुकूल ढाल लिया जायेगा, जब वे अपने चारों ओर की दीवारों को तोड़कर जीवन की धाराओं को अनुभव करने लगेंगे तब हम शिक्षा के क्षेत्र में एक अत्यन्त शक्तिशाली क्रान्ति कर देंगे, ऐसी क्रान्ति जिसकी कल्पना करना भी इस समय हमारे लिए कठिन है।

६

सुख के लिए शिक्षा (१)

: १ :

इस अध्याय के शीर्षक में मैंने दो ऐसे शब्दों को एक साथ रखा है जो बहुधा एक-दूसरे के साथ नहीं रहते और विभिन्न विचारधाराओं के माननेवाले लोग तथ्यों के आधार पर या सैद्धान्तिक आधार पर इस संयोजन पर आपत्ति कर सकते हैं। इस समय स्कूलों में जिस रूप में शिक्षा दी जाती है उस रूप में वह सुख का स्रोत नहीं हो सकती; बच्चों तथा किशोरवयस्क बालक-बालिकाओं के जीवन में जो थोड़ा-बहुत सुख तथा उल्लास किसी तरह आ जाता है वह एक तरह से संयोग की ही बात है—स्कूल उनके जीवन में इस सुख तथा उल्लास का संचार सचेतन रूप से नहीं करते, बल्कि स्कूल से बाहर के उनके जीवन के फलस्वरूप और सामूहिक जीवन व्यतीत करने की क्रिया-मात्र से उल्लसित होने की दिशा में उनकी स्वाभाविक प्रेरणाओं के फलस्वरूप ये चीजें अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं। उच्च शिक्षा की संस्थाओं में, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में, सुखकर सामाजिक जीवन तथा बन्धुत्व की भावना का बहुत काफी अंश रहता है; वहाँ खेल-कूद और विभिन्न प्रकार की अन्य सामूहिक गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया जाता है, और उस थोड़े से समय को छोड़कर जब परीक्षा का भूत बिलकुल सिर पर आ जाता है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, विद्यार्थी 'मजे की जिंदगी' बिताते हैं, जिसका प्रमाण यह है कि बाद में वे बहुधा बहुत रस लेकर अपने जीवन के उन चिन्तामुक्त दिनों को याद करते हैं। परन्तु इस प्रसंग में भी हमारे सामने यह प्रश्न आता है : क्या उन्हें सुखी रहने की शिक्षा दी जा रही है? क्या उनकी शिक्षा उन्हें वह बौद्धिक दृष्टिकोण तथा भावनाओं से सम्बन्धित ऐसे गुण प्रदान करती है जो सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक हैं? कालेज या विश्वविद्यालय के विशेष रूप से तैयार किये गये तथा सुरक्षित वातावरण में जीवन का आनन्द प्राप्त कर लेना एक बात है और व्यापक, अरक्षित संसार में, जहाँ हर व्यक्ति को स्वयं अपने ही साधनों पर निर्भर

रहना पड़ता है और स्वयं अपने अन्तरतम की गहराइयों से शक्ति तथा प्रेरणा प्राप्त करनी पड़ती है, वहाँ जीवन को सफल तथा सुखी बनाना बिल्कुल ही दूसरी बात है। यदि हमारी उच्च शिक्षा की व्यवस्था लोगों को सुखी जीवन व्यतीत करने की प्रशिक्षा देने में सफल होती तो हमारा यह मान लेना उचित होता कि अनपढ़ किसानों, मजदूरों तथा शिल्पकारों की अपेक्षा, जिन्हें बाकायदा किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करना नसीब नहीं हुआ, सुशिक्षित वर्गों के लोगों के बीच सुख की मात्रा अधिक होनी चाहिए और उनके बीच प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में बहुत-सुख आना चाहिए। परन्तु पढ़े-लिखे लोगों के जीवन में हम उनके जीवन की लाक्षणिक विशेषताओं के रूप में जितना असन्तोष तथा संघर्ष और उनके विचारों तथा भावनाओं में जितनी अशान्ति देखते हैं उसके कारण हम इस प्रकार की कोई बात नहीं मान सकते और हम इस बात पर आश्चर्य करते रह जाते हैं कि आखिर शिक्षा और सुख साथ-साथ क्यों नहीं रह सकते।

दूसरी ओर, हर नैतिक आदर्शवादी एक बिल्कुल ही दूसरे दृष्टिकोण से इस विचार पर बहुत नाक-भौं सिकोड़ेगा। वह इस परिस्थिति से सम्बन्धित तथ्यों का तो खण्डन नहीं करेगा परन्तु हमारी प्रस्थापनाओं की सार्थकता के विषय में अत्यन्त गम्भीर शंकाएँ अवश्य प्रकट करेगा। सुखी जीवन के लिए शिक्षा आखिर क्यों होनी चाहिये? जीवन एक कष्टसाध्य यात्रा है और साधारण व्यक्ति के लिए वह आनन्द तथा उल्लास का कोई निष्कंटक मार्ग नहीं प्रदान करता। सुखवादियों (हीडोनिस्टों) की परम्पराओं का अनुसरण करके जो भी सुख के विचार में डूबा रहेगा उसे कुछ समय बाद वह दण्ड अवश्य मिलेगा जो इस प्रकार का अपराध करनेवाले के लिए उचित दण्ड है। नैतिक आदर्शवादी कहेगा कि शायद आप शिक्षा को सुखद बनाने में, उसके कड़वेपन पर मिठास का एक आवरण चढ़ा देने में और बच्चों तथा किशोरवयस्क बालक-बालिकाओं को उस बँधे हुए ढर्रे तथा उन कष्टसाध्य नीरस कामों से और उस आत्म-त्याग से सुरक्षित रखने में सफल हो जायें जिनकी कि जीवन हमसे माँग करता है परन्तु इससे लाभ क्या होगा? कल जब आपके ये सुकोमल, गमलों में सींच-सींचकर उगाये गये पौधों जैसे विद्वान् आधुनिक जगत् में प्रवेश करेंगे, जहाँ खींचातानी और प्रतिस्पर्द्धा और प्रलोभनों का बोलबाला है, तो वे बिलकुल बौखला जायेंगे और वे अपने अन्दर जीवन की इन दुःसाध्य परिस्थितियों का सामना करने तथा उसके तकाजों को पूरा करने की क्षमता नहीं पायेंगे। आदर्शवादी केवल कार्यक्षमता तथा सांसारिक जीवन की सफलता के दृष्टिकोण से हमारे इस मत पर आपत्ति नहीं करेगा; वह नैतिक नियमों और 'सुस्पष्ट आदेशों' की दुहाई

देगा और उपेक्षा की उस भावना के साथ, जो श्रेष्ठतर ज्ञान रखनेवाले हर आदमी में आ ही जाती है, यह पूछेगा कि हम बच्चे के नैतिक बल को सुदृढ़ करने के लिए और उसे इस बात की शिक्षा देने के लिए क्या कर रहे हैं कि वह अपने जीवन को उन चीजों के बजाय जो किसी समय विशेष पर क्षणिक रूप से उपयोगी, सरल तथा सन्तोषप्रद हों, ऐसी चीजों की सेवा में अर्पित कर दे जो न्यायपूर्ण, उचित तथा सत्य हों। इस प्रकार, प्रमाण जुटाने का दायित्व उस व्यक्ति पर आ जाता है जो बिना सोचे-समझे शिक्षा का सम्बन्ध सुख के साथ जोड़ देता है—उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि बच्चे और समाज दोनों ही के हित में इन दोनों शब्दों को साथ रखना संभव और वांछनीय है।

इन आपत्तियों के समर्थन में जो धारणाएँ प्रस्तुत की जाती हैं—और मेरी राय में वे भ्रांत धारणाएँ हैं—उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न करने से पहले मैं इस विषय में स्वयं अपना मत बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर देना उपयोगी समझता हूँ। मेरा विश्वास है कि स्कूलों को इस प्रकार संगठित करना और इस प्रकार शिक्षा देना बिल्कुल संभव है कि इस प्रक्रिया के दौरान में बच्चे अधिक उल्लास का अनुभव करें और उनका जीवन अधिक उत्साहमय हो। जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है वास्तविक स्थिति इससे कोसों दूर है; शिक्षा-संस्थाएँ बहुधा नवयुवकों की सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त करने के बजाय उनका दमन करती हैं और उनकी आत्माभिव्यक्ति को कुचल देती हैं।[१] परन्तु शिक्षण की प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से कोई ऐसी बात निहित नहीं है जो उल्लास की भावना के प्रतिकूल हो; वास्तव में, शिक्षा की उचित व्याख्या यही है कि उसे विद्यार्थियों का उनके समृद्ध वातावरण के साथ अधिक फलप्रद सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और चीजों को समझने तथा परखने की उनकी विकासवान क्षमताओं को परिपक्वता प्रदान करनी चाहिए और इस प्रकार उनमें अधिक आत्म-विश्वास तथा अपनी बाह्य परिस्थितियों के साथ अधिक सामंजस्य की भावना और फलस्वरूप शान्ति तथा सुख की भावना का संचार करना चाहिए। दूसरे, मेरा विश्वास यह है कि यह केवल **वांछनीय** ही नहीं बल्कि नितान्त **आवश्यक** भी है कि शिक्षा हर व्यक्ति में सुख की इस भावना को सुदृढ़ करे और उन्हें ऐसे बौद्धिक तथा भावना-सम्बन्धी साधनों से लैस कर दे कि वे जीवन के जिस किसी क्षेत्र में भी काम करते हों, उसमें वे सुख का अनुभव करें। यह हमारे 'भावी स्कूल' का एक मुख्य काम तथा उसकी एक लाक्षणिक विशेषता होनी चाहिए कि वह शिक्षा की प्रक्रिया को बच्चों के लिए एक उल्लासप्र

१. देखिये अध्याय १ तथा ७।

अनुभव बना दे और उनमें ऐसी मनोवृत्तियों तथा मान्यताओं को जन्म दे कि बड़े होकर वे अपने दैनिक जीवन के कष्टसाध्य तथा दुष्कर कार्य में सुख का अनुभव कर सकें। जो लोग नैतिक आधार पर इस मत पर आपत्ति करते हैं उन्होंने न तो नीति-आचार के तकाजों को समझा है, न मनोविज्ञान के। आइये, हम सुख की इस विवादास्पद तथा बहुमुखी धारणा को समझने की कोशिश करें और यह पता लगायें कि मानव-जाति के जीवन तथा कार्य में उसका क्या स्थान है।

अगर हम ऐसे 'आम लोगों' के सीधे-सादे आडम्बरहीन अनुभव को आधार मानकर चलें जिनके विचारों पर दार्शनिक अनुमानों की मोटी तह नहीं जमी है तो हमें पता चलेगा कि वे हमेशा कोई भी काम सिर्फ इसलिए करते हैं कि उससे उन्हें किसी-न-किसी रूप में सुख मिलता है और जिस काम का प्रभाव इसका उलटा होता है उसे वे नहीं करते। जाहिर है कि यह बात कि उन्हें किस चीज या काम से सुख मिलेगा बहुत बड़ी हद तक उनके स्वभाव पर, उनके प्रशिक्षण पर और उनके समाज की विचारधारा पर निर्भर करती है। फैक्ट्री में काम करनेवाला मजदूर जो दिन में आठ या दस घण्टे जमकर मेहनत से काम करता है उसे आम तौर पर अपने काम में कोई सुख नहीं मिलता; उसे सुख शायद अपने पारिश्रमिक में मिलता है जिससे वह जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए चीजें खरीदता है या सिनेमा देखता है या थोड़ी-सी शराब पी लेता है। जो धीर किसान तन-मन से भूमि की सेवा करता है और इस आशा से आकाश की ओर देखता है कि वह उचित समय पर वर्षा करके उसके प्रयासों को फलीभूत करे, उसे केवल अपने श्रम के अन्तिम फल और बाजार में उसके मूल्य से ही नहीं बल्कि अपने श्रम के तात्कालिक परिणाम से भी सन्तोष मिल सकता है—लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों को देखकर, देखने में मुर्दा लगनेवाली धरती में से प्रस्फुटित होनेवाले नित नये जीवन के चमत्कार को देखकर उसका मन नाच उठता है। उसका सुख उसके कार्य के लक्ष्य में भी है और स्वयं कार्य में भी; यह सुख लक्ष्य और लक्ष्य को पूरा करने के साधनों, दोनों ही को ज्योतिर्मय बना देता है। इसी प्रकार कलाकार को अधिक सुख आत्मा की वेदना में, अपनी कलात्मक कल्पना के क्षणिक चित्र को अंकित कर देने के लिए साहसपूर्वक अपने कला-चातुर्य का प्रयोग करने में मिलता है—उसे इन चीजों में उससे भी ज्यादा सुख मिलता है जितना कि बनकर तैयार हो जाने पर चित्र अथवा मूर्ति को देखकर मिलता है। उस वैज्ञानिक कार्यकर्ता को, जो प्रकृति के रहस्यों का पता लगाने और उसके प्रति क्षण बदलते

हुए रूपों तथा उसकी अचम्भे में डाल देनेवाली परन्तु साथ ही सुव्यवस्थित घटनाओं का नियमन करनेवाले नियमों का अध्ययन करने में संलग्न रहता हो, सारा सन्तोष अपने धैर्यपूर्ण शोध-कार्य में मिलता है, जिसकी सहायता से वह बार-बार गलतियाँ करके भी नये प्रयोग करते रहने के अनुशासन द्वारा सत्य के निकटतर पहुँचता जाता है। उसे इस बात के प्रति यदि अरुचि नहीं तो पूर्ण उदासीनता अवश्य होती है कि उसकी खोज का उद्योगों में क्या इस्तेमाल होगा या उससे कितना पैसा कमाया जा सकेगा। इन विभिन्न उदाहरणों से तीन बहुत महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है। पहली बात यह कि इन सब अलग-अलग प्रकार के लोगों को—फैक्ट्री में मशीन चलानेवाले मजदूर से लेकर अपने पुस्तकालय या प्रयोगशाला में कार्यरत आइंस्टाइन तक—एक ही तरह के कामों या चीजों से सन्तोष या सुख नहीं मिलता है। सम्भव है कि जिस चीज से एक को सुख मिलता है—समझ लीजिये, पैसे से या पैसे से जो कुछ भी खरीदा जा सकता है उसका सुख भोगने की शक्ति से—वह दूसरे की दृष्टि में बिल्कुल ही महत्त्व न रखती हो और वह बाहरी परिणामों या प्रभावों की चिन्ता किये बिना स्वयं उस कार्य के सफल विकास के लिए ही अपनी सारी क्षमताओं का प्रयोग करता हो और उसी से सारा सुख प्राप्त करता हो। इसलिए, सुख की अलग-अलग श्रेणियाँ तथा कोटियाँ होती हैं जिनका अपना अलग-अलग नैतिक मूल्य होता है और जो लोग समस्त सुख को नैतिकता की दृष्टि से एक घटिया चीज समझते हैं वे इस पहलू की ओर ध्यान नहीं देते। जैसा कि हम अभी आगे चलकर देखेंगे, सुख के नैतिक मूल्य का प्रश्न अभिन्न रूप से इस व्यापक प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है कि यह सुख किन उद्दीपनों अर्थात् प्रेरणाओं से प्राप्त होता है और उनका नैतिक महत्त्व क्या है।

दूसरे, हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि सुख किसी भी प्रकार का हो और उसका कारण कुछ भी हो, अगर वह किसी क्रिया को उत्प्रेरित न करता हो तो क्रिया बिल्कुल बन्द हो जायेगी। यदि कलाकार या वैज्ञानिक को अपने काम से कोई वैयक्तिक सन्तोष न मिलता हो, तो उसके रंग और तूलिकाएँ यों ही निष्क्रिय पड़ी रहेंगी, कुछ समय बाद चित्र अंकित करने का कपड़ा या कागज सूख जायेगा और वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ताला पड़ा रहेगा। किसान या शिल्पकार के धैर्यपूर्ण हाथ भी अपना काम नहीं करेंगे, क्योंकि यदि किसी काम से सुख न मिले—अर्थात् यदि उसके पीछे कोई स्वीकार्य तथा अपनी इच्छा से अपनाया हुआ उद्देश्य न हो और उससे ऐसे फल न प्राप्त हों जिन्हें वह व्यक्ति उपयोगी समझता हो—तो फिर उस काम को करने से फायदा ही क्या और

उसका अर्थ ही क्या होगा ? इस सामान्य नियम का एकमात्र अपवाद ऐसे आदमी का उदाहरण है जिसे डण्डे के जोर से काम करने पर मजबूर किया जाये या जो भूखों मरने के डर से या इसी प्रकार के अन्य किसी भय से काम करने पर मजबूर हो; और इस उदाहरण में भी एक कष्टमय परिस्थिति से बचने का नकारात्मक सन्तोष ही उसे काम करने के लिए उत्प्रेरित करता है। इसलिए हमें यह मानना पड़ेगा कि सभी परिस्थितियों में आम तौर पर यही होता है कि कोई आदमी किसी काम को केवल तभी करता है जब उसके फलस्वरूप उसे कोई ऐसा सन्तोष मिले जिसका सुख वह स्वयं भोग सके। ऐसे लोगों के विरले दृष्टान्त भी, जो अपनी इच्छा से अपने आपको यातनाएँ देते हैं या अपने आपको सुखों से वंचित रखते हैं, इस नियम का अपवाद नहीं हैं क्योंकि वे साधारण लोगों से केवल इस बात में भिन्न होते हैं कि उनकी सुख की निजी कसौटी दूसरों से भिन्न होती है। यदि वे ऐसा न समझते होते कि अपने शरीर को यातनाएँ देकर वे एक विलक्षण प्रकार का सुख प्राप्त कर रहे हैं तो वे कभी उन तपस्याओं का कष्ट सहन न करते। इसी दृष्टिकोण को मान लेने से उन बड़े-बड़े शहीदों की दृढ़ आस्था का ही नहीं बल्कि हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि दे देने का कारण भी समझ में आ जाता है, जिन्हें सचमुच एक ऐसी चीज में महानतम सुख प्राप्त हुआ जिसे अविश्वासी लोग निरर्थक तथा कुत्सित आत्म-यंत्रणा कहेंगे। इसी प्रकार के एक शहीद ने, जो एक उदात्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए यातनाएँ सहन करके मर रहा था, किसी प्रश्न पूछनेवाले के उत्तर में अपनी अन्तिम साँस के साथ ये शब्द कहे थे :

"हे परमपिता, मृत्यु में मुझे मधु से भी अधिक मिठास का अनुभव होता है।"

तीसरे, इससे इस व्यापकरूप से प्रचलित धारणा का खण्डन होता है कि सुख और शरीर तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होनेवाला उल्लास अथवा विलास एक ही चीज हैं। इस भ्रान्त धारणा को फैलाने के कठोर नैतिकता के समर्थकों और भोग-विलास में डूबे रहनेवालों दोनों ही का हाथ रहा है, नैतिकता के पुजारियों ने इसके खिलाफ प्रचण्ड प्रचार करके और भोग-विलास में डूबे रहनेवालों ने अपनी मूर्खता, अपनी कमजोरी और अपने संकुचित विचारों द्वारा इस धारणा को फैलाने में मदद दी है। सुख की यह झूठी परिभाषा हमारे प्रतिदिन के अनुभव की कसौटी पर भी पूरी नहीं उतरती, क्योंकि हम देखते हैं कि सभी वर्गों के और जीवन के सभी क्षेत्रों के अधिकांश लोग संकुचित अर्थ में अपने

'सुखों' को त्यागने और अपने चिरपोषित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए खुशी-खुशी तथा अपनी इच्छा से कठिनाइयाँ सहन करने को तैयार रहते हैं। चिड़ियों के अण्डों की खोज में अपने घुटनों तथा हाथों पर खरोंच लगा लेनेवाला बालक, संसार के अज्ञात प्रदेशों की खोज में अपनी सुख-शान्ति को, यहाँ तक कि अपने प्राणों को, खतरे में डाल देनेवाला अन्वेषक, ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए खतरनाक गैसों तथा विषैले पदार्थों से खेलनेवाला वैज्ञानिक, अपने पथभ्रष्ट समुदाय के विरोध तथा उपहास तथा अनुचित दण्ड को सहर्ष स्वीकार कर लेनेवाला सुधारक, ये सब अलग-अलग स्तरों पर एक ही आधारभूत सत्य के उदाहरण हैं—अर्थात् यह कि लोग उन ध्येयों की पूर्ति के लिए जो उन्हें प्रिय हैं, सहर्ष कष्ट झेलने को तैयार रहेंगे। और उनके मन में जितनी विवेकपूर्ण जितनी बुद्धिसंगत और जितनी हार्दिक लगन होगी उतनी ही अधिक सफलता के साथ वे मार्ग में आनेवाले विघ्नों तथा प्रलोभनों से बच सकेंगे। इस प्रकार, उनकी सुख की खोज तो लगातार बनी रहती है और उन्हें क्रियाशील रखनेवाली प्रेरक-शक्ति का काम करती है, पर उनकी भावनाएँ तथा आदर्श ऐसी नयी रुचियों तथा नये कामों के साथ संलग्न हो जाते हैं जिनकी पूर्ति में उन्हें श्रेष्ठतम तथा सबसे स्थायी सन्तोष मिलता है और उन्हें इसके लिए जितनी भी कठिनाई, कष्ट तथा आत्म-संयम का सामना करना पड़ता है उसे वे एक ऐसे विकासवान अनुभव के आवश्यक अंग मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं जो बुनियादी तौर पर प्राप्त करने योग्य अनुभव होता है। इसलिए सुख-सम्बन्धी कल्पना का विश्लेषण करते समय उसमें से इन अनुचित बातों को निकाल दिया गया है जो उसके साथ जुड़ गयी हैं, यहाँ तक कि आम लोग भी और नैतिकता के पुजारी भी उसकी व्याख्या उसके सबसे संकुचित तथा सबसे कम सन्तोषप्रद रूप में करने लगे हैं। परन्तु इस शब्द के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से हमारा विश्वास सही है कि सुख की खोज मनुष्य की प्रकृति का एक आवश्यक अंग है; प्रयास करने तथा कष्ट सहन करने के विचार के साथ उसका कोई विरोध नहीं है और न ही वे परस्पर असंगत बातें हैं; और इस बात की कल्पना की जा सकती है कि उसके फलस्वरूप मनुष्य जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है और इसका नतीजा आवश्यक रूप से यह नहीं होना चाहिए कि मनुष्य हर काम अपने भौतिक हितों या शारीरिक इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिए ही करे। इसलिए शिक्षा की दृष्टि से समस्या यह नहीं है कि सुख को एक वांछनीय लक्ष्य समझा जाये कि नहीं बल्कि समस्या यह है कि नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठतर या निम्नतर स्तर के किसी काम से सुख मिलता है कि

नहीं और यह कि मनुष्य के दिमाग में हर काम को परखने की सही कसौटी कैसे कायम की जा सकती है।

: २ :

आजकल के पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में जो सुख का अभाव इतना व्यापक है उसकी जिम्मेदारी आम तौर पर किन चीजों पर है? यह बहुत तात्कालिक समस्या है, क्योंकि इस बात में तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि विज्ञान की विशाल प्रगति और बहुत-से लोगों की भौतिक परिस्थितियों में अपेक्षतः कुछ सुधार हो जाने के बावजूद बढ़ती हुई बेचैनी और असन्तोष के कारण उनका जीवन विषाक्त होता जा रहा है; और बहुधा मनोवैज्ञानिक कारणों से वे उन अपार अवसरों तथा सम्भावनाओं का कोई लाभ नहीं उठा पाते जिनके द्वार विज्ञान की सफलताओं की वजह से उनके सामने खुल गये हैं। और ऐसा भी नहीं है कि यह असन्तोष, जीवन में अपूर्णता की यह भावना केवल उन्हीं लोगों में पायी जाती हो जो शिक्षा के वरदानों से वंचित हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है शिक्षित वर्ग अगर अधिक नहीं तो कम-से-कम इतनी ही बड़ी हद तक असन्तुष्ट तथा दुःखी होने की इस भावना का शिकार रहते हैं। चूँकि सुख का यह अभाव पूँजीवादी व्यवस्था की कुरूप असंगतियों से उत्पन्न होनेवाले व्यापक आर्थिक तथा सामाजिक अन्यायों तथा असंतुलनों के कारण है इसलिए यह स्पष्ट है कि जब तक भौतिक दृष्टि से सुखी जीवन के लिए कुछ नितान्त आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा नहीं की जायेंगी और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन नहीं कर दिया जायेगा तब तक औसत आदमी के जीवन का स्तर पशुओं के जीवन से ऊँचा नहीं उठ पायेगा और उसके लिए किसी उच्चतर स्तर के सन्तोष का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। इस प्रकार की परिस्थितियों से मतलब यह है कि हर आदमी के खाने-पीने और रहने के लिए उचित प्रबन्ध हो, वह स्वस्थ रहे और समाज में दूसरे लोगों के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे हों, जिसमें स्वाभाविक यौन-जीवन तथा पारिवारिक जीवन भी शामिल है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति जीवन के जीवशास्त्र-सम्बन्धी तकाजों का एक अंग है और यह राज्यसत्ता तथा समाज का कर्तव्य है कि वे सभी नागरिकों के लिए इन चीजों का समुचित प्रबन्ध करें। जिस हद तक व्यक्तियों के कुछ समूह इस मामले में तीव्र अभाव का शिकार रहेंगे, उस हद तक समाज का सामूहिक जीवन बुरे ढंग से संगठित रहेगा और उसके साधनों का अनुचित वितरण बना रहेगा। इस खतरनाक परिस्थिति को सही और न्यायोचित ढंग से सुधारने की दिशा में मानवता के हर शुभ-चिन्तक को गम्भीरतापूर्वक चेष्टा करनी

चाहिए। परन्तु इस समय तो हम उन मानसिक कारणों तथा रवैयों पर विचार कर रहे हैं जो बहुत बड़ी हद तक स्वयं हर व्यक्ति के वश में होते हैं और जो अकसर किसी भी व्यक्ति के जीवन को हमेशा के लिए बना या बिगाड़ सकते हैं। इस प्रकार यह संभव है कि किसी आदमी के पास भौतिक सुख-सम्पदा के सारे साधन हों और वह अपनी सारी उचित आवश्यकताओं को, और शायद कुछ अनुचित आवश्यकताओं को भी, पूरा कर सकता हो, परन्तु यदि वह कुछ मानसिक अवरोधों अथवा हानिकर भावनाओं का, जैसे भय अथवा स्वार्थ की भावनाओं का शिकार हो तो उसका जीवन बहुत ही दुःखी और अपूर्ण हो सकता है! दूसरी ओर स्पष्टतः प्रतिकूल तथा दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करनेवाला आदमी भी जीवन के प्रति सही रवैया और रुचि पैदा करने तथा उन्हें विकसित करके काफी हद तक सन्तोष ही नहीं बल्कि निश्चित सुख भी प्राप्त कर सकता है। ऐसे बहुत-से लोग हुए हैं जिन्होंने हर तरह की भौतिक कठिनाइयों का शिकार रहकर और भौतिक सुख-सुविधाओं से वंचित रहकर भी अपने जीवन को सफल बनाया है, और न केवल अपने व्यक्तित्व को बल्कि जिन लोगों के सम्पर्क में वे आये हैं उनके व्यक्तित्व को भी समृद्ध बनाया है। हेलेन केलर की जीवन-गाथा असाधारण जरूर है पर वह कोई अपवाद नहीं है।

स्वयं अपने ही स्वार्थों में और उनसे सम्बन्धित अनेक तुच्छ हितों में लीन रहने का रवैया जीवन में सुख के अभाव का शायद सबसे बड़ा कारण है।[१] जिस व्यक्ति की भावनाएँ तथा विचार निरन्तर स्वयं उसके अहं-भाव में लीन रहते हैं उसके लिए हमेशा इस बात का खतरा रहता है कि यदि अचानक उसके साथ कोई दुर्घटना हो जाये तो वह उसका आघात सहन न कर सके। वह उन तमाम सहारों से भी वंचित रहता है जिनकी मदद से व्यापक सांस्कृतिक तथा मानवीय रुचियाँ रखनेवाला व्यक्ति घोरतम निजी विपदाओं तथा दुःखों को सहन कर लेता है। कारण यह कि रोग, दरिद्रता, सामाजिक तिरस्कार और मृत्यु प्रतिदिन की घटनाएँ हैं और इस संसार में रहनेवाला कोई भी आदमी इन संकटों से बचने की आशा नहीं कर सकता। स्वार्थी, आत्म-केन्द्रित और अहंकारी आदमी के लिए ये निजी विपदाएँ केवल क्षणिक कष्ट नहीं होतीं, जिन्हें वह जीवन का एक अंग समझ सके। इन विपदाओं से उसकी मानसिक शक्ति बिल्कुल नष्ट हो जाती है और उसकी प्रकृत गतिविधियों की प्रगति अवरुद्ध होने लगती है। उसमें भय की मनोवृत्ति पैदा हो जाती है और वह जीवन को एक कृपण व्यक्ति

---

१. बर्ट्रेण्ड रसेल की पुस्तक **कांक्वेस्ट ऑफ हैपीनेस** में इस विषय पर बहुत अच्छे ढंग से विचार किया गया है।

के दृष्टिकोण से देखने लगता है। जीवन के नाना प्रकार के अवसरों तथा अनुभवों को—सुगम के साथ दुर्गम को भी, रुचिकर के साथ अरुचिकर को भी—साहसपूर्वक स्वीकार करने के बजाय और उनसे शक्ति तथा प्रेरणा प्राप्त करने और उनसे अपने व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने के बजाय, वह इन संघर्षों से जी चुराता है और स्वयं अपने संकीर्ण व्यक्तित्व के जीर्ण-शीर्ण आश्रय में दुबककर वह आशंकित भाव से अपने जीवन के वरदानों के छोटे-से खजाने को कौड़ी-कौड़ी करके गिनता रहता है, और उसे हरदम यह डर लगा रहता है कि कहीं क्रूर नियति उससे उसका यह खजाना भी न छीन ले और उसके पास कुछ भी नहीं रह जाये! शेक्सपियर ने कहा है कि 'कायर अपनी मौत से पहले न जाने कितनी बार मरते हैं', और आत्मा के हनन के इसी अर्थ में कायर अहंवादी की मृत्यु भी न जाने कितनी बार होती है। वह उस चीज का भक्त होता है जिसे बर्ट्रेण्ड रसेल ने 'आधिपत्य का सुख' कहा है; यह ऐसा सुख होता है जो बाहरी चीजों को—सम्पत्ति, सत्ता, दूसरे के मुकाबले में सफलता—प्राप्त करके ही पनप सकता है और इन चीजों के न रहने पर नष्ट हो जाता है। जीवन के प्रति इस रवैये के प्रतिकूल एक दूसरा रवैया होता है जिसे 'आधिपत्य के' सुख में इतनी दिलचस्पी नहीं होती जितनी 'सृजनात्मक' सुख में, जिसे 'ग्रहण करने' में नहीं बल्कि 'अर्पित करने' में दिलचस्पी होती है—अपने आप को उन महान् ध्येयों तथा उद्देश्यों के लिए अर्पित करने में, जो उसके विचारों तथा उसकी निष्ठा के अनुकूल हों। जिस व्यक्ति का रवैया यह होता है वह स्वयं अपनी अहं की भावना को और उसके तुच्छ हितों को अपनी सृष्टि का केन्द्र, बल्कि कहना चाहिए बाकी दुनिया से टक्कर लेनेवाली अपने आप में पूरी तथा आत्म-केन्द्रित चीज नहीं समझता है। संसार के समृद्ध तथा वैविध्यपूर्ण जीवन में भाग लेने ही में उसे सबसे अधिक सन्तोष मिलता है और इसी में उसे सबसे ज्यादा आत्म-बोध होता है। वह साहस के साथ और पूरे हृदय से उन रुचियों तथा शक्तियों में प्रवेश करता है जो उसके साथ के दूसरे लोगों को आन्दोलित करती हैं। वह समाज के स्पन्दनशील जीवन के प्रति संवेदनशील रहता है तथा उस जीवन से प्रभावित होता है। या फिर वह मनुष्य की गतिविधियों के किसी क्षेत्र विशेष को—किसी कला या विज्ञान या समाज-सेवा को—अपना लेता है और इस प्रकार वह अपने कार्य-क्षेत्र की जो सीमाएँ बाँध लेता है उसकी कमी वह उस कार्य-क्षेत्र विशेष में बहुत जुटकर काम करके पूरा करता है। इस प्रकार मानव-अनुभव की मुख्य धारा का एक अंग बनकर वह अपने अहं के क्षेत्र को भी व्यापक बनाता है जिसमें अब पूरी मानव-जाति के जीवन की लाक्षणिक गहराई, महत्त्व तथा

चिरस्थायित्व का भी एक अंश मिल जाता है। जो छोटी-मोटी विपत्तियाँ या दुर्घटनाएँ उसे केवल वैयक्तिक रूप से सताती हैं वे कम होकर एक सन्तुलित रूप धारण कर लेती हैं। वे वास्तविक और मर्मान्तक अवश्य होती हैं पर वे न तो उसके अस्तित्व के वास्तविक महत्त्व को कम करती हैं, न उसकी दृष्टि को धुँधला करती हैं क्योंकि अब वह एक बृहत्तर ध्येय की सेवा में रत होता है, वह किसी अधिक बड़े उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन बन चुका होता है। जब तक ये उद्देश्य कायम रहते हैं और वह इन उद्देश्यों की सफल पूर्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है, चाहे उसके प्रयत्न कष्टप्रद हों या सुखद, वह सुखी रहता है। उसे आत्माभिव्यक्ति तथा आत्म-बोध का उल्लास प्राप्त होता है; क्योंकि अपने आपको अपने से कहीं बड़े आन्दोलनों में खोकर सही माने में उसे अपनी असलियत का पता लगता है। इस बात से यह सिद्ध हो जाता है कि जो आदमी किसी ऐसे काम में तन-मन से लग जाने के बजाय, जिसमें उसकी समस्त शक्ति तथा प्रेरणाओं का पर्याप्त रूप से और उपयोगी ढंग से इस्तेमाल हो सके, केवल सुख की ही खोज में रहता है—जो अन्त में चलकर एक मृगतृष्णा साबित होती है—उसका यह प्रयास कितना मिथ्या होता है। इस भावना के साथ और स्वयं हमारे हितों के क्षेत्र से बाहर के महान् हितों की सेवा के लिए जो काम किया जाता है वह बोझ नहीं मालूम होता; उसके लिए सतही तौर पर अपने ऊपर थोपे गये आत्म-त्याग की या ऐसे अनुशासन की जरूरत नहीं होती जो स्वतन्त्रता का परिणाम न होकर स्वतन्त्रता का हनन करता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है, 'आत्म-त्याग के सिद्धान्त में किसी व्यक्ति के स्वयं अपने हित और बाकी संसार के हित के बीच जो विरोध निहित है वह हमारे अन्दर दूसरे व्यक्तियों या चीजों में सच्ची दिलचस्पी पैदा होते ही गायब हो जाता है। इस तरह की दिलचस्पी से आदमी अपने आपको जीवन की धारा का एक अंग समझने लगता है; वह बिलियर्ड की गेंद की तरह सबसे अलग कोई चीज नहीं रह जाता, जिसका अपनी ही जैसी दूसरी चीजों के साथ टकराव के अलावा कोई दूसरा सम्बन्ध ही न हो।'[१]

लेकिन यह बात माननी पड़ेगी कि अगर किसी व्यक्ति की शिक्षा में कोई दोष रह गया है और यदि उसे अपने सामाजिक वातावरण में किन्हीं उच्चतर या श्रेष्ठतर आदर्शों की झलक नहीं मिलती तो यह बहुत मुमकिन है कि वह बहुत ही सीमित तथा छोटी-छोटी रुचियों में सुख प्राप्त कर ले। इस समय दुनिया में ज्यादातर लोगों की यही हालत है। लेकिन मेरा तर्क यह है कि इस

१. **कांक्वेस्ट ऑफ हैपीनेस**, पृष्ठ २४७

तरह का सुख भी निश्चित रूप से सीमित और तुच्छ ही होगा, वह निम्न कोटि का सुख होगा और उसका आधार ऐसी जल्दी मिट जानेवाली और कमजोर चीजों पर होगा कि जरा-सी ठेस लगते ही इतनी मेहनत से बनायी गयी पूरी इमारत के ढह जाने का खतरा रहेगा। इसके विपरीत अगर शिक्षा और आत्मानुशासन की सहायता से वह व्यक्ति महान् और उपयोगी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तन-मन से काम करने में सुख अनुभव करना धीरे-धीरे सीख लेगा तो वह आकस्मिक दुर्घटनाओं के आगे बिल्कुल लाचार नहीं रह जायेगा। उदाहरण के लिए, अगर वह किसी ऐसे महान् सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य के लिए काम कर रहा हो जो पूरी मनुष्य-जाति के लिए बहुत गहरा महत्त्व रखता हो तो जब तक कोई बहुत बड़ी दुर्घटना ही न हो जाये या पूरा आन्दोलन ही न ठप हो जाये तब तक उसकी आस्था या आशा नहीं डिगेगी, और उस हालत में भी उसे यह सन्तोष तो रहेगा ही कि अपना जीवन एक उदात्त लक्ष्य की पूर्ति में लगाया है और उसकी पराजय में भी कोई अपमान की बात नहीं है। आत्मा की ऐसी ही शक्ति ने बड़े-बड़े पैगम्बरों और मानव-जाति के महान् सेवकों को, जैसे कि महात्मा गांधी थे, उनके दुःसाध्य जीवन में सहारा दिया है। लेकिन अगर कोई आदमी अपनी सारी शक्ति इसी बात में खर्च करता है और उसे सिर्फ इसी बात में दिलचस्पी होती है कि उसे कोई छोटी-मोटी नौकरी मिल जाये या वह व्यापार में अपने किसी प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखा दे या अपने शरीर का तापमान ९७'४ डिग्री से बढ़ने न दे, तो अपनी इस छोटी-सी कोशिश में असफल रहने पर उसका सारा सुख और मन की शान्ति नष्ट हो जायेगी। शोलेम आश के अत्यन्त प्रभावशाली उपन्यास थ्री सिटीज़ में एक बूढ़ा यहूदी, जिसने युगों के संचित ज्ञान को हृदयंगम कर लिया है, अपने नवयुवक श्रोताओं को जो उपदेश देता है उसे यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा :

"संसार उसी तरह की जानदार हस्ती है जैसी कि छोटी-से-छोटी जानदार चीज।...हम उसे देख इसलिए नहीं सकते कि हम इस फैले हुए ताने-बाने में सिर्फ एक धागे के समान हैं; हम स्वयं अपने अस्तित्व के खोखलेपन में, उसकी तुच्छ निरर्थक बातों में ही इतने डूबे रहते हैं कि हमें बृहत्तर जीवन को देखने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती। कीड़ों-मकोड़ों की तरह हम अँधेरी खोहों में, अपने निजी अस्तित्व की सँकरी, अँधेरी दरारों में घुस गये हैं और हमें स्वच्छ प्रकाशमय संसार में निकलने की, तेज सूरज को और उसकी प्राणदायक ज्योति को देखने की फुरसत ही नहीं मिलती। नवयुवक, अपने

अस्तित्व की सीमाओं से बाहर निकल; अपने तुच्छ जीवन के अन्धकार को त्याग दे; तभी तू इस संसार की ज्योति को देख सकेगा, उसके स्पंदन को पहचान सकेगा और उसके दिल की धड़कन सुन सकेगा।"

हमारे इस व्यस्त व्यावहारिक युग में, जिसमें हम उपदेश की बातों से घबराते हैं, जल्दी-से-जल्दी अपने प्रयासों का फल प्राप्त कर लेना चाहते हैं और भविष्यद्रष्टाओं की बातों को अविश्वास से देखते हैं, इस बात को भी लम्बा-चौड़ा उपदेश कहकर उसकी उपेक्षा की जा सकती है। पर मुझे पूरा विश्वास है कि वर्तमान युग में, जब कि आर्थिक तथा राजनैतिक शक्तियों के दबाव के कारण व्यक्ति और पूरी मानव-जाति के जीवन के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाले बन्धनों के छिन्न-भिन्न हो जाने का खतरा पैदा हो गया है, इस उपदेश की हमें हर समय बहुत जरूरत है। लेकिन साथ ही इस बात को भी समझ लेना आवश्यक है कि इस दृष्टिकोण में वैयक्तिक जीवन के अपार मूल्य तथा महत्त्व को तुच्छ ठहराने की कोशिश नहीं की गयी है। इसमें सिर्फ इस बात की माँग की गयी है कि मानव-जाति के बृहत्तर जीवन में घुल-मिलकर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को अधिक व्यापक और समृद्ध बनाये। पूरब की महानतम विभूतियों का, पैगम्बरों और सूफियों और विचारकों का, हमेशा से यही मत रहा है कि मनुष्य अपने आपको अपने से बड़ी किसी आत्मा में विलीन कर दे और इस तरह अपने व्यक्तित्व को ज्यादा व्यापक बना ले। इसी चीज को हम एक अधिक परिचित क्षेत्र में इस रूप में देखते हैं कि सबसे बड़े कवि और लेखक और दार्शनिक वही हुए हैं जिनके दिल की धड़कन और 'दुनिया के दिल की धड़कन' में एक सामंजस्य रहा है और जिनकी नब्ज दुनिया की नब्ज के साथ चलती रही है।

जीवन के प्रति यही रवैया अपनाने से भय की वह भावना भी दूर हो जाती है जो दुःख का एक दूसरा बहुत बड़ा और सर्वव्यापी कारण है। ईश्वर का भय ज्ञान प्राप्त करने की पहली सीढ़ी हो सकता है; लेकिन अगर यही भय मन की एक स्थायी प्रवृत्ति बन जाये और कोई आदमी सम्भव परिणामों के डर से जीवन के अनुभवों, खतरों और साहसमय कार्यों में भाग लेने से जी चुराने लगे तो उसका जीवन अपूर्ण, मानसिक रूप से विकृत और दुःखी बन जायेगा। कारण यह कि संसार में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब साहस का परिचय देना जरूरी होता है, और जीवन के विकास-क्रम में जो परिस्थितियाँ सामने आती हैं उनका अधिकतम सदुपयोग करने के संकल्प के साथ कोई आदमी साहसपूर्वक उनका सामना नहीं करता तो इस बात का खतरा रहता है कि उसे हमेशा किसी-न-किसी विपत्ति की आशंका लगी रहेगी। उर्दू के किसी शायर ने इसी साहसपूर्ण

रवैये को इन शब्दों में व्यक्त किया है : "चला जाता हूँ हँसता-खेलता मौजे-हवादिस (दुर्घटनाओं की लहर) से; अगर आसानियाँ हों जिन्दगी दुश्वार हो जाये।" इस प्रकार की मनोभावना से आदमी को सुख अनुभव करने में दो तरह से सहायता मिलती है। एक तो यह कि उसके मन में हर समय यह निराधार आशंका नहीं समायी रहती कि कल न जाने कौन-सी मुसीबत टूट पड़े। यह एक ऐसी आशंका होती है जिससे मनुष्य के मन की शान्ति नष्ट हो जाती है और उसकी काम करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। दूसरे, जब उसके सामने कोई कठिन या संकटमय परिस्थिति आती है तो वह साहस के साथ उसका सामना करता है और उसको अगर पूरा विश्वास नहीं तो काफी आशा तो रहती ही है कि वह अपने साहस और परिश्रम से उसे दूर कर लेगा। उसे कठिनाइयों और खतरों का सामना करने में कुछ सन्तोष और रोमांच का अनुभव भी होता है और उन पर विजय पाकर वह खुश होता है। लेकिन इस प्रसंग में साहस का या भयभीत न होने का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि आदमी साहसपूर्वक संकट का सामना करने की क्षमता रखता हो और कोई कठिनाई सामने आने पर उसके हाथ-पैर न फूल जाते हों। ड्यूई का कहना है कि "अनुभव की सुन्दरताओं और कठिनाइयों ही से हम सचमुच सीख सकते हैं और उन्नति कर सकते हैं और इन चीजों तक पहुँचने का हमारा मार्ग रोक देने में उतना बड़ा हाथ उस भय का नहीं होता जिसे आम तौर पर भय कहा जाता है, जितना कि दूर भागने के रवैये का, अपने आपको बिल्कुल अलग रखने के रवैया का होता है।[१]" वह अपने अन्दर विचार तथा भावनाओं की एक निश्चित दिशा विकसित करने पर आग्रह करता है; और यह दिशा होती है "बदलते हुए अनुभव की सभी घटनाओं का बढ़कर स्वागत करने की दिशा; उन घटनाओं का भी जो स्वतः संकटमय होती हैं।" यही तो अन्तर होता है उन लोगों में जो समस्त कठिनाइयों, विपत्तियों तथा प्रलोभनों सहित जीवन को 'स्वीकार' करते हैं, जो कृपणों की तरह व्यय का हिसाब न लगाकर जीवन द्वारा प्रस्तुत की गयी सारी सम्भावनाओं को सहर्ष स्वीकार करने को तैयार रहते हैं और दूसरी तरफ उन लोगों में जो जीवन से डरते हैं कि कहीं नये अनुभवों और नये प्रयासों में कोई खतरा न छुपा हो। बादवाली किस्म के लोगों के विचारों तथा भावनाओं में जिन प्रवृत्तियों का प्रभुत्व रहता है वे अपार दुःख का स्रोत बन जाती हैं क्योंकि वे हर कदम पर हमारे मन में आशंकाएँ पैदा करती रहती हैं और हमारी काम करने की क्षमता को कुण्ठित कर देती हैं

१. ड्यूई : द मैन एंड हिज़ फ़िलासफ़ी

और जंजीरों में जकड़ देती हैं। परन्तु सिर्फ इतना ही काफी नहीं होता कि भय के प्रकट रूपों को कुचल दिया जाये क्योंकि अगर अपनी इच्छा-शक्ति के जोर से भय को कुचल भी दिया जाये तो इस बात का खतरा रहता है कि वह कुछ समय के लिए दब जाये और हमारे अचेतन मन पर अपना प्रभुत्व कर ले; और फिर बाद में चलकर यही दबा हुआ भय फिर नये पर बहुत शक्तिशाली रूप में उभर सकता है और हमारे पूरे जीवन को विषाक्त बना सकता है। मनोविश्लेषण में हमें दबी हुई भावनाओं के खतरनाक प्रभावों के खिलाफ बहुत गम्भीर चेतावनी दी गयी है, वह भावना चाहे भय की हो या कोई दूसरी प्रबल भावना हो। मनोविश्लेषण से यह भी पता लगाया गया है कि आजकल व्यक्तियों और समूहों के जीवन में आम तौर पर भावनाओं का जो अन्तर्द्वन्द्व और दमन और सामंजस्य का अभाव पाया जाता है वही हमारे आजकल के बहुत-से दुःखों का कारण है। इन अन्तर्द्वन्द्वों को उस समय तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक हम अपने अन्दर सकारात्मक साहस न पैदा करें, और यह साहस केवल शारीरिक ही नहीं बल्कि बौद्धिक तथा नैतिक भी होता है। अधिक व्यापक अर्थ में साहस का यह सकारात्मक रवैया पैदा करने के लिए कई ऐसी बातों की जरूरत पड़ती है जिनका सम्बन्ध हमारी मानसिक अवस्था से होता है। व्यापक दृष्टि से इस साहस का अर्थ केवल यह नहीं है कि हम साहस के साथ शारीरिक संकटों का सामना कर सकें बल्कि हमारे अन्दर अपनी विचार तथा क्रिया की स्वतन्त्रता की बलि देकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के प्रलोभन से बचने की भी क्षमता हो। कारण यह कि हमारे जीवन पर जो भय छाया रहता है वह जिस हद तक शारीरिक भय होता है उसी हद तक वह इस बात का भी भय होता है कि कहीं हमारा समाज हमसे नाराज न हो जाये। हम हर उपाय से समाज की दृष्टि में प्रतिष्ठा प्राप्त करने और उसकी आलोचना से बचने की कोशिश करते हैं। कुछ सीमाओं के भीतर तो यह उद्देश्य चरित्र का निर्माण करने के लिए उपयोगी होता है और इससे व्यक्ति के समाज में घुलमिल जाने में सहायता मिलती है। लेकिन अगर इसे हद से ज्यादा बढ़ा दिया जाये तो उसके फलस्वरूप ऐसा निरीह, अपने आपको मिटा देनेवाला और कायर व्यक्ति पैदा होता है जिसे अपने विश्वासों पर कोई आस्था नहीं होती। ऐसा व्यक्ति जान-बूझकर अपने व्यक्तित्व को कुचल देता है कि कहीं समाज उसके खिलाफ न हो जाये या फिर वह मक्कारी का रवैया अपना लेता है। यह मक्कारी भय का ही एक दूसरा बेईमानी से भरा हुआ रूप है और यह रवैया अपना लेने पर वह अपनी सच्ची भावनाओं तथा विचारों को छुपाने लगता है और उन्हीं भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त करता

है जो उस समय अधिकतम लोगों को स्वीकार्य हों। हमें अपने बच्चों में ऐसा साहस पैदा करना चाहिए जो मन और आचरण का एक ऐसा आम रवैया हो जो उनके पूरे जीवन पर छाया रहे, जो उन्हें बाहरी संकटों और मनोगत अन्तर्द्वन्द्वों तथा प्रलोभनों दोनों ही का सामना करने की क्षमता प्रदान करे जिन्हें वे केवल कठोर अनुशासन द्वारा ही वश में कर सकते हैं।

यह रवैया दो चीजों पर निर्भर है, जिनमें से एक पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं—अर्थात् यह कि हम अपने अन्दर ऐसी अवैयक्तिक तथा वस्तुगत रुचियाँ पैदा करें जो हमारे व्यक्तित्व को अधिक गहराई तथा व्यापकता प्रदान करती हैं और उसे भय की उस प्रबल भावना से मुक्त कर देती हैं जो बहुधा अहं की भावना में लीन रहनेवाले स्वार्थी तथा आत्म-प्रेमी व्यक्ति के जीवन पर छायी रहती है। जो आदमी अपनी शक्तियों को विभिन्न स्वस्थ तथा उपयोगी रुचियों में पर्याप्त रूप से व्यय करता है, और तन-मन से महान् ध्येयों की सेवा में संलग्न हो जाता है वह मृत्यु के घातक भय पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह इतना मूर्ख या तुच्छ विचारोंवाला नहीं होता कि अपनी शारीरिक मृत्यु को सृष्टि का अन्त समझ बैठे। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि उसके बाद आनेवाले लोग उसके काम को क्रमभंग हुए बिना जारी रखेंगे और अपने महान् उद्देश्य की अन्तिम विजय के रूप में वह अमर रहेगा। अपने जीवन को पूरी मानवता के जीवन के साथ एकाकार करके और एक प्रकार से उसमें विलीन होकर वह सच्ची अमरता प्राप्त करता है, भले ही वह किसी दूसरी चीज की अमरता के रूप में हो। इसी अर्थ में कवि इकबाल ने अपने एक शेर में व्यक्ति के जीवन का सम्बन्ध समाज के जीवन के साथ जोड़ा था :

फ़र्द क़ायम रब्ते-मिल्लत से है, तनहा कुछ नहीं;
मौज है दरिया में, और बैरूने-दरिया कुछ नहीं।

(व्यक्ति का अस्तित्व उन बन्धनों की बदौलत ही है जो समाज से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं—अकेला वह कुछ भी नहीं है! जिस तरह नदी का एक अंग बनकर ही लहर का अस्तित्व बाकी रह सकता है—नदी से बाहर वह कुछ भी नहीं है!) और इसी अर्थ में खुदा के बताये हुए रास्ते पर चलकर अपनी जिन्दगी बितानेवाला शहीद अमरता प्राप्त करता है : "जो राहे-खुदा में अपनी जान दे दें उन्हें मरा हुआ न कहो; वे मरकर भी जिन्दा रहते हैं और अपने खालिक (स्रष्टा) के यहाँ उन्हें अपने आमाल (कर्मों) की जज़ा (फल) मिलती है।" (कुरान शरीफ)

दूसरी चीज, जो बर्ट्रेण्ड रसेल की राय में सच्चे साहस का एक अभिन्न अंग है, वह है सच्चे आत्म-सम्मान की भावना। सच्चा आत्म-सम्मान न तो दूसरों के प्रति स्वार्थपूर्ण तिरस्कार या असहिष्णुता पर आधारित होता है और न ही ये भावनाएँ उसके फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। सच्चा आत्म-सम्मान हमारे इस शान्त विश्वास से उत्पन्न होता है कि हमारा व्यक्तित्व बेहद अनमोल हो सकता है और प्रकृति की ओर से हमें यह जन्मसिद्ध अधिकार मिला है कि हम अपने निजी अनुभव, अपने ज्ञान और भले-बुरे की अपनी परख के अनुसार अपने ढंग से सोचें और अपने ढंग से काम करें। जो कोई भी किसी क्षणिक आवश्यकता के लिए या समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनी इस अन्तिम स्वतन्त्रता को त्याग देता है वह कभी सच्चे साहस की महानता नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा आदमी सुकरात को हमेशा एक पागल घमण्डी आदमी समझेगा जिसने 'केवल' अपनी सच्ची राय को त्याग देने के मुकाबले में जहर का प्याला पी लेना ज्यादा पसन्द किया। ऐसे आदमी के सारे विचार और काम उसके अपने समाज के धुँधले प्रतिबिम्ब होंगे और वह भय की अन्धकारमय दुनिया से कभी बाहर नहीं निकल पायेगा।

ऊपर दिये गये तर्कों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि आजकल चारों ओर जितना दुःख दिखाई देता है उसका कितना बड़ा हिस्सा भावनाओं के उन अन्तर्द्वन्द्वों और भावनाओं के उस दमन की वजह से है जिसका कि हमारी पीढ़ी के लोग शिकार हैं। घर पर और स्कूलों में स्वतंत्रता का अभाव, व्यक्ति के विचारों तथा उसके आचरण को शिकंजे में जकड़ देने के लिए समाज द्वारा अपनाये जानेवाले दमन के हजारों ढंग, बचपन में ही भावनाओं की प्रवृत्तियों का दमन और फलस्वरूप विकृत भावनाओं की उत्पत्ति, इन सब चीजों की वजह से व्यक्ति के जीवन के प्रकृत तथा स्वस्थ विकास में बाधा पड़ती है। जब समय की गति के कारण पुरानी तथा चिर-स्थापित समाज व्यवस्था की प्रथाएँ और रीति-रिवाज बेकार हो जाते हैं और समाज की शक्ति को फलप्रद दिशाओं में अनुशासित तथा निर्देशित करने के बजाय समाज की शक्ति के स्वाभाविक प्रवाह को बिल्कुल रोक ही देते हैं, तब यह परिस्थिति बहुत उग्र रूप धारण कर लेती है। आज भारत में, और अलग-अलग हद तक सारी दुनिया में, यही हो रहा है। आजकल की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों ने वास्तव में एक नयी दुनिया ही बना दी है जहाँ देश और काल की सारी धारणाएँ प्रायः गिर गयी हैं और कई ऐसे भौगोलिक तथा जातीय तथ्यों का अस्तित्व ही नहीं रह गया है जिन पर हमारी चिर-पोषित मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का आधार था। पर हम अभी तक

उसी पुराने ढंग से सोचते हैं जो अब उपयोगी नहीं रह गया है। हमारी निष्ठाएँ अब भी बेहद संकीर्ण हैं और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों तथा पारस्परिक निर्भरता के बारे में हमारी कल्पना अभी तक बहुत धुँधली और कमजोर है। उदाहरण के लिए, भारत में वर्ण-व्यवस्था की जड़ें अभी तक बहुत मजबूत हैं। राजनीतिक दलबन्दियों का आधार आर्थिक भेदों पर न होकर अभी तक धार्मिक तथा सामाजिक भेदों पर है। जो विचार सम्भवतः पतनशील सामंती व्यवस्था में उपयोगी रहे हों, वे अब भी आधुनिक युग पर अपना अवरोधकारी प्रभुत्व जमाने की कोशिश करते हैं। समाज की विभिन्न-संस्थाएँ व्यक्ति को अलग-अलग दिशाओं में खींचती रहती हैं और उसके वैयक्तिक जीवन की एकता तथा गठाव को छिन्न-भिन्न करने की कोशिश करती रहती हैं। आर्थिक प्रेरणाओं का धार्मिक प्रेरणाओं से द्वंद्व चलता रहता है और राजनीतिक निष्ठाओं तथा साम्प्रदायिक बन्धनों में एक वैमनस्य रहता है। फिर यदि स्कूल के काफी हद तक सीमाओं में घिरे हुए वातावरण से निकलकर बाहर की असंगठित दुनिया में प्रवेश करनेवाला हतप्रभ नवयुवक अपना सन्तुलन खो बैठे और उसमें यह भावना पैदा न हो सके कि यह अपने आपसे और अपने वातावरण से संतुष्ट है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। इस पूरी परिस्थिति को एक बेहतर दिशा में मोड़ने की समस्या बहुत जटिल है, वास्तव में वह ऐसी जटिल समस्या है कि उसका कोई हल आसानी से समझ में नहीं आता। परंतु यदि इस समस्या के विस्तार पर एक दृष्टि भर डाल ली जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसे सिर्फ स्कूलों में नहीं हल किया जा सकता और जब तक सभी सामाजिक संस्थाएँ शैक्षणिक प्रयासों में योग नहीं देंगी तब तक परिणाम बहुत निराशाजनक रहेंगे।

अन्तिम बात यह है—जिसे अन्तिम बात होने की वजह से सबसे कम महत्त्वपूर्ण न समझा जाना चाहिए—कि आजकल लोगों के जीवन में सुख का जो अभाव है उसका एक स्पष्ट और स्थायी कारण यह है कि समाज का आर्थिक तथा व्यावसायिक संगठन बहुत दूषित है, जिसकी वजह से लाखों लोगों को कोई उपयोगी तथा रुचिकर काम करने का मौका नहीं मिल पाता। इस श्रेणी में न केवल बेरोजगार लोग आते हैं, जो 'सभ्य' देशों में 'राज्य की ओर से मिलनेवाले गुजारे' पर और दूसरे देशों में दूसरों के दान पर जिन्दा रहते हैं या भूखे रहते हैं, बल्कि उन मजदूरों का विशाल बहुमत भी इसी श्रेणी में आता है जो किसी-न-किसी तरह अपनी जीविका तो कमा लेते हैं पर जिन्हें अपने व्यवसाय में इतना थोड़ा पारिश्रमिक मिलता है और काम इतना अरुचिकर होता है कि वे पथभ्रष्ट होकर अवांछनीय मार्गों की ओर भटक जाते हैं। लोग इस बात को तो आम तौर पर

मानते हैं कि काम न रहने पर आदमी की हिम्मत किस तरह बिल्कुल टूट जाती है और उसकी आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना किस प्रकार नष्ट हो जाती है। लेकिन इस बात को इतने व्यापक रूप से स्वीकार नहीं किया जाता कि ज्यादातर मजदूरों को ऐसे अनुपयुक्त कामों में, जिनके लिए वे अपनी बुद्धि और अपने स्वभाव की दृष्टि से अयोग्य होते हैं, जान खपाने पर मजबूर करने से समाज और उस व्यक्ति का कितना ज्यादा नुकसान होता है। यह दुर्भाग्य की बात शिक्षित वर्गों को और भी ज्यादा कुचल देती है हालाँ कि आम तौर पर हमें उनसे आशा यही करनी चाहिए कि वे न केवल श्रेष्ठतर कोटि का काम करेंगे बल्कि अपने काम से उच्चतर स्तर का सन्तोष भी प्राप्त करेंगे। औसत भारतीय किसान या दस्तकार—जहाँ अभी तक उनका स्थान मशीनों ने नहीं ले लिया है—अपने काम और अपनी रुचियों के संकुचित क्षेत्र में थोड़ा-बहुत सन्तोष भी प्राप्त कर लेता है और कुछ हद तक उसमें लीन भी रहता है; परन्तु स्कूलों या कालेजों के पढ़े हुए काला कोट पहननेवाले वकील या सफेदपोश बाबू, जो अपने दफ्तर की मेज पर या कचहरियों के निरुत्साह कर देनेवाले वातावरण में अपनी जान खपाते रहते हैं, वे अपनी क्षमताओं को सही माने में व्यक्त नहीं कर पाते—अपने काम का उनके लिए इससे अधिक कोई अर्थ या महत्त्व नहीं होता कि उससे उन्हें कुछ पैसा मिल जाता है। परिणाम यह होता है कि जीवन भर वे असफलता की भावना के बोझ से दबे रहते हैं—अपनी शक्तियों तथा क्षमताओं का श्रेष्ठतम उपयोग करने में असफलता, वैयक्तिक प्रतिष्ठा या समाज-सेवा का सन्तोष प्राप्त करने में असफलता। इस तरह देश को दोहरा नुकसान होता है। एक तरफ तो शिक्षित वर्गों में बेरोजगारी की वजह से भौतिक तथा बौद्धिक दोनों ही क्षेत्रों में राष्ट्र की कुल उत्पादन-शक्ति कम होती है। दूसरी तरफ जिन लोगों को किसी तरह कोई काम मिल भी जाता है उनकी शक्तियों को गलत दिशाओं में लगाने या उनका केवल आंशिक उपयोग ही करने का परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय उत्पादन-क्षमता और भी कम हो जाती है और उनके चरित्र तथा स्वभाव पर इस बात का बहुत बुरा असर पड़ता है। कारण यह कि किसी भी व्यक्ति का दृष्टिकोण तथा उसका चरित्र प्रतिदिन के काम के दौरान में ही ढलकर तैयार होता है और इस काम से यदि उसे सृजन का सुख तथा मानसिक सन्तोष नहीं मिलता तो उसमें निराशा की भावना बढ़ने लगती है। यह समस्या इतनी कष्टप्रद और इतनी विशाल है कि हम उसे यदि आधुनिक युग की सबसे बड़ी सामाजिक तथा शैक्षणिक समस्या नहीं तो सबसे बड़ी समस्याओं में से एक कह सकते हैं। इस समस्या को हल करने के लिए स्कूलों, विश्वविद्यालयों, राज्य-

व्यवस्था और उद्योग तथा व्यापार के नेताओं को एक-दूसरे का घनिष्ठतम सह-योग प्राप्त करके जुटकर काम करना होगा और इसके साथ ही शिक्षा-व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था को अधिक बुद्धिसंगत ढंग से नये सिरे से संगठित करना होगा। भरपूर तथा सुखी जीवन के लिए एक बुनियादी शर्त यह है कि हर काम करनेवाले को सही माने में ऐसा 'काम' करने का मौका मिले जिसमें उसे सचमुच दिलचस्पी हो, और जब तक अधिकांश स्त्रियों तथा पुरुषों को इस प्रकार के अवसर से पूर्णतः या आंशिक रूप से वंचित रखा जाता है तब तक उन्हें कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता और सामाजिक शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती।

६

सुख के लिए शिक्षा (२)

जीवन में सुखके अभाव के मुख्य कारणों के इस विश्लेषण के बाद—जिसमें हर चीज का विश्लेषण नहीं किया गया है बल्कि केवल कुछ मुख्य विशेषताओं को चुन लिया गया है—हमारे सामने यह प्रश्न आता है : जो परिस्थिति हमारे सामने प्रकट हुई है उसके दोषों को दूर करने और सुधारने के लिए शिक्षा द्वारा क्या किया जा सकता है ? जिन मानसिक तथा सामाजिक विरोधों के कारण जीवन का सुख नष्ट होता है उनको दूर करने के एक साधन के रूप में शिक्षा के काम तथा उसकी सम्भावनाओं की व्याख्या करने से पहले हमें इस बात पर एक बार फिर जोर देना चाहिये कि अकेले शिक्षा ही आसानी से हमारे मनोगत तथा वस्तुगत जगत् का निर्माण नहीं कर सकती। नवयुवकों और प्रौढ़ों दोनों पर ही नाना प्रकार की तथा जटिल सामाजिक शक्तियों का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है जो उनके विकास-क्रम को अत्यन्त शक्तिशाली ढंग से निर्धारित करती हैं—उससे भी अधिक शक्तिशाली ढंग से जितना कि स्कूल या कालेज कर सकते थे। इतिहास के दौरान में शिक्षण-सिद्धान्त ने बहुधा ऐसे आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त की है जो तत्कालीन सामाजिक स्थिति से आगे थे, परन्तु व्यवहार या तो सिद्धान्त से बहुत पीछे रह गया है या सामाजिक स्थिति की शक्तियों ने स्कूलों के अच्छे प्रभाव पर पानी फेर दिया है। कोई भी शिक्षण-सिद्धान्त राष्ट्र के चरित्र में कोई व्यापक आमूल परिवर्तन करने में तभी सफल हुआ है जब वह किसी ऐसे राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक आन्दोलन के साथ-साथ और उससे सामंजस्य रखकर लागू किया गया है जिसने पूरी जाति के जीवन की जड़ों को हिला दिया हो। इसलाम के उदय के बाद अरब समाज में जो परिवर्तन हुआ, या अमरीकी क्रान्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रगति हुई, या अगर हम इससे भी निकट की घटना को लें तो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जो परिवर्तन हुए, या सीमित तथा अधूरी हद तक हमारे

राष्ट्र के जीवन पर गांधीवादी आन्दोलन का जो प्रभाव पड़ा, जिसका पूरा अनुमान अभी तक नहीं लगाया जा सका है—ये सारे परिवर्तन इसी कोटि के थे। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हम संक्षेप में यह बता सकते हैं कि शिक्षा-व्यवस्था को इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए क्या दिशा अपनाने की कोशिश करनी चाहिये।

हम देख चुके हैं कि अपने आपमें ही लीन रहने का रवैया जीवन में सुख के अभाव का एक सबसे बड़ा कारण है। इस समय हमारी शिक्षा-व्यवस्था जिस रूप में संगठित है उससे यह रवैया खत्म नहीं होता बल्कि और मजबूत होता है। इसका कारण यह है कि शिक्षा, राष्ट्रीय संस्कृति तथा धर्म का पारस्परिक सप्राण सम्बन्ध बहुत कमजोर हो गया है और इसलिए आम तौर पर लोगों में यह भावना पैदा हुई है कि शिक्षा व्यक्ति की भौतिक अथवा आर्थिक स्थिति में सुधार करने का एक साधनमात्र है। यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो शिक्षा पर स्वाभाविक रूप से स्वार्थपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा तथा वैयक्तिक लाभ की भावना का ही प्रभुत्व रहेगा और शायद इन परिस्थितियों में यही तर्कसंगत भी होगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अध्यापन तथा अनुशासन की जो प्रणाली अपनायी जाती है और उसका सामान्य संगठन जिस ढंग का है उन सभी में बच्चे के जीवन के वैयक्तिक पहलू पर जोर दिया जाता है और प्रतिस्पर्द्धा में सफलता प्राप्त करने को समाज-सेवा से अधिक महत्त्व दिया जाता है। ज्ञान प्राप्त करना 'ग्रहण करने' की ऐसी प्रक्रिया है जो न केवल एक निष्क्रिय चीज है बल्कि सारतः हर व्यक्ति के लिए इस प्रक्रिया का रूप सर्वथा भिन्न होता है। उसका स्वरूप किसी सहकारी कार्य जैसा नहीं होता जिसमें व्यक्ति संयुक्त रूप से आयोजित अथवा स्वीकृत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'अपने आपको अर्पित कर दें'। इसके अतिरिक्त स्कूलों में जो कुछ पढ़ाया जाता है उसकी विषय-वस्तु इतनी हीन तथा संकुचित होती है और स्कूलों में जो काम कराया जाता है उसमें से ज्यादातर इतना औपचारिक ढंग का होता है कि बच्चों के लिए समृद्ध तथा वैविध्यपूर्ण रुचियाँ अपनाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है, ऐसी रुचियाँ जिनसे वे स्वयं अधिक सुसंस्कृत बन सकें या उन्हें समाजोपयोगी काम के अवसर मिल सकें और इस प्रकार ये रुचियाँ आगे चलकर उनके जीवन में सुखप्रद कार्य का स्रोत बन सकें।

इस परिस्थिति का हल यह है कि स्कूलों की पाठ्यचर्या और पाठ्यचर्या से बाहर के ऐसे अनेक कार्य-क्षेत्रों को अधिक समृद्ध बनाया जाये जिनके माध्यम से बच्चे अपनी वैविध्यपूर्ण रुचियों को सन्तुष्ट करते हैं। इसके बारे में पहले के एक

अध्याय में[1] कुछ ठोस सुझाव दिये गये हैं। इस कार्य-पद्धति का उद्देश्य बच्चों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना होना चाहिये कि वे सभी उपयोगी गतिविधियों में—साहित्यिक, कलात्मक, सामाजिक तथा शारीरिक गतिविधियों में—तन-मन से भाग लें ताकि वे स्वयं अपनी संकुचित सीमाओं से बाहर निकलना सीखें और अपने अन्दर ऐसी बहुमूल्य बाह्य रुचियाँ पैदा करें जिन्हें वे स्कूल छोड़ने के बाद जारी रख सकें और विकसित कर सकें। यदि बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जिज्ञासा को इस प्रकार व्यापक बना लिया जाये और मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली हर चीज के प्रति संवेदना की रफ्तार तेज कर दी जाये तो यह हमेशा के लिए बिना किसी खर्च के सुख का एक स्रोत बन सकता है और स्कूलों तथा कालेजों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस चीज को प्रोत्साहन दें। साहित्य तथा कविता में रुचि लेना सीखकर, किसी प्रकार के कला-कौशल में या समाज-सेवा में लीन होकर हर व्यक्ति अपने जीवन को श्रेष्ठतर बना सकता है और उसका महत्त्व बढ़ा सकता है। वैयक्तिक संस्कृति की परिभाषा एक दृष्टिकोण से यह की गयी है कि उसका मतलब होता है 'चीजों के अर्थ की ज्यादा गहरी समझ', अर्थात् प्रतिदिन के जीवन के उन अनुभवों तथा वस्तुओं में अधिक महत्त्व खोज लेने और उनसे ज्यादा गहरा सुख प्राप्त करने की क्षमता ही उस व्यक्ति की वैयक्तिक संस्कृति होती है; असंस्कृत मनुष्य इनके पूरे महत्त्व को नहीं समझ पाता। इस प्रकार कलाकार की दृष्टि में ऋतुओं का परिवर्तन, सूर्योदय तथा सूर्यास्त, हवा के झोंकों से लहलहाती हुई अन्नकी सुनहरी बालें, पर्वतकी ढाल पर फूलों की अठखेलियाँ—वास्तव में सुन्दरता के सभी रूप सदा उल्लास का स्रोत बने रहते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय तथा मस्तिष्क में महान् मानव उद्देश्यों तथा आन्दोलनों के प्रति संवेदना की चेतना जाग्रत हो चुकी है उसे इन उद्देश्यों तथा आन्दोलनों की सेवा करके निश्चित सुख प्राप्त होता है। बच्चे को सुन्दर वस्तुओं के सम्पर्क में लाकर हम उसमें सौन्दर्य की रसानुभूति की क्षमता पैदा कर सकते हैं और कलात्मक रुचियों की नींव डाल सकते हैं। वास्तविक सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करके तथा उन पर विचार करके और स्कूल को एक उन्मुक्त सामाजिक परिवेश के रूप में संगठित करके जहाँ पारस्परिक आदान-प्रदान हो और कर्त्तव्यों तथा दायित्वों में लोग एक-दूसरे का व्यावहारिक रूप से साथ दें, हम बच्चे में सामाजिक शक्तियों की चेतना और सहकारी जीवन के सिद्धान्तों की समझ-बूझ पैदा कर सकते हैं। किशोरावस्था में माध्यमिक स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों को बालक

---

१. देखिये अध्याय ३।

को इसी सामाजिक तथा राजनीतिक दिशा में और आगे ले जाना चाहिये और अध्ययन-गोष्ठियों, विचार-विनिमय तथा कक्षा की पढ़ाई के जरिये उसकी मानव-रुचियों को बल प्रदान करना चाहिये ताकि उसकी भावनाओं तथा विचारों में किसी महान् तथा सुयोग्य उद्देश्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो। अधिकांश आधुनिक शिक्षा की अपूर्णता तथा असफलता का कारण यह है कि वह किसी महान् अवैयक्तिक आदर्श के प्रति निष्ठा की भावना नहीं पैदा करती बल्कि सतही ज्ञान और तथाकथित संस्कृति प्रदान करके ही सन्तोष कर लेती है और हद से हद किसी-न-किसी तरह दुनिया में 'काम चला लेने' की इच्छा पैदा करती है। 'बाह्यता' का यह रवैया, रुपया-पैसा या उपाधियाँ या सस्ती लोक-प्रियता जैसी बाहरी चीजें प्राप्त करके सुख पाने की इच्छा हमें भौतिक चीजों पर निस्सहाय रूप से अवलम्बित कर देती है और धीरे-धीरे हर्ष के उन समृद्ध तथा अमूल्य स्रोतों को सुखा देती है जो स्वयं हमारे अन्दर मौजूद रहते हैं। यह अपनी आत्मा की बलि देकर सारा संसार प्राप्त कर लेने को कोशिश करने की युगों पुरानी मूर्खता है, जिसका नतीजा यह होता है कि हमारे अन्दर मानवीय रुचियों के प्रति कोई प्रेरणा बाकी नहीं रह जाती और ये रुचियाँ न हम अपने अन्दर पैदा करते हैं, न अपने बच्चों के अन्दर। "संसार हमें या तो आश्चर्यजनक दृश्य के रूप में दिखाई देता है या निराशाजनक दृश्य के रूप में; हमें वह किस रूप में दिखाई देता है वह इस पर निर्भर करता है कि हम उसे जिज्ञासा और आश्चर्य की भावना के साथ देखते हैं या थोड़े-से-थोड़े समय में उसका ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा अपना लेने की इच्छा लेकर उसे देखते हैं। जिस दुनिया में हम रहते हैं उसमें हम जो भावना लेकर आते हैं वह अन्त में हमेशा हमारे अपने अस्तित्व की गहराइयों तक पहुँचती रही है और हमेशा पहुँचती रहेगी।"[१] जिन समृद्ध, वैविध्यपूर्ण तथा सुयोग्य रुचियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उन्हें अपने अन्दर पैदा करके हम अपने अस्तित्व को समृद्ध और भरपूर बना सकते हैं और ये रुचियाँ उस संसार की काया पलट देंगी जिसमें हम रहते हैं।

लोगों को भय के चंगुल से छुड़ाने के लिए, उनमें सकारात्मक साहस पैदा करने के लिए और बच्चों तथा किशोरों में भावनाओं के जो अन्तर्द्वन्द्व चलते रहते हैं उन्हें मिटाने के लिए शिक्षा द्वारा क्या किया जा सकता है? हम मोटे-मोटे तौरपर बता चुके हैं कि इस प्रक्रिया में किन मानसिक तत्त्वों का समावेश होता है—बच्चों में आत्म-सम्मान की ऐसी गहरी भावना पैदा की जाये जिससे वे धीरे-धीरे हर उस चीज को अस्वीकार करना सीखें जो घटिया तथा निम्न स्तर

१. ड्यूई : द मैन ऐंड हिज़ फ़िलासफ़ी

की हो और जो उनके लिए तथा अपने लिए उन्होंने जो आदर्श निर्धारित किया हो उसके लिए अनुपयुक्त हो; उनमें वस्तुगत रुचियाँ तथा जीवन के प्रति अवैयक्तिक दृष्टिकोण पैदा किया जाये। इनमें से पहली बात के लिए यह जरूरी है कि अध्यापक बिना किसी संकोच के शिक्षण के उन सभी तरीकों और अनुशासन की उन सभी युक्तियों को त्याग दें जिनसे बच्चे की आत्म-सम्मान की भावना को ठेस पहुँचती हो। अब से पहले अध्यापकों ने इस तरह के तरीके तथा युक्तियाँ सोचने में बहुत दिमाग लड़ाया है—जाहिर है वे ऐसा इसी उद्देश्य से करते थे कि जो लड़के पढ़ने में कमजोर हों या मन लगाकर काम न करते हों वे अपने आचरण पर लजित हों! परन्तु अनिवार्य रूप से इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे का आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है और फलस्वरूप उसमें या तो भीरुता आ जाती है या वह संवेदनशील न रह जाये। अब समय आ गया है कि अध्यापकगण इसका उल्टा तरीका अपनायें और अपने शिष्यों के अच्छे काम की प्रशंसा करके तथा उनमें अपने सारे कामों को—पढ़ाई में भी और आचार-ब्यवहार में भी—उस आदर्श की कसौटी पर परखने की आदत डालकर, जो उन्होंने अपने लिए निर्धारित किया हो, उनकी आत्म-सम्मान की भावना को मजबूत करें। जहाँ तक निरन्तर भय की भावना को दूर करने के एक उपाय के रूप में वस्तुगत रुचियाँ पैदा करके अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाने का सवाल है, हम एक समृद्ध तथा रचनात्मक कार्य के रूप में शिक्षा के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार कर चुके हैं। जो स्कूल या कालेज युवकों की विकासवान पीढ़ी के सामने नयी-नयी रुचियों के मार्ग उन्मुक्त करता है वह उन्हें अपने चारों ओर की दुनिया के साथ सम्पर्क के नये अवसर प्रदान करता है और उनकी भावनाओं तथा विचारों को आत्मनिष्ठ होने की दिशा से अवैयक्तिक होने की दिशा में मोड़ने में सहायता देता है। स्कूलों में तो यह प्रक्रिया अचेतन अथवा अर्ध-चेतन स्तर पर चलती है—बच्चा अपने आप तथा पूरे तन-मन से सहकारी कार्यों में संलग्न हो जाता है—पर कालेजों या विश्वविद्यालयों का यह कर्त्तव्य है कि वे इसे हर युवक का सचेतन तथा सोच-समझकर पसन्द किया गया रवैया बना दें और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए न केवल कालेजों तथा विश्वविद्यालयों की पढ़ाई का उपयोग किया जाना चाहिये बल्कि वैयक्तिक तथा सामूहिक प्रभावों के एक शक्तिशाली क्रम को जन्म देकर उनका लाभ भी उठाया जाना चाहिये।

भय के प्रभुत्व को दूर करने के लिए और भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान करने के लिए स्कूलों में शिक्षा तथा सामाजिक जीवन को उचित दिशा

में मोड़ देना ही काफी नहीं है। ये प्रवृत्तियाँ केवल बुरी पढ़ाई के कारण ही नहीं पैदा होतीं बल्कि काफी बड़ी हद तक बचपन में तथा किशोरावस्था में दमनशील अनुशासन की पद्धति के कारण उत्पन्न होनेवाली अनेक अवरुद्ध भावनाएँ भी इन प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। एक प्रकृत, स्वस्थ तथा उन्मुक्त स्वभाव के विकास के लिए स्वतंत्रता के वातावरण की जरूरत होती है। उसके लिए यह जरूरी होता है कि आदमी के मन में यह भावना न हो कि उसका जीवन चारों ओर से बाहरी अवरोधों तथा प्रतिबन्धों से घिरा हुआ है। अनुशासन उसी हद तक प्रभावशाली तथा शिक्षाप्रद होता है जिस हद तक कि उसके द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध बच्चे के जीवन का स्वाभाविक अंग बन जायें, और वे बाहर से लगाये गये प्रतिबन्ध न रहकर स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की गयी अन्दर से पैदा होनेवाली अटल प्रेरणाएँ बन जायें। परन्तु यह शर्त न तो घर के जीवन में पूरी होती है, न स्कूल में और न ही अन्य सामाजिक संस्थाओं के सम्बन्धों में। माता-पिता, अध्यापक और अन्य सामाजिक अधिकारी अपनी शक्ति का प्रयोग निरंकुश भाव से करते हैं और इस शक्ति का प्रयोग करने के लिए उनको बल-प्रयोग का अवलम्ब प्राप्त रहता है, हालाँकि इस अवलम्ब पर एक बहुत हल्का-सा परदा पड़ा रहता है। नतीजा यह होता है कि वे हद-से-हद केवल बाहर से देखने में ही उनके आचरण में आज्ञापालन का भाव पैदा कर पाते हैं। बच्चा बाहर से तो समाज की प्रथाओं का पालन करता है और समाज के मानदण्डों को स्वीकार करता है पर उसका भावनाओं का जगत् अपने स्वतन्त्र मार्ग पर ही चलता रहता है, और बहुधा उसके मन में विद्रोह की इच्छा और बाहर से लगाये गये सारे बन्धनों को तोड़ देने की भावना उबल पड़ती है। घर पर और स्कूल में हम भावनाओं के इस अन्तर्द्वन्द्व का प्रमाण इस रूप में देखते हैं कि बच्चा कभी-कभी क्रोध के मारे आपे से बाहर हो जाता है या तोड़-फोड़वाली शरारतें करने लगता है, जिस पर निश्चिन्त माता-पिता तथा अध्यापकों को बहुत आश्चर्य भी होता है और झुँझलाहट भी। आगे चलकर प्रौढ़ावस्था में समाज के ये बन्धन व्यक्ति के लिए एक असह्य बोझ बन जाते हैं। जब वह इन बन्धनों को अपनी आवश्यकताओं तथा अपने स्वभाव के अनुकूल न होने के कारण स्वीकार करने में अपने आपको असमर्थ पाता है—और ऐसा अकसर होता है—तब भी उसे विवश होकर उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि इन बन्धनों को बल-प्रयोग तथा सामाजिक परम्परा की प्रबल शक्ति का अवलम्ब प्राप्त रहता है। लेकिन आचार-व्यवहार को तो नियमों तथा विनियमों की जंजीरों में जकड़ा जा सकता है पर विचार तथा भावनाएँ मूलतः स्वतन्त्र

होती हैं—इसी कारण भावनाओं में अन्तर्द्वन्द्व और भय उत्पन्न होता है जो अधिकांश लोगों के जीवन को कुण्ठित कर देता है। इसलिए पुनर्गठन की समस्या जितनी शैक्षणिक है उतनी ही सामाजिक भी; और व्यक्तित्व की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के प्रति इस समय तक समाज में जितनी निष्ठा रही है उससे अधिक निष्ठा पर ही इस पुनर्गठन को आधारित होना चाहिये। यदि युद्ध की परिस्थितियों के कारण या अत्यधिक सामाजिक तथा आर्थिक अव्यवस्था अथवा राजनीतिक उथल-पुथल के कारण लोगों के सामान्य जीवन में कठोर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक भी हो जाये—जैसा कि इतिहास में अनेक बार हुआ है—तब भी इसे बहुत ही संकोच के साथ एक अस्थायी, युद्धकालीन उपाय के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था न्यायोचित तभी समझी जा सकती है जब अन्त में चलकर उससे अधिक स्वतन्त्रता मिले और व्यक्ति की सृजनात्मक क्रियाशीलता अधिक सजग हो उठे और भय का बोझ सफलतापूर्वक दूर हो सके। अन्यथा एक अस्थायी अनिवार्य व्यवस्था के रूप में भी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उसके फलस्वरूप लोगों को निश्चित रूप से बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और वे यह महसूस करने लगते हैं कि वे कैदखाने में बन्द हैं।

अन्त में आइये हम व्यावसायिक कुसंगठन की समस्या पर विचार करें, जिसके कारण आधुनिक विश्व में मात्रा की दृष्टि से सबसे अधिक असंतोष तथा दुःख पैदा होता है। आर्थिक तथा औद्योगिक जीवन की व्यवस्था को सुधारकर तथा उसे उचित दिशा प्रदान करके इस व्याधि को दूर करने का सवाल एक बहुत विशाल समस्या है और इस पुस्तक के विषय-क्षेत्र से बाहर है; क्योंकि इसमें अनेक जटिल समस्याओं का समावेश है, जैसे, काम के घण्टे और मजदूरी की दर, कष्टसाध्य श्रम को दूर करना, सम्पदा का बेहतर वितरण, औद्योगिक नियंत्रण में अधिक न्यायोचित साझेदारी और दूसरों के हितों की पूर्ति के केवल एक साधन के रूप में मजदूरों के निर्लज्ज शोषण का अन्त। परन्तु यदि हम अपने आपको शैक्षणिक पहलू तक ही सीमित रखें तब भी हम देखेंगे कि वह अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ है और उसने अन्य किसी भी शैक्षणिक समस्या की अपेक्षा अधिक गहरे मतभेदों को जन्म दिया है। क्या शिक्षा का उद्देश्य सीधे-सीधे किसी व्यावसायिक कार्य के लिए प्रशिक्षण प्रदान करना होना चाहिये? सामान्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के सापेक्ष मूल्य क्या हैं? विशेष ज्ञान प्राप्त करना किस मंजिल से शुरू किया जाना चाहिये? इनमें और ऐसे ही बहुत-से दूसरे प्रश्नों में पाठ्यचर्या, नीति तथा संगठन की बहुत-सी सिद्धान्त-सम्बन्धी तथा व्यावहारिक समस्याओं

का भी दखल है जिनके सभी पहलुओं पर यहाँ पर्याप्त रूप से विचार नहीं किया जा सकता। इसलिए मैं इस विषय के बारे में स्वयं अपने विचारों को कुछ मोटे-मोटे ढंग से, जो शायद कुछ हद तक रूढ़िबद्ध मालूम हों, बयान कर दूँगा।

इस बात में तो कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय शिक्षा-प्रणाली आवश्यकता से अधिक हद तक किताबों के ज्ञान तक सीमित रही है। वह इस दृष्टि से बहुत ही संकुचित अर्थ में 'व्यावसायिक' रही है कि वह विद्यार्थियों को केवल लिखा-पढ़ी के कुछ सीमित कामों के लिए और कुछ पढ़े-लिखे लोगों के पेशों के लिए प्रशिक्षित करती थी और वह इस दृष्टि से जरूरत से ज्यादा 'सामान्य' थी—मैं 'उदार' शब्द का प्रयोग नहीं करूँगा—कि देश के आर्थिक तथा औद्योगिक जीवन के साथ उसका कभी कोई सम्पर्क नहीं रहा। अब तक उसके जो परिणाम हुए हैं उनके प्रति एक व्यापक असंतोष की भावना है; उसके परिणाम अब तक यही रहे हैं—बेरोजगारी, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में कमजोर छात्रों की भीड़, उत्पादनशील कार्यके कुछ अन्य क्षेत्रों की ओर अपेक्षतः कम ध्यान देकर कुछ इनी-गिनी नौकरियों की ओर लोगों का भागना, इत्यादि। यह जनप्रिय माँग बहुत तर्कसंगत और समझदारी की माँग है कि शिक्षा को अधिक व्यावहारिक तथा यथार्थनिष्ठ होना चाहिये ताकि बहुत-से विद्यार्थी प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद अपनी रुचि के अनुसार उपयोगी व्यावसायिक कार्यों के क्षेत्र में प्रवेश कर सकें। अबसे बहुत पहले पास्कल के जमाने में शिक्षा-प्रणाली के खिलाफ एक बहुत गम्भीर आरोप लगाया था पर वह आज भी भारतीय-शिक्षा-प्रणाली के बारे में सत्य है; वह आरोप यह था कि यद्यपि "मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक महत्त्व इस बात का होता है कि वह अपने लिए कौन-सा व्यवसाय चुनता है, पर अपना व्यवसाय चुननेका यही बुनियादी काम है जिसके लिए अपने छात्रों को तैयार करने की कोशिश हमारी सार्वजनिक शिक्षा-प्रणाली सबसे कम करती है। यह हमारी पागल दुनिया का सबसे बड़ा पागलपन है।"[१]

इसलिए इस आम माँग से तो मैं सहमत हूँ कि स्कूलों में व्यावसायिक कार्य की शिक्षा आरम्भ की जाये पर हम इसके साथ ही उठायी जानेवाली इस माँग को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकते कि हमारे स्कूल निश्चित रूप से प्राविधिक तथा वाणिज्यिक स्कूल बन जायें जिनमें सीधे-सीधे कुछ निश्चित व्यावसायिक कार्यों के लिए प्रशिक्षण दिया जाये। इस प्रकार के परिवर्तन से संस्कृति के साधनों के रूप में हमारे स्कूलों की कार्य-क्षमता को गहरी क्षति

१. ऐनट की पुस्तक **एजुकेशन फॉर इंडस्ट्री ऐंड कामर्स इन इंगलैंड** में लार्ड पर्सी की भूमिका।

पहुँचेगी और यद्यपि वे एक संकुचित अर्थ में अपने छात्रों को कार्य-कुशल बना देंगे पर वे रसानुभूति तथा उल्लास के उन आन्तरिक स्रोतों को क्षीण कर देंगे जिन पर व्यक्ति का सुख बहुत बड़ी हद तक निर्भर रहता है। इसलिए स्कूलों में व्यावसायिक विषयों की शिक्षा आरम्भ करने का स्वागत तो किया जाना चाहिये, पर इसलिए नहीं कि उससे ज्यादा अच्छे टाइपिस्ट या बढ़ई या लोहार पैदा होंगे बल्कि इसलिए कि इसका बहुमूल्य परिणाम यह होगा कि व्यवसाय के प्रति उनके मन में रुचि पैदा होगी और यदि इस रुचि का उचित उपयोग किया गया तो बच्चों को उनकी व्यावहारिक तथा उत्पादनशील प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा दी जा सकेगी। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में इसी चीज की उपेक्षा का खतरा रहता है। इसके अतिरिक्त आजकल उद्योगों, कारखानों तथा वाणिज्य आदि में जो लोग अपेक्षतः ऊँचे पदों पर होते हैं उनके लिए यह जरूरी होता है कि उनकी सामान्य ज्ञान तथा प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि अधिक व्यापक हो क्योंकि आधुनिक आविष्कारों के कारण इन कार्य-क्षेत्रों का बौद्धिक तथा वैज्ञानिक सार-तत्त्व बहुत समृद्ध हो गया है। स्वाभाविक रूप से इसके लिए इस बात की जरूरत होती है कि इन क्षेत्रों में काम करनेवालों में नयी चीजों को जल्दी समझ लेने की अधिक क्षमता, अधिक सूझ-बूझ और अधिक उच्च कोटि का विशेष ज्ञान हो। इसलिए 'संस्कृति' के हित में और 'कार्य-कुशलता' की दूरदर्शितापूर्ण नीति के हित में यह आवश्यक है कि विशेष ज्ञान प्रदान करनेवाले प्राविधिक प्रशिक्षण से पहले उन्हें ऐसी व्यापक तथा विशद शिक्षा दी जाये जिसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के विषय भी हों और व्यावहारिक ज्ञान के भी। जाहिर है कि किस छात्र को यह 'सामान्य' शिक्षा कितने समय तक दी जायेगी यह इस पर निर्भर होगा कि वे जो व्यवसाय अपनानेवाले हैं वह किस प्रकार का है और उसके तकाजे क्या हैं; कुछ तो प्राथमिक शिक्षा के बाद ही किसी काम में लग जायेंगे और कुछ माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के बाद। कुछ छात्र ऐसे भी होंगे जो 'पढ़े-लिखे लोगों के' कुछ पेशे अपनाना चाहते होंगे; वे विश्वविद्यालय में अपनी सामान्य या आंशिक रूप से विशिष्ट ज्ञान की पढ़ाई जारी रखेंगे। अधिकांश उन्नत पश्चिमी देशों में इस समय झुकाव इस दिशा में है कि सभी बच्चों के लिए अठारह वर्ष की उम्र तक के लिए किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध सुनिश्चित रूप से कर दिया जाये, चाहे वह शिक्षा बाद में चलकर पूरे वक्त की पढ़ाई के माध्यमिक स्कूल में दी जाये या आधे वक्त की पढ़ाई के स्कूल में उनकी शिक्षा जारी रखी जाये। स्वयं हमारे देश में अभी तक राष्ट्रव्यापी पैमाने पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा नहीं लागू की गयी है और जहाँ शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं

को उचित रूप में समन्वित करने की अभी योजना ही बनायी जा रही है; ऐसी दशा में हमारे सामने सबसे तात्कालिक समस्या यह है कि प्राथमिक या माध्यमिक स्कूलों में अपनी शिक्षा समाप्त करनेवाले बच्चों के बारे में हम इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए विचार करें कि उनकी रुचि किस ओर है और जहाँ वे रहते हैं वहाँ उनके लिए क्या अवसर उपलब्ध हैं।

शिक्षा को 'व्यावसायिक' बनाने के बारे में लोगों के विचारों में स्पष्टता का बेहद अभाव है। इस मोटी-मोटी आलोचना के अतिरिक्त कि इसकी कल्पना संकुचित ढंग से की गयी है, इस योजना में यह भी दोष है कि उसमें बच्चों की मानसिक रुचियों की ओर सचेतन रूप में ध्यान नहीं दिया गया है और न ही इस योजना के अन्तर्गत विभिन्न स्थानों का व्यावसायिक सर्वेक्षण ही किया गया है जिससे यह मालूम हो सके कि कहाँ किन-किन व्यवसायों की सुविधा प्राप्त है और उनके लिए किस प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। व्यावसायिक निर्देशन की समस्या व्यावसायिक शिक्षा की किसी भी अच्छी योजना का अभिन्न अंग है, परन्तु जहाँ तक हमारे देश का सवाल है अभी तक वहाँ इस आवश्यकता को पूरा करने का पर्याप्त प्रबन्ध नहीं है और कहीं-कहीं तो उसके तात्कालिक महत्त्व को स्पष्ट रूप से समझा भी नहीं गया है। सभी राज्यों में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की योजनाएँ तैयार की गयी हैं। केन्द्रीय सरकार ने इस दिशा में पहला कदम उठाया है और कुछ राज्यों को शैक्षणिक तथा व्यावसायिक निर्देशन कार्यालय स्थापित करने में सहायता दी है, परन्तु कई राज्यों में अभी तक इस आवश्यक सेवा की व्यवस्था नहीं की जा सकी है। यह निर्णय किया गया है कि कई प्रकार के व्यावसायिक पाठ्यक्रम—वाणिज्यिक, प्राविधिक, कृषि, कला तथा गृह-विज्ञान के पाठ्यक्रम—लागू किये जायें, और पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कई 'बहु-प्रयोजन' स्कूल खोले गये हैं और खोले जा रहे हैं। परन्तु जब तक इस संक्रमण की अवस्था में बच्चों की रुचि का ध्यानपूर्वक मूल्यांकन नहीं किया जायेगा और जब तक इस छान-बीन के साथ ही स्कूल में उनकी प्रगति का और उनके बारे में उनके माता-पिता तथा अध्यापकों की राय का भी अध्ययन न किया जाये तब तक उन्हें अनुपयुक्त कामों में भटक जाने से नहीं रोका जा सकेगा और इन प्रस्तावित परिवर्तनों से कोई अधिक सुधार नहीं होगा। योरप के कई देशों में और अमरीका में व्यावसायिक निर्देशन का तरीका अब प्रयोग की मंजिल पार कर चुका है और उसे सरकारी तौर पर शिक्षा तथा उद्योगों के बीच की एक बहुमूल्य कड़ी माना जाने लगा है। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड में इंस्टीच्यूट आफ इंडस्ट्रियल साइकोलोजी (औद्यो-

गिक मनोविज्ञान प्रतिष्ठान) ने व्यावसायिक परीक्षण के कुछ तरीके बहुत ध्यान-पूर्वक विकसित किये हैं। यह संस्था माता-पिता को अपने बच्चों के भविष्य की जटिल समस्या के बारे में सलाह देती है, और उन्हें यह बताती है कि कौन-सा कार्य-क्षेत्र उनके लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा। वह रोजगार से लग जाने के बाद भी नौजवान मजदूरों के काम के बारे में जाँच-पड़ताल करती है और इस प्रकार अपने परीक्षणों की सार्थकता को परखती है। लगभग दस वर्ष से यह काम करते आने के बाद वह निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि इस प्रकार का व्यावसायिक निर्देशन निश्चित रूप से नौजवान मजदूरों को सच्ची सहायता प्रदान करता है; यह निर्देशन न मिलने पर यही मजदूर 'निरुद्देश्य मारे-मारे फिरनेवाले लोग' बनकर रह जाते, एक काम से दूसरे काम में भटकते फिरते और उन्हें न तो स्वयं सन्तोष मिलता और न अपनी क्षमता के अनुसार समाज की पूरी तरह सेवा करने का अवसर ही। काफी बड़ी संख्या में नौजवानों को अपने अवलोकन का आधार बनाकर उनके रोजगार में उनकी प्रगति का अध्ययन करने से यह पता लगा कि जिन लोगों ने इस संस्था से सलाह नहीं ली थी उनमें सफल तथा असफल लोगों की संख्या बराबर थी, अर्थात् उनके सफल होने या असफल रहने की सम्भावना बराबर-बराबर थी; परन्तु जिन लोगों ने इस संस्था की सलाह को स्वीकार किया था उनमें सौ में से नब्बे सफल रहे थे और दस असफल !

इसलिए यह जरूरी है कि हमारी शिक्षा के विकास की इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था में जब कि हमारी पूरी शिक्षा-पद्धति को निश्चित रूप से व्यावसायिक बनाने के उद्देश्य से नये साँचे में ढाला जा रहा है, हम वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था के विरुद्ध एक विवेकहीन प्रतिक्रिया द्वारा ही पूरी तरह निर्देशित होकर कोई उल्टी-सीधी नीति न अपना लें। सामान्य और व्यावसायिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य ऐसे लोगों को तैयार करना है जो अपने विशिष्ट वातावरण में उपयोगी, संतुष्ट, सुव्यवस्थित तथा 'भरपूर' जीवन व्यतीत करें। यदि व्याव-सायिक शिक्षा काम करनेवालों की विशेष रुचियों तथा प्रवृत्तियों को ध्यान में नहीं रखेगी, यदि वह चौकोर खूँटियों को गोल सूराखों में बिठाती रहेगी, और यदि उस पर 'मानव-उद्धार' की भावना के बजाय पूरी तरह आर्थिक कार्य-कुशलता के संकुचित विचार का ही प्रभुत्व रहेगा तो उससे न तो वैयक्तिक सुख प्राप्त होगा और न ही वह उस कार्य-कुशलता को बढ़ा सकेगी जो उसका सचेतन उद्देश्य है। कार्लाइल ने अपने लाक्षणिक शक्तिशाली शब्दों में बताया है कि हर स्त्री तथा पुरुष के जीवन में उचित ढंग से चुने गये काम का वास्तविक

महत्त्व क्या होता है और इस सत्य पर जोर दिया है कि किसी रुचिकर कार्य में तन-मन से लीन हो जाना ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा सुख है। "हर सच्चा काम पुनीत है। हर सच्चे काम में, वह सच्चा शारीरिक श्रम ही क्यों न हो, देवत्व का एक पुट होता है।...संसार के लिए नवीनतम उपदेश यह है कि 'अपने काम को पहचानो और उसे पूरा करो।' जिसने अपना काम ढूँढ़ लिया है वह धन्य है; वह किसी और बरदान की चिन्ता क्यों करे।" यहाँ 'सच्चे' काम से अभिप्राय उस काम से है जो उस व्यक्ति की रुचि के अनुकूल हो, अर्थात् वह उसके लिए आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बन सके, और वह सामाजिक दृष्टि से श्रेयस्कर और पूरे समाज के लिए उपयोगी भी हो।

यहाँ पर हम उस दूसरे तथ्य पर अर्थात् उद्योगों, शिल्पों तथा अन्य व्यवसायों में उपलब्ध साधनों के सर्वेक्षण पर पर्याप्त रूप से विचार नहीं कर सकते जिस पर व्यावसायिक निर्देशन निर्भर करता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस समस्या को पूरी प्रक्रिया के केवल एक पक्ष के प्रसंग में, अर्थात् अलग-अलग हर बच्चे और उसकी रुचि के प्रसंग में, हल नहीं किया जा सकता। इसके लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि उस स्थान की और पूरे देश की आवश्यकताएँ क्या हैं और निकट भविष्य में शिक्षित काम करनेवालों को काम करने के क्या-क्या अवसर उपलब्ध होंगे। इसके लिए व्यावसायिक आवश्यकताओं के प्रादेशिक सर्वेक्षण संगठित करना जरूरी होगा; इन सर्वेक्षणोंको व्यावसायिक निर्देशन की स्थानीय संस्थाएँ संगठित करेंगी और विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश करनेवालों को विशेषज्ञ के रूप में उपयोगी परामर्श देने से पहले वे सारी बातों को समन्वित कर लेंगी। इस समय इस सुझाव पर विचार किया जा रहा है कि शुरू-शुरू में कम से कम बहु-प्रयोजन हाई स्कूलों में वृत्ति अध्यापक (कैरियर मास्टर) नियुक्त किये जायें जिनका काम यह हो कि वे केन्द्रीय इंस्टीच्यूटों को आधारभूत तथ्य-सामग्री प्रदान करें और अपने-अपने स्कूलोंकी व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय इंस्टीच्यूटों के निर्देशन में काम करें। यह काम पूरा हो जाने पर ही इस बात की कुछ आशा की जा सकती है कि स्कूलों में शिक्षा पानेवाली पीढ़ियों को बेरोजगारी से या आँख मूँदकर जो भी काम हाथ लग जाये उसमें भिड़ जाने से मुक्त किया जा सकेगा और उनके जीवन में सच्चे सुख का संचार हो सकेगा, जिसके बारे में मैं एक बार फिर कहूँगा कि जीवन का यह सच्चा सुख रुचिकर और पूरे मन से किये गये उपयोगी कार्य द्वारा ही मिल सकता है।

आधुनिक युग के स्त्री-पुरुषों के विकृत तथा असंतुष्ट जीवन में सुख का संचार करनेवाली शिक्षा पर विचार करते-करते हम बहुत दूर पहुँच गये हैं। परन्तु इस

प्रकार के अन्तर्सम्बन्ध मनुष्य के सप्राण व्यक्तित्व से, उस व्यक्तित्व से जिस पर सभी दिशाओं से अनेक प्रभाव पड़ते रहते हैं, सम्बन्ध रखनेवाली शैक्षणिक समस्याओं के ताने-बाने का अभिन्न अंग हैं। इसलिए जिस शिक्षा-पद्धति का हम प्रचार करते हैं और जिसके लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिये वह ऐसी शिक्षा-पद्धति है जो कार्य तथा अवकाश से सम्बन्धित स्वस्थ रुचियों को जन्म देगी और व्यक्ति के जीवन को ऐसे महान् तथा श्रेयस्कर उद्देश्यों के साथ सम्बद्ध कर देगी जो उसके निजी जीवन के सीमित क्षेत्र से अधिक व्यापक होंगे और यह शिक्षा-पद्धति पूरी मानव-जाति के बृहत्तर जीवन के साथ उसके जीवन का सामंजस्य स्थापित कर देगी। वह ऐसी शिक्षा-पद्धति होगी जो मानवोचित औद्योगिक व्यवस्था के साथ—कितनी कठिन और कितनी दूर है यह मंजिल !—घनिष्ठ तथा हितकर सहयोग स्थापित करके हर व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य-क्षेत्र के लिए प्रशिक्षित करेगी जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो और जिसमें उसकी लाक्षणिक योग्यताओं तथा रुचियों को यथासम्भव अधिकतम अभिव्यक्ति का पूरा अवसर तथा संतोष प्राप्त हो सके। केवल इस प्रकार की शिक्षा ही हमारी वर्तमान पीढ़ी के लोगों के जीवन में सच्चा सुख ला सकती है और मन बहलानेके उन घटिया साधनों तथा मनोरंजनों के खिलाफ एक अभेद्य दीवार का काम दे सकती है जिन्हें सुख समझा जाता है—बहुत-से ऐसे पढ़े-लिखे पर अ-सुसंस्कृत लोग भी, जिनके विचार और भावनाएँ इनसे उच्चतर सम्भावनाओं के प्रति जाग्रत नहीं हुई हैं, इन्हीं चीजों को सच्चा सुख समझ बैठते हैं। 'भावी स्कूल' का यह सबसे जरूरी कर्त्तव्य है कि वह उच्च शिक्षा की संस्थाओंकी सहायता से इस आदर्श को व्यवहार में पूरा करे।

भाग दो

नयी प्रवृत्तियाँ तथा उपागम

७

उदार दृष्टिकोण के पक्ष में[1]

इस वर्ष उस्मानिया विश्वविद्यालय ने मुझे शिक्षा पर एक्सटेंशन लेक्चर देने का निमंत्रण देकर बहुत बड़ा सम्मान प्रदान किया है। मैं यह तो विश्वास करने योग्य नहीं हूँ कि यहाँ पर जो प्रतिष्ठित श्रोतागण एकत्रित हैं, जिनमें विश्वविद्यालय के लोग भी हैं और बाहर के भी, वे सब यहाँ उस वक्ताविशेष की बातें सुनने के लिए आये हैं जो इस समय आपके सम्मुख भाषण दे रहा है। इसलिए मैं यहाँ पर आपकी उपस्थिति को इसी बात का प्रमाण मानूँगा कि हमारे इस युग में शिक्षा को एक ऐसे सामाजिक प्रयास के रूप में उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व दिया जा रहा है जिसके बिना सामाजिक अथवा आर्थिक अथवा नैतिक पुनर्निर्माण की किसी भी योजना के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। दृष्टिकोण में यह परिवर्तन मेरे लिए विशेष हर्ष का विषय है क्योंकि मैं इस बात से हमेशा बहुत चिन्तित रहा हूँ कि आधुनिक भारत में अभी तक शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया जाता यद्यपि भारत की परम्परा यह रही है कि यहाँ शिक्षा और ज्ञान को हमेशा से जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यह कहना तो सच है कि अब तक अन्य देशों की तुलना में भारत में सभी सामाजिक सेवाएँ उचित पोषण से वंचित रही हैं, पर दुर्भाग्यवश सारी सामाजिक सेवाओं में से शिक्षा के साथ सौतेली बेटी जैसा व्यवहार किया गया है और उसकी समस्त निहित सम्भावनाओं का पता नहीं लगाया गया है। इस प्रसंग में भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन की शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियों का उल्लेख कर देने से यह अन्तर बिलकुल स्पष्ट हो जायेगा। पिछले महायुद्ध के संकटमय तथा कष्टमय वर्षों में ब्रिटेन की पार्लमेण्ट ने एक नये शिक्षा अधिनियम को स्वीकृति दी, जिसके द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में पहली बार हर व्यक्ति के लिए अवसरों की सच्ची समता स्थापित करने और शिक्षा पर दस करोड़ पौंड अधिक व्यय

---

१. उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में दिये गये एक एक्सटेंशन लेक्चर से।

करने का आयोजन किया गया। इसके विपरीत भारत में बहुत-से लोगों ने इस देश में केन्द्रीय परामर्श मण्डल की शिक्षा के युद्धोत्तरकालीन विकास की योजना पर जरूरत से ज्यादा महत्त्वाकांक्षी और आदर्शवादी होने का आरोप लगाया था; हालाँकि इस योजना के अनुसार अब से पचास वर्ष बाद जाकर हमारे यहाँ उतनी विस्तृत शिक्षा-व्यवस्था की स्थापना हो पायेगी जैसी कि आज अधिकांश पश्चिमी देशों में मौजूद है और जिन्हें वहाँ के शिक्षा-सम्बन्धी विचारक एकमत होकर अपर्याप्त और असन्तोषजनक ठहराते हैं। और इस योजना की यह भी आलोचना की गयी है कि वह जरूरत से ज्यादा मँहगी है! जो लोग यह सवाल उठाते हैं वे शायद यह भूल जाते हैं कि सभी राष्ट्र विध्वंसात्मक कार्यों के लिए किसी-न-किसी तरह पैसा जुटा ही लेते हैं। वे युद्ध के दौरान में जिस तत्परता और जिस आत्म-त्याग की भावना का परिचय देते हैं उसका एक अंश भी यदि उनमें जन-साधारण के लिए आयोजित सामाजिक सेवाओं के प्रति हो तो संसार के अधिकांश देशों की जनता का जीवन उतना हीन, अनाकर्षक तथा अरुचिकर नहीं रह जायेगा जितना कि आज है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि आज मनुष्य के पास वह शक्ति और साधन मौजूद हैं जिनकी सहायता से वह प्रेरणाप्रद तथा सचमुच शिक्षाप्रद सामाजिक वातावरण का निर्माण कर सकता है, जो रोग के घातक प्रभाव और अज्ञान के अन्धकार से तथा अभाव के भय से मुक्त हो और जिसका लक्ष्य मनुष्य के स्वाभाविक गुणों तथा क्षमताओं का विकास करना हो। परन्तु आज मनुष्य में यह करने की सामाजिक चेतना, संकल्प और कल्पना-शक्ति का अभाव है, जिसका परिणाम यह है कि मनुष्यकी दशाको देखकर सद्भावना रखनेवाले लोग निराश होते हैं और आस्थाहीन लोग खुश होते हैं। मैं यहाँ पर अपने देश की शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति के प्रसंग में इस कथन पर जोर देना चाहता हूँ कि "जिन लोगों में कल्पना-शक्ति नहीं होती है, उनका विनाश हो जाता है", और मैं इस उदाहरण के रूप में प्राथमिक शिक्षा की समस्या को लूँगा। मैं इस विषय को जान-बूझकर चुन रहा हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप लोगों जैसे विश्व-विद्यालयोंके श्रोतागण माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की बहुत-सी समस्याओं को अच्छी तरह जानते भी हैं और उनमें दिलचस्पी भी लेते हैं पर प्राथमिक शिक्षा की समस्याएँ आपकी दृष्टि के क्षेत्र से बहुधा बाहर ही रहती हैं। मैं इस बात को स्पष्ट करने के लिए उत्सुक हूँ कि शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं के बीच कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है और मैं यह साबित करना चाहता हूँ कि जब तक सभी मोर्चों पर जमकर हमला नहीं किया जायेगा तब तक इस देश की शिक्षा की जटिल

समस्या को हल नहीं किया जा सकेगा। हमारे लिए यह याद रखना भी उपयोगी है कि बुनियादी महत्त्व, व्यापकता तथा राष्ट्रीय जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध की दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा का महत्त्व माध्यमिक या उच्च शिक्षा के महत्त्वकी तुलना में अधिक ही है, कम नहीं। उसका सम्बन्ध किसी विशेष वर्ग या समूह से नहीं होता बल्कि उसे देश की पूरी जनसंख्या को ध्यानमें रखना पड़ता है; हर कदम पर जीवन के साथ उसका सम्पर्क होता है और राष्ट्रीय विचारधारा तथा चरित्र का निर्माण करने में जितना हाथ इसका होता है उतना किसी दूसरी सामाजिक, राजनीतिक या शैक्षणिक गतिविधि का नहीं होता। इसलिए हममें से जिन लोगों का सम्बन्ध प्राथमिक शिक्षा के काम से है उन्हें समस्याओं और उद्देश्योंकी कल्पना गाँव के स्कूल की अँधेरी इमारतके प्रसंग में नहीं करनी चाहिये जहाँ न काफी अध्यापक होते हैं न काफी सामान होता है, बल्कि उसकी कल्पना हमें उसके अन्तिम लक्ष्यों और उद्देश्यों की पृष्ठभूमि में करनी चाहिये। शायद इतना दीर्घकालीन और कल्पनापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने में कुछ खतरा है, विशेष रूप से यदि वर्तमान दशा को परिस्थिति का एक अटल तत्त्व मानकर निश्चिन्त भाव से उसकी उपेक्षा की जाये। परन्तु मेरी राय में यदि हम विचारों और आदर्शों को छोड़कर छोटी-छोटी ब्योरे की बातों में ही फँसे रहें तो उसमें और भी ज्यादा खतरा है क्योंकि ये विचार और आदर्श ही इन ब्योरे की बातों को महत्त्व प्रदान कर सकते हैं। छछूँदर की तरह देखने के मुकाबले में गिद्ध की तरह देखना कहीं बेहतर है।

भारत में शिक्षा के गुण तथा उसकी मात्रा का वर्णन करने में मैं अधिक समय नहीं लूँगा। आज भी स्कूल जाने की अवस्था के ४ करोड़ ६० लाख बच्चों में से लगभग २ करोड़ ३० लाख बच्चे स्कूल नहीं जाते। इस हिसाब में सिर्फ ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों को ही स्कूल जाने की अवस्था की श्रेणी में रखा गया है। या तो उनके लिए स्कूल हैं ही नहीं या वे पढ़ाई का खर्च नहीं उठा सकते या फिर वे स्कूल में पढ़ने का महत्त्व नहीं समझते। मैं आगे चलकर बताऊँगा कि यह बात उतनी आश्चर्यजनक या मूर्खतापूर्ण नहीं है जितनी कि देखने में लगती है। जो ९० लाख बच्चे स्कूलों में भरती होते हैं उनमें से लगभग ३५ प्रतिशत एक वर्ष से ज्यादा वहाँ नहीं रहते जिसका मतलब यह है कि वे साक्षरता की बुनियादी बातें भी नहीं सीख सकते और उनकी पढ़ाई पर जो पैसा खर्च किया जाता है वह व्यर्थ जाता है। ४० लाख से भी कम बच्चे—ध्यान रहे ६ करोड़ में से—चार वर्ष तक स्कूल में पढ़ते हैं। इतना समय सिर्फ लिखना और पढ़ना सीखनेके लिए तो शायद काफी है पर कोई उपयोगी सामाजिक अथवा नागरिक प्रशिक्षण

प्राप्त करने के लिए काफी नहीं है। क्या इससे यह पता नहीं चलता है कि पिछले सौ वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में जो काम हुआ है उसकी दिशा भी गलत रही है और उसमें समय और धन भी नष्ट किया गया है ?

यह तो है शिक्षा की मात्रावाला पहलू। हमारे यहाँ जो शिक्षा दी जाती है वह गुण की दृष्टि से कैसी है ? गुण का मूल्यांकन करते समय इस बात को याद रखना अच्छा है कि स्कूलों में पढ़ाई का मानदण्ड कई भौतिक तथा मानसिक तत्त्वों द्वारा निर्धारित होता है—बच्चे के व्यक्तित्व पर केवल पाठ्यचर्या और अध्यापन-विधि का ही नहीं बल्कि अपने समस्त भौतिक, सामाजिक, रसानुभूति-सम्बन्धी तथा नैतिक तत्त्वों सहित पूरे परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है और उसके व्यक्तित्व को यथानुसार समृद्ध अथवा हीन बनाती रहती है। इस परिवेश में जितनी सामाजिक शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं उनके कुल प्रभाव द्वारा ही बच्चे के बहुमुखी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस प्रकार स्कूलों की इमारत और सामान, कक्षाओं की सजावट, खेलकूद की सुविधाओं, बच्चों द्वारा किये जानेवाले सामाजिक तथा व्यावहारिक कामों और यहाँ तक पुस्तकों की छपाई तथा उनकी सज्जा का बच्चों के मानसिक तथा भावना-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, भले ही उन्हें इस प्रभाव का आभास न रहता हो।

आइये, अब हम इस बात पर दृष्टि डालने की कोशिश करें कि भारत के २ करोड़ ३० लाख बच्चों के लिए किस प्रकार के औसत प्राथमिक स्कूल की व्यवस्था है। आप में से बहुत-से लोगों के लिए, जिन्होंने शानदार योजना के अनुसार बनाये गये इस विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी है, यह विश्वविद्यालय भारत के उन इने-गिने उदाहरणों में से है जहाँ शिक्षा-संस्थाओं की इमारत बनाने में कल्पना और दूरदर्शिता से काम लिया गया है—आपके लिए शायद इस बात की कल्पना करना कुछ कठिन होगा कि हमारे देश के करोड़ों बच्चों का पालन-पोषण उनके जीवन के उस काल में, जब उन पर बड़ी आसानी से हर चीज का प्रभाव पड़ सकता है और जब वे नई-नई बातें सीखते हैं, किन परिस्थितियों में होता है, जिस काल में उन्हें न केवल ज्ञान तथा कौशल की बुनियादी बातें सीखनी पड़ती हैं बल्कि जीवन व्यतीत करने की कठिन और नाजुक कला के तत्त्व भी सीखने पड़ते हैं। आप अपने मन में एक कच्ची या आधी पक्की झोपड़ी की कल्पना कीजिये जिसमें एक या दो कमरे हों, जिसकी दीवारें नंगी और फर्श धूल से अटे हों, जिसमें टाट के कुछ फटे-पुराने टुकड़ों या टूटी-फूटी कुछ डेस्कों को छोड़कर कोई फर्नीचर न हो, जहाँ हाथ-मुँह धोने या दोपहर को आराम करने या भोजन करने की कोई सुविधा न हो, जहाँ एक ब्लैकबोर्ड को छोड़कर बच्चों की

कोई किताबें या तसवीरें या खाके या शिक्षा के अन्य साधन न हों। इसके साथ ही इस बात को ध्यान में रखिये कि वहाँ मौसम की विषमताओं से बचाव की कोई सुविधा नहीं होती—गर्मी में बेहद गर्मी और जाड़ों में बेहद सर्दी रहती है—और जो स्कूल कुछ बड़े होते हैं उनमें सब बच्चों के बैठने भर को काफी जगह नहीं होती और उनमें घुटन रहती है। आप इन सब बातों की कल्पना कीजिए तो आपके सामने एक साधारण प्राथमिक स्कूल का काफी स्पष्ट चित्र आ जायेगा। इस गन्दे, घटिया और अनुपयुक्त स्थान में बेचारे अध्यापक से देश के बच्चों को 'शिक्षा देने' की आशा की जाती है, जिसका अर्थ यह है कि वह उनकी समस्त शारीरिक, बौद्धिक, कलात्मक तथा नैतिक क्षमताओं को 'खींचकर बाहर ले आये'। क्या ऐसे भौतिक वातावरण में कोई भी बच्चा स्वस्थ, प्रकृत तथा समृद्ध व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है?

सुसंगत तथा प्रगतिशील शिक्षा के लिए जिन दूसरी चीजों की आवश्यकता है। उनके सम्बन्ध में परिस्थिति क्या है? आइये, हम उनके बारे में छान-बीन करें। शिक्षा की पूरी प्रक्रियामें जिस चीज का महत्त्व अधिक है वह शायद अध्यापक ही है—उसकी शिक्षा तथा प्रशिक्षण, उसका व्यक्तित्व, उसका सामाजिक पद, उसका उत्साह, उसका आदर्शवाद और सामाजिक चेतना। अध्यापक से समाज की ओर से कोई लम्बे-चौड़े तकाजे करने से पहले क्या यह उचित न होगा कि हम अपने आप से यह प्रश्न पूछें कि अध्यापक समाज की जो महत्त्वपूर्ण सेवा करता है उसकी समाज क्या कद्र करता है। एक बार मैंने एक प्रशासन-सम्बन्धी रिपोर्ट में यह सूत्र प्रतिपादित किया था—जिसे पढ़कर उस सरकार का वित्त-विभाग बहुत विस्मित तथा क्रुद्ध हुआ—कि किसी भी सभ्यता का नैतिक मूल्य आँकने की एक खरी कसौटी यह हो सकती है कि उसमें अध्यापकों की क्या कद्र होती है। क्या यह बहुत बेतुका विचार है? यदि हम ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करें कि अध्यापक से हमारे लिए क्या करने की आशा की जाती है, तो यह विचार बिलकुल भी बेतुका नहीं लगेगा। मैं सारांश में यह बताऊँगा कि समाज अध्यापक से क्या आशा करता है और इसे मैं अपने शब्दों में नहीं बल्कि प्रख्यात अँग्रेज विचारक सी० ई० एम० जोड के इन नपे-तुले तथा अतिरंजनाहीन शब्दों में बयान करूँगा जो उन्होंने अपनी अति पठनीय पुस्तक "एबाउट एजुकेशन" में लिखे हैं :

"अध्यापक समाज के सदस्यों के विचारों को ढालने, उनके आचरण की दिशा निर्धारित करने और उनकी नैतिक धारणाओं का निर्माण करने-का काम एक ऐसे समय पर करता है जब समाज के ये सदस्य किसी भी

प्रभाव को सबसे ज्यादा आसानी से ग्रहण कर लेने की अवस्था में होते हैं। वह उनके अन्दर सबसे पहले भले और बुरे, सामाजिक हित तथा अहित और सुन्दर तथा कुरूप को पहचाननेकी क्षमता पैदा करता है। राजनीति के बारे में हमारे दृष्टिकोण को ढालने में भी उसका कुछ हाथ होता है।···वह जिन बातों का प्रतीक होता है वे हमेशा महत्त्वपूर्ण रही हैं, परन्तु हमारे इस युग में, जब कि आत्मा तथा बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली मान्यताओं का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है, ये बातें सर्वोपरि महत्त्व की हो गयी हैं। समाज जिन बातों के लिए अध्यापकों का ऋणी है उनमें इस बात का महत्त्व कम नहीं है कि इस कूपमण्डूक समाज में, जिस पर पेट और जेब की मान्यताओं का प्रभुत्व है, ये अध्यापक बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली चीजों का सम्मान करने के पथ से विचलित नहीं होते और जिस ज्योति की रक्षा करने का भार उन्हें सौंपा गया है उसे वे जलाये रखने की कोशिश करते हैं ताकि वे उस ज्योति को मन्द किये बिना अपने उत्तराधिकारियों के हाथों में सौंप सकें।"

अगर यह सच है—और मैं नहीं समझता कि अच्छे अध्यापकों के सम्बन्ध में कोई भी इस बात से इनकार कर सकता है—तो हमारे मानदण्डों के लिए कोई श्रेय की बात नहीं कि जो लोग मौन और तबाही का व्यापार करते हैं या लम्बी-चौड़ी बातें बघारते हैं या सट्टाबाजार में जुआ खेलते हैं या व्यर्थ दवाएँ बनाते या बेचते हैं, उनकी झोली तो हम रुपये-पैसे और मान-सम्मान से भर देते हैं लेकिन अपने प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों को अकसर हम उतना भी नहीं देते जितना कि पैसेवाले लोग अपने घर के नौकरों को देते हैं। सरकारी प्राथमिक स्कूलों में युद्ध से पहले अध्यापकों का औसत वेतन लगभग २५ रुपये प्रति माह था, जिसका मतलब है कि कुछ अध्यापकों को इससे भी कम मिलता था। प्राइवेट स्कूलों में तो उन्हें इससे भी कम वेतन मिलता था और कम-से-कम एक प्रान्त में तो अध्यापकों को प्रति मास ८ रु० ३ आने जैसी शानदार रकम वेतन के रूप में मिलती थी। केवल इतनी ही बात नहीं है कि उन्हें वेतन तुच्छ मिलता है—इस वृत्ति के लोगों को वेतन तो पहले कभी भी बहुत ज्यादा नहीं मिलता था—बल्कि मुझे तो यह भी डर है कि सामाजिक प्रतिष्ठा के मामले में भी उनकी इतनी ही उपेक्षा की जाती है। गाँव के पद-सोपान में अध्यापक का स्थान पटवारी और चौकीदार से भी नीचा होता है; कारण यह कि वह केवल बच्चों का कुछ भला ही कर सकता है, उनके माता-पिता को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता! और हमारी उस उल्टी दुनिया में पुरस्कार और सम्मान उन लोगों को नहीं मिलता जो किसी दिखावे के बिना समाज-सेवा करते हैं बल्कि

ये चीजें सिर्फ उन्हीं लोगों के लिए होती हैं जो हमारे दिलों में डर बिठा सकते हों या हमें दूसरे तरीकों से कोई हानि पहुँचा सकते हों। ("शान्तिकालीन कलाओं" के क्षेत्र में कोई श्रेयस्कर काम करनेवाले स्त्री-पुरुषों के लिए कुछ सम्मानित उपाधियों का आयोजन अभी हाल ही में किया गया है और यह स्वतन्त्रता के बाद की एक असाधारण घटना है।) पर प्रकृति का व्यंग्य भी बहुत क्रूर होता है और हम जो अन्याय करते हैं उनका प्रभाव उलटकर हमारे ऊपर ही पड़ता है। अध्यापकों को इतना घटिया समझकर हमें शिक्षा भी घटिया ही मिल सकती है। हमने इस बात का पक्का प्रबन्ध कर दिया है कि इस पेशे को केवल वही लोग अपनायें जिन्हें कहीं और काम न मिल सकता हो और जिनमें किसी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए न तो आवश्यक योग्यता ही हो और न ही उनका स्वभाव किसी दूसरे काम के लिए अनुकूल हो। उनमें से अच्छे-से-अच्छे लोग भी आर्थिक समस्या के बोझ के नीचे इतनी बुरी तरह दबे रहते हैं कि उनके पास अपनी प्राविधिक कार्य-क्षमता को सुधारने का न तो समय होता है, न उनमें इतनी शक्ति होती है और न ही उनका झुकाव ही इस ओर होता है। स्पष्टतः जिस प्रकार के स्कूलों और जिस प्रकार के अध्यापकों पर हम विचार कर रहे हैं उनके लिए गतिवान तथा जीवनप्रद शैक्षणिक केन्द्र बन सकना असम्भव है, ऐसे केन्द्र जिनकी ओर बच्चे तथा उनके माता-पिता आकर्षित हो सकें। कोई भी स्कूल प्रभावशाली तथा लोकप्रिय सामाजिक संस्था तभी बन सकता है जब वह अपने चारों ओर की स्पन्दनशील जीवन-धाराओं का अभिन्न अंग बन जाये, जब उसके बारे में बच्चे और उसके माता-पिता यह महसूस कर सकें कि वह उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि कर रहा है और उनकी सांस्कृतिक समझ-बूझ को गहरा बना रहा है। जब तक वह इनमें से कोई भी काम नहीं करता—इसलिए कि समाज और सरकार दोनों ही में इतनी दूर-दर्शिता नहीं थी, और कदाचित् उनके पास इतने साधन भी नहीं थे, कि सर्वतोमुखी विकास के लिए उचित परिस्थितियाँ उत्पन्न की जातीं—तब तक हमारे लिए इस बात पर क्रुद्ध होने का कोई कारण नहीं है कि जन-साधारण के लिए जिस सर्वथा अपर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध है उसकी वे कद्र नहीं करते।

मैं अपने आपसे यह प्रश्न करता हूँ कि इस देश में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था इतनी अल्प मात्रा में और इतनी अपर्याप्त क्यों है; उसकी विषय-वस्तु इतनी हीन और उसकी प्रणाली इतनी पिछड़ी हुई क्यों है; उसका संगठन इतना पुराने ढंग का क्यों है और उसका भार इतना अल्प वेतन पानेवाले और इतने अयोग्य अध्यापकों को क्यों सौंपा गया है? यहाँ सरकार सालभर में औसत से

हर बच्चे की पढ़ाई पर लगभग आठ रुपये क्यों खर्च करती है जबकि ब्रिटेन में पाँच सौ रुपये खर्च किये जाते हैं ? इन प्रश्नों का सतही जवाब हमेशा यह होता है कि हमारे पास पैसेकी कमी है। लेकिन समस्या की जड़ें इससे ज्यादा गहरी हैं और हमें अपने आपसे यह प्रश्न करना चाहिए कि आखिर इसका क्या कारण है कि शिक्षा के लिए कभी पैसा नहीं निकाला जा सकता जबकि इससे कहीं कम वांछनीय उद्देश्यों के लिए हमेशा पैसा मिल जाता है। मैं समझता हूँ कि न केवल हमारी शिक्षण-व्यवस्था का ढाँचा बल्कि हमारी समाज-व्यवस्था का ढाँचा भी कुछ ऐसी सचेतन तथा अचेतन मान्यताओं पर आधारित है जो न तो न्यायसंगत है और न सत्य ही। पहली बात तो यह कि हम बड़ी आसानी से यह मान बैठते हैं कि जन-साधारण की शिक्षा के लिए कोई भी चीज ठीक है। शिक्षा की पूरी व्यवस्था के प्रति रुपये-पैसे और सार्वजनिक ध्यान के मामले में तो सौतेली बेटी जैसा व्यवहार किया ही गया है पर प्राथमिक शिक्षा तो शिक्षा के परिवार की बिलकुल ही तिरस्कृत संतान रही है। यदि हम इस समय इस बातको छोड़ भी दें कि प्राथमिक शिक्षा न तो सब बच्चों के लिए लागू की गयी है, न निःशुल्क है और न ही अनिवार्य है, फिर भी यह क्रूर सत्य हमारे सामने है कि जो थोड़ी-बहुत शिक्षा दी भी जाती है वह बहुत ही अल्प, अपर्याप्त, विषय-वस्तु की दृष्टि से हीन, प्रणालियों की दृष्टि से पिछड़ी-हुई और संगठन की दृष्टि से पुराने ढंग की है और उसका दायित्व ऐसे अध्यापकों को सौंपा गया है जिनमें अनिवार्य रूप से समुचित योग्यता नहीं होती, जो अप्रशिक्षित होते हैं और जिन्हें लज्जाजनक हद तक अल्प वेतन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसा लगता है कि हम यह मानकर चलते हैं कि बुद्धि और क्षमता के गुण समाज के सभी सदस्यों में न्यूनाधिक रूप में बराबर मात्रा में नहीं पाये जाते बल्कि किसी कारणवश उन पर आर्थिक विशेषाधिकार रखनेवाले कुछ वर्गों का एकाधिकार है और इसलिए स्वस्थ सामाजिक जीवन तथा समाज की प्रगति के लिए केवल इन वर्गों के लोगों के बच्चों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण का प्रबन्ध कर देना काफी है। ऐसा लगता है कि जनसाधारण पर यह मुहर लगा दी गयी है कि वे निम्न कोटिके हैं और उनसे किसी बड़ी चीज की आशा करना या अपनी सामाजिक नीति को इस आशा पर आधारित करना मूर्खता है। यह सच है कि कई देशों में बहुत समय बीत जाने के बाद न्याय की भावना जाग्रत होने पर या उद्योगों के टाले न जा सकनेवाले तकाजों की वजह से या सामाजिक वर्ग-सोपान के निर्विघ्न वातावरण में लोकतांत्रिकता के अरुचिकर अतिक्रमण की वजह से जन-साधारण के लिए भी किसी-न-किसी प्रकार की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करने की कोशिश की गयी है।

परन्तु अभी कुछ ही समय पहले तक इसे एक प्रकार की खैरात समझा जाता था जिसके लिए अपेक्षतः निर्धन वर्गों के लोगों से कृतज्ञता प्रकट करने की आशा की जाती थी। थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना और थोड़ा-बहुत हिसाब लगाना सीख लेने पर आधारित और जीवन की समस्याओंसे सर्वथा असम्बन्धित पाठ्यचर्या, जिसकी कल्पना बहुत ही संकुचित दृष्टिकोण से की गयी थी, उनके लिए काफी समझी जाती थी और सभी व्यापकतर सांस्कृतिक सुविधाओं को केवल उपयोगी सजावट माना जाता था जिसके बिना बड़ी आसानी से काम चल सकता था—जैसे कला-कौशल, संगीत तथा कविता, चित्र तथा खेल-कूद, व्यावहारिक क्रिया-कलाप तथा सामाजिक प्रशिक्षण उनके लिए बिलकुल अनावश्यक समझा जाता था। इस तत्त्वहीन तथा पौष्टिकता-रहित बौद्धिक आहार पर पलनेवाले बच्चोंमें कोई भी प्रगतिशील सामाजिक विचार कैसे पैदा हो सकते थे या वे सृजनात्मक आत्माभिव्यक्ति का अवसर कैसे प्राप्त कर सकते थे या सांस्कृतिक दृष्टि से अपने आपको समृद्ध कैसे बना सकते थे? परिस्थिति का व्यंग्य यह है कि ऐसी शिक्षा की व्यवस्था जिससे केवल ऐसे ही निराशाजनक परिणाम प्राप्त किये जा सकते थे, बहुत-से लोगों ने इन परिणामों का हवाला देकर बड़े विजय-गर्व के साथ यह दावा किया है कि इनसे 'आम आदमी' की निहित क्षमताओं के बारे में उनका अविश्वास सही साबित हो गया है! भारत में परिस्थिति इससे भी बदतर रही है क्योंकि केन्द्रिय परामर्श मण्डल की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पहले तक सरकार ने सिद्धान्ततः भी इस बात को स्वीकार नहीं किया था कि शिक्षा प्राप्त करना इस देश में रहनेवाले हर लड़के और लड़की का, हर स्त्री और पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है और यह कि भारत को राष्ट्रीय शिक्षा की सार्वत्रिक व्यवस्था की दिशा में सोचना आरम्भ कर देना चाहिये।

दुर्भाग्यवश इसी बात को आधार मानकर न केवल हमारी शिक्षण-व्यवस्था का बल्कि हमारी पूरी समाज-व्यवस्था का निर्माण किया गया है। आज जनता के लिए 'अच्छे जीवन' को—जिसका मतलब यह है कि केवल गिने-चुने लोगों के लिए नहीं बल्कि सभी लोगों के लिए सांस्कृतिक तथा भौतिक साधनों का विपुल मात्रा में प्रबन्ध हो—यदि बिलकुल अनावश्यक नहीं तो असम्भव अवश्य समझा गया है। यही संवेदनाहीन तथा अन्यायपूर्ण सामाजिक विचारधारा, जो हमारे अधिकांश देशवासियों को शारीरिक तथा भौतिक सुख-सम्पदाओं से वंचित देखकर भी निश्चिन्त रही और जो उन्हें गन्दी नरक जैसी बस्तियों में रहते देखकर भी सन्तुष्ट रही—उन्हें न भरपेट भोजन मिलता था, न ठीक से पहनने को कपड़े, और उनका स्वास्थ्य हमेशा खराब रहता था—इसी सामाजिक विचारधारा के

कारण हमारे देशवासियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था भी बहुत ही निम्न कोटि की और अपर्याप्त रही है। इसलिए इससे अच्छी शिक्षा का—जिसमें बेहतर प्राथमिक शिक्षा भी शामिल है—प्रबन्ध करने का प्रश्न एक ऐसी बेहतर समाज-व्यवस्था की स्थापना करने के अधिक व्यापक तथा अधिक बुनियादी प्रश्न के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है जिसमें विज्ञान तथा उद्योग और मनुष्य की विशाल प्राविधिक प्रगति के बरदानों पर मुट्ठीभर लोगों का एकाधिकार न रहे बल्कि वे सभी को उपलब्ध हों। परन्तु सबको **बराबर अवसर** प्रदान किये बिना सामाजिक न्याय की स्थापना करना असम्भव है। जब हममें इतनी समझ और इतना विवेक पैदा हो जायगा कि हम इस लक्ष्य को पूरा कर लें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि शिक्षा से कितनी विपुल सृजनात्मक प्रतिभा तथा क्षमता उन्मुक्त होती है। इस समय हमारे अन्दर अपनी शिक्षा-व्यवस्था को व्यापक बनाने की इच्छा और सद्बुद्धि न होने के कारण हमारे चारों ओर मानव-प्रतिभा का जो अपव्यय हो रहा है उसे जितना भी अधिक आँका जाये, कम है। प्रकृति में हमें इस धारणा की पुष्टि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बुद्धि या व्यक्तित्व के गुण किसी एक वर्ग या समूह या जातिविशेष तक ही सीमित हैं। संसार के अन्य देशों में जहाँ कहीं भी सबको शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से आन्दोलन चलाये गये हैं और जन-साधारण के लिए अधिक समृद्ध शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है, वहाँ अन्तर्निहित सृजनात्मक उत्साह जितने बड़े पैमाने पर उन्मुक्त हुआ है उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। उदाहरण के लिए, सोवियत रूस में पिछली दो दशाब्दियों में प्राविधिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा की सुविधाओं में अपार वृद्धि हुई है और सबसे अवनत जातियों तथा प्रदेशों को भी ये नये सुअवसर प्राप्त हुए हैं। इसके फलस्वरूप कला तथा शिल्प, साहित्य, नृत्य तथा नाट्यकला, विज्ञान और प्राविधिक कौशल, सभी क्षेत्रों में सृजनात्मक मानव-प्रतिभा का इतना विकास हुआ है कि बड़े-से-बड़े आशावादी भी दंग रह गये हैं। ब्रिटेन में भी शिक्षा के क्षेत्र में इतनी आश्चर्यजनक तो नहीं पर बहुत ही उल्लेखनीय प्रगति हुई है। १९४४ का शिक्षा अधिनियम स्वीकार किए जाने से पहले ही प्रगतिशील स्थानीय अधिकारियों ने यह महसूस कर लिया था कि उन्हें जन-साधारण की शिक्षा पर काफी पैसा खर्च करने का प्रबन्ध करना चाहिये। युद्ध के बाद एक बार इंगलैण्ड जाकर मैंने अन्य चीजों के अतिरिक्त मार्गेट नामक नगरपालिका द्वारा अपने बच्चों के लिए बनवायी गयी बहुत ही अच्छी स्कूलों की इमारतें देखीं; ध्यान रहे कि मार्गेट की नगरपालिका की गणना अपेक्षतः निर्धन नगर-

पालिकाओं में होती है। एक सीनियर स्कूल की इमारत पर—जो हमारे यहाँ के मिडिल स्कूल के बराबर होता है—वहाँ के स्थानीय अधिकारियों ने लगभग ५० हजार पौण्ड (लगभग छः लाख रुपये) खर्च किये थे। जिन चीजों की भी कल्पना की जा सकती थी उनमें से किसी को भी जरूरत से ज्यादा अच्छा या जरूरत से ज्यादा मँहगा नहीं समझा गया—बड़े-बड़े हवादार कमरे जिनमें दो तरफ ऊपर से नीचे तक काँच लगा हुआ था, सुहावने रंग, खूबसूरत फर्नीचर, वर्कशाप और कला-कक्ष, पुस्तकालय तथा वाचनालय, खाने के कमरे, व्यायामशाला, तैरने के लिए तालाब, स्नानागार, और अन्य कई ऐसी सुविधाएँ जिनकी किसी समय में धनवान् वर्गों के बच्चों के लिए बनवाये गये पब्लिक स्कूलों में ही कल्पना की जा सकती थी। इस प्रकार का प्रयास केवल शिक्षाप्रद होने की दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होता है। गन्दी बस्तियों में रहनेवाले बच्चों को यदि सांस्कृतिक तथा कलात्मक प्रेरणाप्रद तत्त्वों से परिपूर्ण वातावरण में शिक्षा दी जाये तो उनके दृष्टिकोण, उनकी पसन्द और उनकी रुचियों को बदला जा सकता है। इस बात का कोई कारण नहीं है कि हम अपने देशवासियों के लिए अपर्याप्त शिक्षा से सन्तुष्ट होकर बैठ रहें और इस प्रकार की सुविधाओं को उनके लिए अनावश्यक समझें। मैं किफायतशारी के यथार्थपूर्ण रवैये को तो समझ सकता हूँ, अर्थात् यह रवैया कि हमारे पास अमुक काम के लिए पैसा है ही नहीं, पर मैं इस विचार-पद्धति को बर्दाश्त नहीं कर सकता जिसके अन्तर्गत मितव्ययिता को बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र के लिए विशेष रूप से उपयुक्त समझा जाता है।

अब मैं ठोस रूप में यह बताना चाहूँगा कि प्राथमिक शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था के लिए कौन-कौन-सी चीजें नितान्त आवश्यक हैं; यदि कुछ लोगों को वे बहुत बड़ी या हमारे बस के बाहर मालूम हों तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, दोष है उनकी दृष्टि का जिसमें हर चीज जरूरत से ज्यादा बड़ी लगती है! पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि सभी बच्चों के लिए कम-से-कम ७ या ८ वर्ष तक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होनी चाहिए और यह शिक्षा सुनियोजित तथा सुसम्पन्न स्कूलों में ऐसे अध्यापकों द्वारा दी जानी चाहिए जो पर्याप्त रूप में सुशिक्षित तथा प्रशिक्षित हों और समाज जिन्हें सम्मान की दृष्टि से देखता हो तथा जो रुपये-पैसे की आये दिन की चिन्ता से मुक्त हों। इन स्कूलों की पाठ्यचर्या थोड़ा-बहुत लिखने-पढ़ने और हिसाब लगा लेने पर आधारित संकुचित तथा औपचारिक और समाज के जीवन की ठोस तथा सप्राण वास्तविकताओं से सर्वथा असम्बन्धित न होकर समृद्ध तथा वैविध्यपूर्ण

होनी चाहिए। यदि इन वास्तविकताओं के साथ शिक्षा का सप्राण सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जायेगा तो वह हमेशा आज की तरह ही निरर्थक तथा सतही रहेगी। जैसा कि मैंने दूसरी जगह भी कहा है जीवन तो व्यवहारमूलक, उपयोगितानिष्ठ तथा सृजनात्मक होता है पर स्कूल किताबी ज्ञान की जगह होती है। जब बच्चा स्कूल में प्रवेश करता है तो उसके जीवन में सहसा एक उथल-पुथल मचा देनेवाली विच्छिन्नता पैदा हो जाती है क्योंकि घर के वातावरण और स्कूल के वातावरण को जोड़नेवाली कोई कड़ी नहीं होती है। किताबी ज्ञान प्राप्त करने पर ही सारा ध्यान देने के कारण स्कूल अपने विद्यार्थियों को सक्रिय, सामाजिक तथा उत्पादनशील जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रशिक्षित नहीं कर पाता। गाँव के जिस लड़के को कृषि से और इसी प्रकार के अन्य शारीरिक श्रमवाले कामों से अपनी जीविका कमानी हो और जिसके जीवन की सारी दिलचस्पियाँ इसी तरह के कामों में हों वह पिटे-पिटाये ढंग से थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना और हिसाब लगाना सीखकर बेहतर किसान या बेहतर नागरिक नहीं बन सकता। प्राथमिक शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य यह नहीं है कि वह बच्चों को उनके ग्रामीण वातावरण से या ग्रामीण समाज के स्वाभाविक कार्यों से अलग हटा ले बल्कि उसका उद्देश्य उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे ज्यादा विवेक, समझ-बूझ और गहरी दिलचस्पी के साथ गाँव के जीवन में अपना स्थान ग्रहण कर सकें। आम तौर पर हमारे प्राथमिक स्कूल इस उद्देश्य को न केवल इसलिए नहीं पूरा कर पाते कि उनकी पाठ्यचर्या संकुचित तथा एकतरफा और उनकी अध्यापन-प्रणालियाँ निष्क्रिय तथा क्षमताओं को उन्मुक्त करने में असमर्थ होती हैं, बल्कि इसका कारण यह भी है कि उनमें काफी जगह और काफी समान नहीं होता और वे ऐसी प्रतिकूल भौतिक परिस्थितियों में काम करते हैं कि किसी भी प्रकार की स्वस्थ परम्पराओं तथा रुचियों का निर्माण करना या उनमें सचमुच शिक्षाप्रद वातावरण पैदा करना असम्भव हो जाता है। बच्चों की बहुत-सी सामाजिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियाँ इसलिए मुरझा जाती हैं कि उन्हें आत्माभिव्यक्ति का कोई अवसर नहीं मिलता और देश को प्रतिभा तथा सृजनात्मक क्षमता की अपार क्षति सहन करनी पड़ती है।[१]

इसलिए शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने में हमें प्राथमिक स्कूलों की योजना, जिनमें ग्रामीण स्कूल भी शामिल हैं, बड़े उदार भावसे तथा बड़ी कल्पना-शक्ति का परिचय देते हुए बनानी चाहिए और राष्ट्र के बच्चों के लिए ऐसा शिक्षाप्रद वातावरण उपलब्ध करने के लिए, जो सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक

१. **द एजुकेशनल सिस्टम** (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी पैम्फलेट)।

प्रेरणाओं से परिपूर्ण हो, जो उनकी बहुमुखी तथा निहित प्रतिभाओं के विकासके लिए अनुकूल हो और उनके जीवन की उस अवस्था में उन्हें यथासम्भव श्रेष्ठतम सामाजिक प्रशिक्षण प्रदान कर सके, इस काम पर हमें चाहे जितना भी पैसा खर्च करना पड़े उससे हमें हाथ नहीं खींचना चाहिए। परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि स्कूल बच्चे को ग्रामीण समाज के जीवन की उन चीजों से अलग न कर दे जिनमें गाँववालों को स्वाभाविक रुचि होती है तथा जिनमें वे अपना सारा समय व्यतीत करते हैं। यह भी एक कारण है जिसकी वजह से बुनियादी शिक्षा का, जो इस सिद्धान्त को आधार मानकर चलती है, सही दिशा में एक बहुत बड़े कदम के रूप में स्वागत किया जाना चाहिये। मुझे विश्वास है कि जहाँ तक सार्वजनिक शिक्षावाली अवस्था का सवाल है वह सामान्यतया बुनियादी शिक्षा के ही ढर्रे पर चलेगी। व्यावहारिक वास्तविकताओं की इस दुनिया में, जिसमें काम ही जीवन का आधार है, शुद्धतः पुस्तकों पर आधारित शिक्षा को उचित नहीं ठहराया जा सकता और हाथ को प्रशिक्षित करने के काम का घनिष्ठ सम्बन्ध बुद्धि को प्रशिक्षित करने के काम के साथ रहना चाहिए। शिक्षाशास्त्रियों को उत्पादनशील कार्य के माध्यम से शिक्षा देने के इस बुनियादी महत्त्व को कभी नहीं भूलना चाहिए; ऐसी शिक्षा का अर्थ वास्तव में जीनन के हेतु शिक्षा और जीवन के माध्यम से शिक्षा है। उनके दिमाग में यह बात बिठा दी जानी चाहिये कि सैद्धान्तिक ज्ञान और पुस्तक, जिसमें इस ज्ञान का भण्डार होता है, निस्संदेह बेहद मूल्यवान होती हैं, परन्तु विवेकपूर्वक निर्देशित तथा उद्देश्यपूर्ण क्रिया-कलाप जीवन-क्रीड़ा का इससे कहीं ज्यादा अभिन्न अंग है। सम्भव है कि कभी-कभी आधुनिक नगरों के व्यस्त जीवन में हमारा ध्यान इस ओर न जाये पर गाँवों में हम आसानी से इससे नहीं बच सकते, क्योंकि वहाँ जीवन की मूलभूत वास्तविकताएँ हमारी आँखों में आँखें डालकर हमें घूरती हैं। मुझे एक अवसर याद आता है जब कुछ वर्ष पहले काश्मीर में मुझे इस चीज का आभास बहुत गहरे रूप में हुआ। काश्मीर जानेवाले बहुत-से लोगों ने वूलर झील देखी होगी, वतलाब की पहाड़ी की उस चोटी पर खड़े होकर जहाँ से देखने पर आकाश और बादलों और पहाड़ियों और झील के व्यापक विस्तार के अलग-अलग रंग एक में मिलकर बड़ा सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करते हैं। इस जगह से ठीक नीचे मछहरों का एक छोटा-सा गाँव है, शायद सौ मछहरे रहते होंगे इस गाँव में। वे बहुत ही टूटी-फूटी झोपड़ियाँ में रहते हैं और स्पष्टतः बाकी दुनिया के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका व्यवसाय केवल यह है कि वे झील में अपनी छोटी-छोटी डोंगिया चलाते हैं और

मछलियाँ पकड़कर अपना पेट पालते हैं। बाहर की दुनिया के साथ उनका बहुत थोड़ा सम्पर्क है। जब भी सैर करनेवालों का कोई दल गाँव के पास से होकर गुजरता है तो यह उस गाँव के जीवन में हलचल मचा देनेवाली घटना होती है; और अगर किसी दिन झील में तूफान आ जाने की वजह से मछलियाँ पकड़ना मुश्किल हो जाता है तो उसके लिए यह बहुत बड़ी आर्थिक दुर्घटना होती है। उनके इस संकुचित कार्य-क्षेत्र को और अपनी तुच्छ जीविका कमाने के लिए उनके इस प्राणपण संघर्ष को देखकर मैंने अपने आपसे पूछा; किताबों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान का इनके जीवन से किस हद तक सम्बन्ध है? गणित की समीकरण की समस्याओं या भारतीय इतिहास में विभिन्न राजवंशों के झगड़ों या अंग्रेजी व्याकरण का ज्ञान इनकी रुचियों तथा इनकी गतिविधियों के लिए कहाँ तक उपयोगी हो सकता है? स्कूल में कई विषय पढ़कर और इस प्रकार थोड़ा-बहुत फुटकर ज्ञान प्राप्त करके क्या उनके लिए जीवन अधिक सुखकर हो जायेगा और वे बेहतर नागरिक बन जायेंगे? या उनके लिए यह ज्यादा उपयोगी होगा कि उन्हें ठोस, व्यावहारिक तथा उपयोगी कार्यों के माध्यम से शिक्षा दी जाये और इस प्रकार के उपयोगी कार्य के दौरान में वे अपने चारों ओर की सामाजिक तथा भौतिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करें? मेरा अभिप्राय उस ज्ञान के महत्त्व को कम करना नहीं है जो मनुष्यको पशुओं की तुलना में श्रेष्ठतर बनाता है; सवाल एक ऐसा सही दृष्टिकोण अपनाने का है जो ज्ञान को जीवन की अर्थ-व्यवस्था में उसका उचित स्थान प्रदान कर सके। कोई भी शिक्षण-पद्धति अपने आधारभूत सिद्धान्तों तथा अपनी कार्य-प्रणाली को निर्धारित करते समय इन बुनियादी बातों की उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकती।

हमारे प्राथमिक स्कूलों को बच्चों के लिए 'सामाजिक प्रशिक्षण' का प्रबन्ध करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। मैं इस बात की ओर संकेत करना चाहता हूँ कि हम उनमें किस प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान कर सकते हैं। यह बात तो स्पष्ट है कि यदि हम प्राथमिक स्कूल की कल्पना उसी अभावग्रस्त तथा संकुचित रूप में करते हैं जिसकी मैं निन्दा कर चुका हूँ तो इसका सवाल ही पैदा नहीं होगा। अध्यापकों को किसी भी प्रकार के 'सामाजिक प्रशिक्षण' की चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी क्योंकि उनका काम तो केवल किताबें पढ़ाना होगा। लेकिन उस दशा में भी कुछ-न-कुछ सामाजिक प्रशिक्षण तो अपने आप मिल ही जायेगा, क्योंकि बहुत-से बच्चों के अध्यापकों की निगरानी में एक साथ रहने और एक साथ पढ़ने में सामाजिक प्रशिक्षण का विचार निहित है ही। परन्तु इस प्रकार का सामाजिक प्रशिक्षण अव्यवस्थित तथा अनियोजित होता है और

वह सुनिश्चित लक्ष्यों की दिशा में निर्देशित नहीं होता। यदि प्राथमिक स्कूल को जनता की शिक्षा के क्षेत्र में अपना उचित स्थान प्राप्त करना है—और हमें यह याद रखना चाहिए कि अभी काफी समय तक हमारे अधिकांश बच्चों को केवल प्राथमिक अथवा बुनियादी शिक्षा ही मिलेगी—तो उसे समझ-बूझकर तथा उपयोगी ढंग से अपने बच्चों में कुछ सामाजिक तथा नैतिक गुण पैदा करने की ओर ध्यान देना पड़ेगा। मनोवैज्ञानिकों ने यह बात निश्चित रूप से साबित कर दी है कि बच्चे के जीवन के प्रथम कुछ वर्ष उसके पूरे जीवन का बुनियादी ढर्रा तै कर देते हैं, यहाँ तक कि बाद में चलकर शिक्षा का काम बहुधा केवल यह रह जाता है कि जो लीक पहले डाली जा चुकी है उसे वह और गहरा, सुनिश्चित तथा स्पष्ट बना दे। यह एक ऐसी खोज है जिससे नर्सरियों और शिशु पाठशालाओं की आवश्यकता एक बिलकुल ही नये रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। इस बात से यह और भी आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक प्रशिक्षण को प्राथमिक स्कूल के काम का एक अभिन्न अंग बनाया जाय।

जिस प्रकार की समाज-व्यवस्था की हम स्थापना करना चाहते हैं उसके प्रसंग में हमें अब इस बात की व्याख्या करनी होगी कि यह सामाजिक प्रशिक्षण किस ढंग का हो। मैंने इस पुस्तक में दूसरी जगह कुछ विस्तार के साथ इस समाज-व्यवस्था की विशेषताओं पर विचार किया है और अब मैं उसे यहाँ दोहराना जरूरी नहीं समझता। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि यदि हम इस समाज-व्यवस्था को उपयोगी बनाना चाहते हैं तो उसमें कम-से-कम तीन गुण होने चाहिए: उसमें सहकार्य की भावना होनी चाहिए; उसे मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के विभिन्न कुत्सित रूपों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए; और उसे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न तथा परस्पर विरोधी वर्गों में समाज के विभाजन की सीमाओं को तोड़कर उनके पार निकल जाना चाहिए। यदि हम इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें तो स्वाभाविक तथा अनिवार्य रूप से इसमें से कुछ शिक्षा-सम्बन्धी निष्कर्ष निकलेंगे। चूँकि हम सहकारी दृष्टिकोण पैदा करना चाहते हैं इसलिए हमें अपने काम के सभी पहलुओं को—पाठ्यचर्या, प्रणालियाँ, संगठन, अनुशासन, अध्यापकों का निजी प्रभाव—इस ढंग से संगठित करना चाहिए कि बच्चों में सहकारी तथा सामाजिक मनोवृत्तियाँ उतनी ही आसानी से पैदा हो सकें जितनी आसानी से आजकल उनमें प्रतिस्पर्द्धा और स्वार्थ की भावनाएँ पैदा होती हैं। आप शायद यह पूछेंगे कि सामाजिक प्रशिक्षण के इस मामले में पाठ्यचर्याओं, प्रणालियों, संगठन आदि सभी को क्यों घसीटा जाये? मैं इस

बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। भावनाओं तथा विचारों से सम्बन्ध रखनेवाली मनोवृत्तियों को नयी दिशा प्रदान करने का कोई कारगर तरीका उस समय तक ढूँढ़ निकालना असम्भव है जब तक बच्चे के जीवन पर पड़नेवाले सभी प्रभावों को इस तरह संगठित न किया जाये और उनमें ऐसा सामंजस्य न पैदा किया जाये कि उनका पूरा जोर किसी एक वांछित दिशा में केन्द्रित हो जाये। पाठ्यचर्या को सामाजिक पुट दे देने से विद्यार्थियों में समाज-रचना की मुख्य-मुख्य शक्तियों तथा उपकरणों का बहुत गहरा ज्ञान पैदा होगा और उचित अध्ययन-प्रणालियाँ अपनाने पर आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि छोटे-छोटे बच्चे भी अपने आस-पास की महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाओं को कितना ज्यादा समझ सकते हैं और परख सकते हैं। परन्तु स्वाभाविक रूप से इसके लिए यह जरूरी है कि हमारे इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा भाषाओं के पाठ्य-क्रमों में अभी तक जो बहुत-सा शिक्षा-सम्बन्धी कूड़ा-करकट भरा है उसे निकाल फेंका जाये और उनमें ऐसी समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु सम्मिलित की जाये जो उनमें समाज के काम करने के ढंग के बारे में गहरी समझ पैदा कर सके। इसी प्रकार ज्ञानोपार्जन की ऐसी सामाजिक प्रणालियाँ जो बच्चों को टोलियों में काम करने का, योजनाओं और समस्याओं को निबटाने का और मिलकर सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यों की योजनाएँ तैयार करने का अवसर प्रदान करती हैं, उन्हें किसी निजी कारनामे की अपेक्षा सहकारी सफलता को और प्रतिस्पर्द्धा में प्राप्त की गयी सफलता की अपेक्षा समाज-सेवा को अधिक महत्त्व देना भी सिखाती हैं। यह अटकल की नहीं बल्कि वास्तविक अनुभव और प्रयोग की बात है कि जिन बच्चों का पालन-पोषण सुनियोजित सामाजिक वातावरण में होता है उनमें सामाजिक आचरण के गुण उतने ही स्वाभाविक रूप से पैदा हो जाते हैं जितनी आसानी से उनमें इससे बिलकुल उल्टी स्वार्थी व्यक्तिवाद की मनोवृत्ति पैदा होती है। शायद आपको ऐसा लगे कि मैं बात को जरूरत से ज्यादा सरल बनाकर पेश कर रहा हूँ, पर इस सम्बन्ध में मैं दृढ़ विश्वास के साथ कुछ नहीं कह सकता। यह कहना मानव-प्रकृति पर अनुचित दोषारोपण है कि उसमें जन्मतः स्वार्थ, प्रतिस्पर्द्धा तथा शोषण की भावनाएँ होती हैं और वह आसानी से आचरण के किसी ऐसे लक्ष्य के प्रति रुचि नहीं दिखाता जो मारने-खाने और धन अथवा सत्ता की लोलुपता से अधिक सम्मानजनक हो। यह दृष्टिकोण मानव-आचरण तथा विचारधारा के निरूपण में सुनियोजित सामाजिक आर्थिक परिवेश की भूमिका को अनुचित ढंग से कम करके आँकने पर आधारित है। मेरा कहना यह है कि उचित स्कूली

पढ़ाई के छः या आठ वर्षों में बच्चे के दिमाग में तथा उसकी आचरण-पद्धति में सहकारी तथा सामाजिक मनोवृत्तियाँ तथा प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करना सम्भव होगा।

इसके अतिरिक्त यदि हमारा उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें उन्मुक्त आदान-प्रदान की सुगमता हो और आर्थिक तथा सामाजिक पद पर आधारित पूर्वाग्रहों के लिए कोई स्थान न हो, तो स्कूलों की एक ऐसी समरूप व्यवस्था आवश्यक है जिसमें सभी वर्गों के बच्चों को अपनी प्रवृत्तियों तथा रुचियों के विकास के लिए बराबर के अवसर प्रदान किये जायँ। शिक्षा की दृष्टि से इस बात को किसी भी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता कि एक ओर तो नरक जैसी गन्दी बस्तियों के स्कूल और दरिद्रताग्रस्त ग्रामीण स्कूल हों और दूसरी तरफ बहुत ठाठदार प्राइवेट स्कूल हों जो बहुत ऊँची फीस लेते हों और जिनके द्वार ऐसे हर प्रतिभाशाली बच्चे के लिए बन्द हों जो साथ ही धनवान् परिवार का न हो। यह बात सामाजिक दृष्टिकोण से बहुत हानिकारक है क्योंकि वह समाज के विभिन्न स्तरों के वर्तमान अन्तर को और भी बढ़ा देती है तथा उसकी जड़ें हमेशा के लिए मजबूत कर देती है। मेरे मन में अकसर यह विचार उठा है कि शुद्धतः एक सामयिक नीति के रूप में सारे पब्लिक स्कूल, कनवेंट, महाराजाओं के कालेज और मँहगे प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूल कम-से-कम कुछ समय के लिए बन्द कर दिये जायें और धनवान् माता-पिता के बच्चों को उन मामूली प्राथमिक (अथवा माध्यमिक) स्कूलों में पढ़ने पर मजबूर किया जाये जिन्हें बाकी बच्चों के लिए काफी अच्छा समझा जाता है। मैं समझता हूँ कि ऐसी दशा में साधारण प्राथमिक स्कूलों में व्याप्त भौतिक तथा मानवीय परिस्थितियों के खिलाफ ऐसा जबरदस्त विरोध और प्रतिक्रिया होगी कि हम उन्हें सुधारने की सम्भावना के काफी निकट पहुँच जायेंगे। लोकतन्त्र को सचमुच सार्थक बनाने के लिए राज्य-व्यवस्था और समाज दोनों ही को यथासम्भव गरीब मजदूर तथा किसान के बेटों को और पूँजीपति तथा राजों-महाराजों के बेटों को **विकास के समान अवसर** प्रदान करने चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि सभी बच्चों को **बिलकुल एक जैसे** स्कूलों में पढ़ाया जायगा। इसका मतलब केवल यह है कि बच्चों को उनकी सामाजिक अथवा आर्थिक स्थिति के अनुसार नहीं बल्कि उनकी मानसिक प्रवृत्तियों के अनुसार अलग-अलग प्रकार के स्कूलों में भरती किया जायगा और इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्हें एक स्कूल से दूसरे स्कूल में भेजा जायगा। उन्हें प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापी राष्ट्रीय व्यवस्था की परिधि में ले आने के बाद वह सामाजिक मनोवृत्ति पैदा करने

के लिए जिसकी हम कद्र करते हैं, हमें दो काम जरूर करने चाहिए। पहला काम तो यह कि हमारे स्कूलों में विभिन्न प्रकार के व्यावहारिक सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्यों को सम्मानित स्थान प्रदान किया जाये और सभी बच्चे, वे किसी भी वर्ण के हों, उनमें भाग लें ताकि वे शारीरिक श्रम की इज्जत करना सीख सकें, उस शारीरिक श्रम की जिसके द्वारा मनुष्य की सारी बुनियादी जरूरतें पूरी होती हैं और जिसे शिक्षित वर्गों के लोग बड़े निश्चिन्त भाव से अपनी मर्यादा के नीचे समझते आये हैं। यहाँ पर यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के कार्य तथा व्यवसाय शिक्षा और मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित हैं। इस बात से सभी लोग इतनी भली-भाँति परिचित हैं कि उसकी व्याख्या करने की कोई जरूरत नहीं है। परन्तु सामाजिक दृष्टि से उसका औचित्य कम-से-कम इतना ही महत्त्वपूर्ण है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में किसी भी बच्चे के लिए किसी काम में—और सिर्फ कला तथा शिल्प के कामों में नहीं बल्कि वास्तविक शारीरिक श्रम में–अपने हाथ गन्दे किये बिना अपनी शिक्षा पूरी करना असम्भव बना दिया जाये, क्योंकि स्कूलों की किताबी पढ़ाई की अपेक्षा इस प्रकार के काम से अन्य चीजों के अतिरिक्त सहकारी प्रयास का और मानव बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। हमे अपने स्कूलों के जरिये शहरों और गाँवों की वर्तमान दूरी को भी खत्म करने की कोशिश करनी चाहिए और दोनों ही जगहों के स्कूलों में बच्चों को दूसरी जगह के विशिष्ट अनुभव प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए। शिक्षा की किसी भी व्यवस्था को उस समय तक पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक वह शहर के बच्चों को ग्रामीण जीवन की प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओं के सम्पर्क में न ला सके, उन्हें गाँव के पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं, वहाँ के नर-नारियों, उनके व्यवसायों और समस्याओं से और प्रकृति के साथ उनके उस सम्बन्ध से परिचित न करा सके जो उनके काम को निर्धारित तथा पोषित करता है। इसी प्रकार गाँव के बच्चों को भी आस-पास के कस्बों तथा शहरों में जाने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए ताकि वे स्वयं देख सकें कि वहाँ लोग कैसे रहते और काम करते हैं और यह कि किस प्रकार गाँव और शहर के बीच एक अदृश्य परन्तु स्थायी सम्बन्ध होता है जिसके सहारे दोनों जगह का जीवन चलता है। इस प्रसंग में मैं आपका ध्यान उन महत्त्वपूर्ण प्रयोगों की ओर आकर्षित कराना चाहूँगा जो इंगलैण्ड के कुछ हिस्सों में शहरों और गाँवों के बच्चों के बीच सच्चा सम्पर्क स्थापित करनेके उद्देश्य से किये गये हैं। पिछले महायुद्ध के दौरान में वहाँ के अध्यापकों के सामने शहरों के खतरेवाले इलाकों से देहातों में ले जाने की समस्या आयी और

इस समस्या को हल करने के लिए उन्हें बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। लेकिन इस काम के दौरान में उन्हें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि एक क्रूर आपत्तिका सामना करने के लिए जो उपाय किये गये थे वे इन बच्चों के लिए शारीरिक स्वास्थ्य तथा स्फूर्ति, मानसिक सजगता और सामाजिक भ्रातृत्व की एक नयी भावना का स्रोत बन गये थे! अब इंगलैण्ड में बहुत-से उत्साही अध्यापक नियमित रूप से शहरों के स्कूलों के बच्चों को गाँवों में और गाँवों के स्कूलों के बच्चों को शहरों में थोड़े समय के लिए ले जाते हैं और इसमें उनका उद्देश्य पहले की तरह केवल सैर कराना नहीं होता है बल्कि वे उन्हें "सामाजिक सर्वेक्षण" करने के लिए और गहरे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ले जाते हैं। हमारे अपने देश में, जो कृषिप्रधान देश है और बहुत समय तक कृषिप्रधान रहेगा, शहर तथा गाँव के बीच इस प्रकार के सम्पर्क समाज और शिक्षा दोनों ही की दृष्टि से एक बहुत बड़ा बरदान सिद्ध हो सकते हैं और उन्हें सामाजिक प्रशिक्षण की योजना का अभिन्न अंग होना चाहिए। बहुत बड़े पैमाने पर श्रम-सेवा तथा समाज-सेवा शिविरों की स्थापना, कुछ विश्वविद्यालयों में ग्राम-सेवा योजना का आरम्भ किया जाना चाहिए और इसी प्रकार की अन्य बातें इस आवश्यकताको पूरा करने की दिशा में कुछ कदम हैं। इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि यदि कोई भी शिक्षा-व्यवस्था अथवा सामाजिक संगठन देहातों के सबसे अच्छे तथा सबसे प्रतिभाशाली लोगों को कृषि के काम में भरपूर तथा सन्तुष्ट जीवन बिताने के बजाय किसी दफ्तर में कलम घिसने या किसी कारखाने में पेंच घुमाने के काम में लगाकर देहातों को उनकी सेवाओं से वंचित करे तो यह समाज के प्रति बहुत बड़ा अपराध है। शिक्षा का पुनर्गठन इस ढंग से किया जाना चाहिए कि अधिकांश शिक्षित बच्चे गाँव में ही रहें और अपनी समस्त योग्यताएँ अपने गाँववालों की सेवा में लगा दें और उनकी संस्कृति तथा कार्यक्षमता के स्तरको ऊँचा उठाने के लिए काम करें। हमने अब तक न केवल अपने गाँवों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया है बल्कि ग्रामीण जीवन के शिक्षाप्रद साधनों की भी उपेक्षा की है। यद्यपि शहरों में सांस्कृतिक तथा प्राविधिक साधन कहीं ज्यादा बड़ी हद तक केन्द्रित रहते हैं फिर भी गाँव के जीवन में बहुत-सी ऐसी विशिष्ट तथा बहुमूल्य शिक्षाप्रद प्रेरणाएँ होती हैं जो शहरों के बच्चों को नसीब नहीं होतीं। शिक्षा के क्षेत्र में हमारी नीति यह होनी चाहिए कि हम ग्रामीण जीवन के क्रियाकलाप तथा व्यवसायों के साथ प्राथमिक शिक्षा का और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करें और सामाजिक क्षेत्र में हमें यह चाहिए कि प्राविधिक उन्नति के जो वरदान और जो

सांस्कृतिक सुविधाएँ इस समय केवल बड़े-बड़े शहरों तक सीमित हैं उन्हें गाँव वालों तक भी पहुँचायें। हम चाहे उद्योगीकरण में विश्वास रखते हों या कुटीर-उद्योगोंवाली अर्थ-व्यवस्था में, यह काम हमें करना ही होगा क्योंकि इसके बिना हम न ग्रामीण शिक्षा को नया बल प्रदान कर सकते हैं, न ग्रामीण जीवन को।

भारत जैसे निर्धन और पिछड़े हुए देश में केवल अच्छे स्कूलों, अच्छा वेतन पानेवाले अध्यापकों और एक तर्कसंगत पाठ्यचर्या का प्रबन्ध कर देना ही काफी नहीं होगा क्योंकि अधिकांश बच्चे इन सुविधाओं का पूरी तरह लाभ नहीं उठा सकेंगे। सरकार को इससे भी आगे जाना होगा और कई तरीकों से रुपये-पैसे की जिम्मेदारी भी सँभालनी होगी। अधिकांश बच्चों के माता-पिता के पास पुस्तकें तथा लिखने आदि की सामग्री खरीदने के लिए काफी पैसे नहीं होते; वे अपने बच्चों के लिए कपड़ों और जूतों का प्रबन्ध नहीं कर सकते; वे उनके लिए दोपहर के खाने की उचित व्यवस्था नहीं कर सकते और उनकी आँखों तथा उनके स्वास्थ्य की देखभाल नहीं कर सकते। कोई भी सभ्य सरकार भूखे, कम-जोर और चिथड़ों में लिपटे, सर्दी से काँपते हुए, तरह-तरह के रोगों से पीड़ित तथा नाना प्रकार के शारीरिक विकारोंवाले बच्चों को भेड़ों की तरह स्कूलों में ठूँसकर सन्तुष्ट नहीं रह सकती। इन परिस्थितियों में कोई भी बच्चा उपलब्ध शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं का पूरा लाभ नहीं उठा सकता। इसलिए राज्यसत्ता का यह कर्तव्य हो जाता है—यह उसकी इच्छा पर निर्भर कोई दान नहीं होता—कि वह स्कूलों में स्वास्थ्य-रक्षा की समुचित व्यवस्था करे, दोपहर के समय भोजन देने का प्रबन्ध करे, जिन बच्चों को जरूरत हो उनको उदार भाव से छात्रवृत्ति दे ताकि वे पुस्तकें और अपनी आवश्यकता की अन्य चीजें खरीद सकें, और छुट्टियों में उनके लिए शिविरों का आयोजन करे और शारीरिक विकास के लिए उन्हें अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करे। कुछ ऐसे बच्चे भी होंगे जो अपने माँ-बाप की अकेली सन्तान होंगे और उनके लिए अपनी पढ़ाई जारी रखने का अर्थ यह होगा कि उनके वृद्ध अथवा असमर्थ माता-पिता अपनी आय के एकमात्र स्रोत से वंचित हो जायेंगे। ऐसी असाधारण परिस्थितियों में इन बच्चों के माता-पिता को आर्थिक सहायता देना भी आवश्यक होगा। जिन लोगों का सामाजिक अन्तःकरण तथा कल्पना वर्तमान दुःखद परिस्थिति के प्रति संवेदनाहीन हो चुकी है और जो सामाजिक सुधार के किसी भी बड़े कदम को उस पर आनेवाले खर्च के कारण अस्वीकार कर देते हैं, यदि वे भारत के उपेक्षित बच्चों की ओर से किये जानेवाले इन दावों को काल्पनिक कहकर टाल दें तो मुझे

तनिक भी आश्चर्य न होगा। वे कहेंगे कि इस तरह की चीजें इङ्गलैण्ड या संयुक्त राज्य अमरीका जैसे धनवान् देशों के लिए तो ठीक हैं पर भारत जैसा दरिद्र देश इस ठाठ-बाट का खर्च कैसे बर्दाश्त कर सकता है? उनकी इस दलील का मैं दो तरह से उत्तर दूँगा। पहला तो यह कि ये ठाठ-बाट की चीजें नहीं बल्कि जीवन के लिए नितान्त आवश्यक चीजें हैं। यदि उन लोगों को जिनका रहन-सहन का स्तर हमारी अपेक्षा कहीं ज्यादा ऊँचा है, अपने बच्चों की शिक्षा के लिए हर प्रकार की सहायता की जरूरत है तो फिर भारतीय बच्चों के माता-पिता के लिए तो, जिनमें से बहुत-से लगभग भूखों मरते हैं, इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता अत्यन्त तात्कालिक है। दूसरे, सवाल यह नहीं है कि हम इन सब कामों का खर्च बर्दाश्त कर सकते हैं कि नहीं, बल्कि सवाल यह है कि क्या इन चीजों को न करने से हमारा काम चल सकता है। प्राथमिक शिक्षा की व्यापक आधार पर स्थापित तथा उदार भावसे सुनियोजित व्यवस्था के बिना हम अपने आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने या अपनी व्यावहारिक कार्य-क्षमता में वृद्धि करने या अपनी जनता को विवेकपूर्ण नागरिकता की शिक्षा देने की लेशमात्र भी आशा नहीं कर सकते। उदीयमान पीढ़ी को जीवन में श्रेष्ठतर अवसर प्रदान करने से अच्छा कोई दूसरा काम नहीं है जिस पर हम अपना पैसा खर्च करें, और पैसा बचाने के लिए अज्ञान, दरिद्रता, रोग तथा ढीले-ढाले ढंग से काम करने की प्रवृत्ति को ज्यों का त्यों बना रहने देने से ज्यादा बुरी बात कोई नहीं हो सकती। इधर कुछ वर्षों में कम-से-कम ये समस्याएँ उभरकर हमारे सामने आ गयी हैं और शिक्षा विभागों में बच्चों के लिए ये सुविधाएँ प्रदान करने की आवश्यकता की चेतना निरन्तर बढ़ती जा रही है। जिस पुनर्गठन की योजना बनायी गयी है उसे पूरा करने में अब बाधा यह नहीं है कि हमें उसकी आवश्यकता का अभास नहीं है कि बल्कि बाधा केवल साधनों के अभाव के कारण है।

८

गाँव में शिक्षा की भूमिका[1]

आइये, हम एक बहुत घिसी-पिटी बात से शुरू करें; कारण यह कि घिसी-पिटी बात में अकसर ठोस सच्चाई का एक अंश होता है और अगर उस बात की तरफ हमारा रवैया घिसा-पिटा न हो तो वह काफी उपयोगी भी हो सकती है। भारत मुख्यतः गाँवों का देश है। विभाजन से पहले भारत में सात लाख गाँव थे और यदि हम पूरे देश की भलाई के लिए कुछ करना चाहते हैं तो हमें गाँव से ही शुरुआत करनी होगी और हर चीज को गाँव के ही प्रसंग में जाँचना होगा। इस शताब्दी की शुरू-शुरू की दशाब्दियों तक अधिकांश शैक्षणिक तथा सामाजिक आन्दोलन नगरों तथा नगरवासियों को केन्द्र मानकर चलाये जाते थे। ऐसा लगता था कि गाँव उनकी चेतना की परिधि से बाहर स्थित हैं और उनके सम्बन्ध में ज्यादा कुछ नहीं किया जाता था। इसका कारण कुछ हद तक तो यह था कि ये आन्दोलन इस बात को बिलकुल भी नहीं समझ पाये थे कि भारतीय जीवन में गाँवों का कितना अधिक महत्त्व है, और कुछ हद तक इसका कारण यह भी था कि वे यह समझते थे कि गाँवों की समस्या इतनी विशाल है कि उसके बारे में कुछ नहीं किया जा सकता। कठिन तथा अरुचिकर कामों को न करने के लिए मनुष्य कैसे-कैसे अनोखे बहाने गढ़ लेता है! पर सभी लोग ऐसे नहीं थे; कई छोटे-छोटे दल और बहुत-से लोग ऐसे थे जो तन-मन से गाँव की सेवा करते थे, और रह-रहकर सरकार की तरफ से भी ग्राम-सुधार का काम शुरू करने के लिए कुछ कदम उठाये जाते थे। परन्तु ये बातें चारों ओर छाये हुए अन्धकार में छोटी-छोटी टिमटिमाती हुई चिनगारियों के समान थीं। सच बात तो यह है कि भारत के जीवन-क्षेत्र में जब तक गांधीजी ने प्रवेश नहीं किया और हमारी सारी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताओं और धारणाओं को लगभग बिलकुल उलट नहीं दिया तब तक कोई गाँवों को

---

१. आकाशवाणी, बम्बई से प्रसारित।

पूछता भी नहीं था। कम-से-कम हमारे राजनीतिज्ञों का ध्यान उन पर केन्द्रित नहीं हुआ था। गांधीजी ने उपदेश द्वारा और स्वयं अपने आचरण द्वारा भारतीय नेताओं को यह बुनियादी सत्य सिखाया कि यदि वे भारत की परिस्थितियों में कोई बुनियादी परिवर्तन करना चाहते हैं तो उन्हें गाँवों की ओर ध्यान देना चाहिए और पुनर्निर्माण का सिलसिला वहीं से शुरू करना चाहिए। गांधीजी से ही प्रेरणा प्राप्त करके हजारों स्वयंसेवक दूर देहातों में जाकर धैर्यपूर्वक काम करने लगे, उनके काम की कभी धूम नहीं मची पर धीरे-धीरे उससे राजनीतिक जागृति पैदा हुई और अन्त में चलकर हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

यहाँ पर उस मूक, बहुमुखी क्रान्तिकी कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है जो हमारे गाँवों में हुई थी—यह क्रान्ति निस्सन्देह अभी पूरी नहीं हुई है पर वह हमारे देश के इतिहास में निश्चित रूप से एक नये अध्याय की द्योतक है। मेरा उद्देश्य सारांश में यहाँ पर यह बताना है कि बेहतर, अधिक सुखी और अधिक समृद्धिशाली गाँवों का निर्माण करने की प्रक्रियाँ में शिक्षा की क्या भूमिका हो सकती है।

यह तो सच है कि प्राथमिक शिक्षा में सुधार करने की छुट-पुट कोशिशें कई दशाब्दियों से चल रही थीं, पर इस क्षेत्र में भी निर्णायक नेतृत्व गांधीजी ने ही १९३७ में बुनियादी शिक्षा की योजना आरम्भ करके प्रदान किया। अपने जीवन के अनुभव से उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि कोई भी गहरा सामाजिक या आर्थिक या राजनीतिक परिवर्तन करना उस समय तक असम्भव है जब तक शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन न हो—एक ऐसा परिवर्तन जो केवल अध्यापन की प्रणालियों तथा पाठ्यचर्याओं को ही नहीं बल्कि शिक्षा के उद्देश्यों तथा मूलभूत सिद्धान्तों को भी बदल दे। इस उद्देश्य से उन्होंने देश के सामने और देश के शिक्षा-शास्त्रियों के सामने अपनी प्राथमिक शिक्षा की योजना प्रस्तुत की, जिसका मूलभूत विचार यह था कि इस शिक्षा का आधार पुस्तकों पर न होकर गाँव के जीवन तथा गतिविधियों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित ग्राम-शिल्पों पर हो। वर्तमान शिक्षा-पद्धति, जो बहुत बड़ी हद तक लिखना-पढ़ना और थोड़ा-बहुत हिसाब-किताब सिखा देने तक ही सीमित है, न केवल स्वयं जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि उसने स्कूल के बच्चों को भी गतिवान तथा अर्थपूर्ण क्रिया-कलाप से अलग कर दिया है। यदि देहात का कोई स्कूल ग्रामवासियों के बच्चों को गाँव के जीवन से अपरिचित बना दे तो ग्रामवासियों में उस स्कूल के प्रति निष्ठा तथा आकर्षण कैसे पैदा हो सकता है? और इस प्रकार के बच्चे गाँव के जीवन में कोई उपयोगी तथा सृजनात्मक

योगदान कैसे कर सकते हैं ? उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से यही होगी कि वे गाँव के जीवन से दूर भागें और पास के किसी कस्बे या शहर में कोई काम ढूँढ़ने की कोशिश करें। इस प्रकार अधिक महत्त्वाकांक्षी तथा अधिक प्रतिभाशाली लड़के धीरे-धीरे गाँवों से दूर हटते गये और इस प्रकार उनका भविष्य अन्धकारमय होता गया। इसलिए ग्रामीण शिक्षा का काम यह है कि वह ऐसा सिद्धान्त तथा तरीका अपनाये जिससे गाँव के बच्चों में गाँव में ही रहने की इच्छा पैदा हो और उन्हें गाँव के जीवन की सेवा करने, उसे समृद्ध बनाने तथा सुधारने के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। केवल इसी प्रकार शिक्षा को सच्ची शिक्षा बनाया जा सकता है और बच्चों में उसके प्रति रुचि पैदा की जा सकती है—वह रुचि जो किताबों तक ही सीमित पाठ्यचर्या और मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुपयुक्त प्रणालियों के कारण आज उनमें नहीं रह गयी है।

हमारे गाँवों के पुनर्निर्माण में शिक्षाकी भूमिका को पर्याप्त रूप में समझने के लिए हमें अपने आप से यह सवाल करना चाहिए कि गाँव की कौन-सी मुख्य-मुख्य समस्याएँ ऐसी हैं जिन्हें समझदारी के साथ तथा उपयोगी ढंग से हल करने के लिए बच्चों को तैयार करना शिक्षा का काम है ? पहली बात तो यह कि गाँव एक ऐसा समाज होता है जिनमें सभी लोग काम करते हैं—या कम-से-कम स्वस्थ सामाजिक परिस्थितियों में सभी को काम करना चाहिए। और उनके इस काम का सम्बन्ध फाइलों और पुस्तकों से न होकर मनुष्यों और सांसारिक वस्तुओं तथा प्रकृति के साथ होता है—वह व्यावहारिक, उत्पादनशील और शारीरिक श्रम होता है जैसे जमीन जोतकर फसल उगाना, पशु पालना, ईंटें बनाना, कपड़ा बुनना, झोपड़ियाँ बनाना और एक-दूसरे को विविध प्रकार से ऐसी सेवाएँ प्रदान करना जिनसे समाज के जीवन का क्रम चलता रहता है। तो अगर हम चाहते हैं कि कोई बच्चा इस व्यवस्था में उपयोगी सिद्ध हो सके तो उसमें इस बात की क्षमता होनी चाहिए कि जो भी व्यावहारिक काम उसके सामने आये उसे वह खुशी-खुशी और कुशल ढंग से पूरा कर सके। इसका मतलब यह है कि उसकी स्कूल की शिक्षा का आधार शिल्पों और व्यावहारिक कार्य पर होना चाहिए। जैसा कि मैंने इस पुस्तक के एक दूसरे अध्याय में बताया है, बुनियादी शिक्षा ने यही रवैया अपनाया है। फिर गाँव में सफाई और पानी का प्रबन्ध करने की, स्वास्थ्य-रक्षा की, और बहुत समय तक बेकार बैठे रहने या अपव्ययमूलक तरीकों से काम करने की कई समस्याएँ होती हैं जिन्हें केवल उसी दशा में हल किया जा सकता है जब गाँववालों को उनके बारेमें पर्याप्त तथा उचित जानकारी हो और वे अपने जीवन की वास्तविक

परिस्थितियों में उस जानकारी का उपयोग करने के लिए प्रशिक्षित हों। इसमें यह आशय निहित है कि एक ऐसा पाठ्यक्रम तैयार किया जाये—विशेष रूप से समाज-ज्ञान तथा सामान्य विज्ञान के विषयों का—जिसका ग्रामीण जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के साथ गहरा सम्बन्ध हो और जिसे इस ढंग से विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत किया जाये कि स्कूल में अर्जित ज्ञान और वास्तविक जीवन के बीच खड़ी हुई पुरानी दीवार ढह जाये। इसके अतिरिक्त इसके लिए उच्चस्तर पर ऐसी ग्रामीण संस्थाएँ स्थापित करना आवश्यक होगा जो नौजवान मर्दों तथा औरतों को गाँवों के पुनर्निर्माण की इन प्राविधिक तथा सामाजिक समस्याओं को भली-भाँति हल कर सकें। हमारी केन्द्रीय सरकार ने हाल ही में ग्राम प्रतिष्ठानों की जो योजना आरम्भ की है वह कुछ हद तक इस आवश्यकता को पूरा कर सकती है। तीसरे, हमारे गाँवों में नाना प्रकार के ऐसे पूर्वाग्रह तथा अन्धविश्वास और स्वास्थ्य तथा नागरिकता के सिद्धान्तों के प्रतिकूल ऐसी अनेक सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित हैं जो सुलझे हुए ढंग से सोचने और फलस्वरूप उचित ढंग से जीवन व्यतीत करनेमें बाधा डालती हैं। स्कूल को केवल बच्चों को ही नहीं बल्कि उनके माता-पिता को भी यह बात समझा देनी चाहिए कि इस प्रकार के विचार और प्रथाएँ कितनी मूर्खतापूर्ण और खतरनाक हैं और उन्हें अन्धविश्वासों तथा गलत परम्पराओं के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए।

तो इस सब काम के लिए यह ज़रूरी है कि स्कूलों के बच्चों में **समाज-सेवा** की इच्छा हो ताकि वे न केवल स्वयं अच्छी बातें और अच्छा जीवन व्यतीत करने के तरीके सीखें बल्कि समाज के अन्य लोगों को ये बातें सिखाने के लिए भी उत्सुक रहें। अतएव स्कूल की स्थापना एक ऐसे सजीव तथा गतिवान् सामाजिक वातावरण में की जानी चाहिए जिसमें बच्चों को न केवल आगे चलकर कोई सामाजिक कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाये बल्कि उन्हें **शिक्षा प्राप्त करने के दौरान में स्कूल में ही** विभिन्न प्रकार की ऐसी समाज-सेवाओं के वास्तविक अवसर मिलने चाहिए जो इनकी पहुँच और क्षमता के भीतर हों। और कृपा करके यह मानकर न बैठ रहिये कि बच्चे कुछ नहीं कर सकते! यदि उनमें काम करने की तत्परता हो और अध्यापकगण दूरदर्शिता तथा समझदारी से काम लें तो बच्चे बहुत-कुछ कर सकते हैं। कुछ वर्ष पहले मैंने बम्बई राज्य के स्कूलों में स्वेच्छापूर्वक किये जानेवाले समाज-सेवा के काम का एक सर्वेक्षण कराया था[१] और मुझे यह

---

१. बम्बई सरकार के शिक्षा सलाहकार के कार्यालय द्वारा **सोशल सर्विस इन स्कूल्ज** नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित।

जानकर बहुत हर्ष और आश्चर्य हुआ कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों के बच्चे शिक्षा के नये आदर्शों को पूरा करने के लिए आगे आ रहे हैं और वे अधिक अन्न उपजाकर, गाँवों की सफाई करके, समाज-शिक्षा केन्द्र चलाकर, स्थानीय समाज के लिए मनोरंजन के कार्यक्रम संगठित करके, अस्पतालों में जाकर काम करके और विविध प्रकार की अन्य समाज-सेवाओं द्वारा परिस्थितियों की विषमता के विरुद्ध लड़ रहे हैं। निस्सन्देह सभी स्कूलों में ऐसा नहीं हो रहा है—सच तो यह है कि बहुत ही थोड़े ही स्कूल यह काम करते हैं—परन्तु भविष्य के लिए वे एक शुभसूचक चिह्न हैं। उनके काम में इस बात का संकेत मिलता है कि बाकी स्कूलों में भी यदि आवश्यक तत्परता तथा जानकारी हो तो वे क्या कर सकते हैं। और इस काम को जितनी जल्दी शुरू कर दिया जाये उतना ही अच्छा है—जिन बीजों को आगे चलकर उपयोगी समाज-सेवा के अंकुरों के रूप में प्रस्फुटित होना है वे बच्चों के मन में प्राथमिक स्कूल से पहले की अवस्था में भी बोये जा सकते हैं। अपने बुनियादी शिक्षा के स्कूलों में हम छोटे-से-छोटे बच्चों को भी टोलियों में काम करने, छोटे-छोटे कर्तव्यों तथा दायित्वों का भार सँभालने, अपने कमरों की सफाई स्वयं करने और यथाशक्ति स्कूल की देखभाल करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। कुछ समय बाद उन्हें स्कूल के बाहर भी काम करने, ग्रामवासियों के साथ उनके कामों तथा व्यवसायों में भाग लेने और सफाई तथा स्वास्थ्य के कार्यक्रय संगठित करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाता है। यदि बुनियादी-शिक्षा के बाद की अवस्था में और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी इसी भावना से काम किया जाये और हमारे कालेजों के विद्यार्थी तथा अध्यापकगण उससे प्रेरणा प्राप्त करें तो हम देहातों में एक महान् क्रान्ति कर सकते हैं, भले ही वह एक मूक क्रान्ति हो। ये अपेक्षतः बड़े लड़के अपनी छुट्टियों में गाँवों में जाकर काम कर सकते हैं और अपने प्राविधिक ज्ञान तथा सांस्कृतिक गुणों को देहातों की सेवा में लगा सकते हैं। वास्तव में प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान में श्रम-सेवा शिविरों तथा समाज-सेवा शिविरों का जो आन्दोलन आरम्भ किया गया था और जिसे अब भी चलाया जा रहा है, उसके प्रति स्कूलों और कालेजों दोनों ही में काफी उत्साह और दिलचस्पी पैदा हुई है। परन्तु इस काम को अधिकांशतः गाँवों के हजारों छोटे-छोटे प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों को ही करना चाहिए और करना होगा, क्योंकि कोई भी समाज अपने लिए अधिक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण स्वयं अपने सदस्यों की पहलकदमी तथा आत्म-सहायता द्वारा ही कर सकता है। यदि शहरों के पढ़े-लिखे नौजवान गाँवों

में जायें तो इससे स्वयं उनकी आत्मा का निर्माण होगा—इस प्रकार वे शहरों पर गाँवों का चढ़ा हुआ कुछ ऋण उतारेंगे और शायद बहुत-सी उपयोगी बातें भी सीख लें। परन्तु देहातों का पुनरुत्थान तभी हो सकता है जब गाँवों के बच्चों को अपने ऊपर भरोसा करने और अपने अन्दर सामाजिक चेतना पैदा करने की शिक्षा दी जाये और उनमें अपने लिए बेहतर जीवन का निर्माण करने के मार्ग में आनेवाली सारी बाधाओं को दूर कर देने का संकल्प हो। और यह स्पष्टतः पुनर्गठित तथा नयी शक्ति से परिपूर्ण ऐसी शिक्षा-पद्धति का काम है जिसकी जड़ें मजबूती से गाँव की धरती में जमी हों परन्तु जो उन आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त करती हों जो चाँद-सितारों को छू लेने में भी संकोच न करते हों।

भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की बहु-मूल्य रिपोर्ट में ग्राम्य विश्वविद्यालयों के बारे में एक अत्यन्त उपयोगी अध्याय था और इस विषय की मुख्य विवेचना की एक भूमिका के रूप में उसमें गाँवों की परिस्थिति के प्रसंग में बुनियादी शिक्षा और उसके बाद की अवस्था की शिक्षा की सम्भावनाओं का मूल्यांकन किया गया है। मैं यहाँ पर उस रिपोर्ट का एक उद्धरण दे रहा हूँ क्योंकि उससे ग्राम-शिक्षा के बारे में मेरे दृष्टिकोण की पुष्टि होती है :

> "अपने इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण क्षण में हमें इस बात का अनन्य सौभाग्य प्राप्त है कि हमारे सामने शिक्षा की एक ऐसी पद्धति तथा शिक्षा-सम्बन्धी ऐसी दार्शनिक विचारधारा प्रस्तुत की गयी है जिसकी उपयोगिता इतनी सर्वव्यापी तथा मौलिक है कि उसे हमारी कल्पना के नये भारत का निर्माण करने का आदर्श मानदंड बनाया जा सकता है। गांधीजी के पूरे विचार को देखा जाये तो उसमें मनुष्य के व्यक्तित्व को सार्थक करने और उसका परिष्कार करने की एक ऐसी प्रणाली के अंकुर मिलते हैं जिसकी बुद्धिमत्ता तथा श्रेष्ठता समय की गति के साथ अधिकाधिक स्पष्ट होती जायेगी और वह समय के प्रवाह तथा आयोजना की कसौटी पर खरी उतरेगी। मूलतः यह परिकल्पना पूरे संसार के शिक्षा के क्षेत्र में एक महान् योगदान है।
>
> "गांधीजी ने जिस प्रणाली की रूपरेखा प्रस्तुत की है वह केवल छोटे बच्चों की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने का एक उपाय मात्र नहीं है। उन्होंने जीवन की सभी अवस्थाओं के लिए उपयोगी शिक्षा-प्रणाली के मूल तत्त्व बताये हैं, उस समय से लेकर जब बच्चा अपनी माँ के काम में हाथ बटाँता है, व्यक्तित्व के विकास की पूरी प्रक्रिया से गुजरते हुए उस समय

तक जब सुलझे हुए सुव्यवस्थित विचारों तथा चरित्रवाला प्रौढ़ व्यक्ति किसी महान् योजना की पूर्ति के लिए किसी सिद्धहस्त व्यक्ति के साथ काम करने लगता है।"

जब शिक्षा की यह 'महान् नयी योजना' सफलतापूर्वक पूरी कर ली जायगी तभी हम ऐसे गाँवों की स्थापना कर सकेंगे जिनके अभी हम केवल स्वप्न देखते हैं।

१

बुनियादी शिक्षा का योगदान

महात्मा गांधी में एक आश्चर्यजनक बहुमुखी प्रतिभा थी जो कई अलग-अलग क्षेत्रों में व्यक्त हुई और हमारे राष्ट्रीय जीवन तथा कार्य के लगभग सभी पहलुओं पर—राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक पहलुओं पर—उनकी प्रतिभा की छाप पड़ी है। पर यह कौन सोच सकता था कि इस महान् राजनीतिज्ञ तथा समाज-सुधारक को जिसने अपने जीवन के इतने वर्ष जेलखानों में और बाकी देश की स्वतन्त्रता के लिए तन-मन से जूझकर संघर्ष करने में व्यतीत किये थे, शिक्षा के क्षेत्र में एक स्थायी तथा दूरगामी योगदान करने को न केवल समय और सामर्थ्य प्राप्त होगा बल्कि वह इस योगदान के लिए आवश्यक अन्तर्दृष्टि तथा कल्पना-शक्ति का भी परिचय दे सकेगा ! मेरा कहने का मतलब यह नहीं है कि आम लोगों के लिए शिक्षा के क्षेत्र में दखल देना कोई असाधारण बात है। पत्रकार, सार्वजनिक वक्ता, राजनीतिज्ञ तथा वकील सभी शिक्षा को एक खुला क्षेत्र समझते हैं और वे बड़े निश्चिन्त भाव से शिक्षाशास्त्रियों को हमेशा उनके काम के बारे में सलाह देने को तैयार रहते हैं। पर उनमें से ज्यादातर लोग या तो उपदेश देते हैं या ऐसे सुझाव रखते हैं जिन्हें पूरा करना असम्भव होता है या फिर वे बिना सोचे-समझे ऊटपटाँग बातें करते रहते हैं। परन्तु इस क्षेत्र में महात्मा गांधी का पदार्पण एक महत्त्वपूर्ण घटना थी जिसका स्वागत करना स्वाभाविक था। देश की शिक्षा के बारे में उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि न तो किताबें पढ़कर पैदा हुई थी, न साधारण अध्यापन के अनुभव द्वारा। उन्हें अपने देश की जनता और समस्याओं का जो निजी ज्ञान था और वह भारत की सामाजिक परिस्थिति की वास्तविकताओं को जितनी अच्छी तरह समझते थे उसीके फलस्वरूप उनमें यह अन्तर्दृष्टि पैदा हुई थी। शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान का दोहरा महत्त्व है। एक ओर तो यह योगदान भारत की शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति के बारे में एक प्रतिभाशाली भारतवासी की प्रखर बुद्धि

की प्रतिक्रिया का द्योतक था—उनकी यह देन यहीं की धरती से उपजी थी, कहीं बाहर से नहीं आयी थी, उसे वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की तरह कहीं बाहर से लाकर नहीं थोपा गया था। दूसरी ओर उनकी इस देन में कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो हर जगह समान रूप से सार्थक हो सकते हैं जिसकी वजह से वह इस युग के शिक्षा-सम्बन्धी प्रगतिशील विचारों की श्रेणी में आ जाती है—मेरा विश्वास है कि इस बात पर स्वयं गांधीजी को भी बहुत आश्चर्य हुआ होगा क्योंकि विदेशों के आधुनिक शैक्षणिक आन्दोलनों के साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं था।

यह बात ऐतिहासिक महत्त्व रखती है कि इस योजना के परीक्षण तथा विकास की सबसे शुरू की मंजिलों को उस समय तै करना पड़ा जब दूसरा महा-युद्ध छिड़ा हुआ था, जो १९४५ में जाकर समाप्त हुआ। उस समय यदि कोई आदमी सरसरी दृष्टि से इस योजना को देखता तो उसे सहज ही यह आश्चर्य होता कि ऐसे समय पर जब कि सारी दुनिया मानव-इतिहास के इस महाविनाश की ओर जा रही है, इस देश में हम लोग गांधीजी के नेतृत्व में प्राथमिक स्कूलों में छोटे बच्चों की शिक्षा जैसी छोटी-छोटी और महत्त्वहीन समस्याओं में क्यों उलझे हुए हैं। उनका यह रवैया समझ में आता है क्योंकि छोटे दिमागवाले लोगों को सांस्कृतिक शक्तियाँ हमेशा विनाश की शक्तियों के मुकाबले में तुच्छ और नगण्य प्रतीत हुई हैं। परन्तु इससे पता चलता है कि उनका दृष्टिकोण कितनी शोचनीय हद तक विकृत है। उनके इस रवैये से पता चलता है कि वे इस सत्य को नहीं समझते कि संस्कृति की सृजनात्मक तथा रचनात्मक शक्तियाँ ही अन्त में मनुष्य के भाग्य का निर्माण करती हैं और जिन चीजों को इतिहास की बड़ी-बड़ी और विनाशकारी घटनाएँ समझा जाता है वे केवल राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों का ही नहीं बल्कि उन मानसिक शक्तियों का भी परिणाम होती हैं जो शक्तियों और समूहों के मस्तिष्क में क्रियाशील हो उठती हैं। न्याय, सहकारी प्रयास, उत्पादनशील कार्य और मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान पर आधारित शिक्षा की एक श्रेष्ठतर व्यवस्था तथा एक नयी विचार-धारा के लिए हमारी चेष्टा की जड़ें इस विश्वास में जमी हुई हैं कि इस प्रकार की शिक्षा द्वारा हम उदीयमान पीढ़ी के विचारों तथा भावनाओं की प्रवृत्ति को उचित दिशा में मोड़ सकते हैं और इस प्रकार शान्ति तथा न्याय के पक्ष में मानसिक आश्वासन उपलब्ध कर सकते हैं। "चूँकि युद्धों की शुरुआत मनुष्य के मस्तिष्क में होती है, इसलिए शांति की रक्षा का प्रबन्ध भी मनुष्य के मस्तिष्क में ही किया जाना चाहिये"—यूनेस्को के इस प्रख्यात नारे को शायद हमने पहले ही ग्रहण कर लिया था, कम-से-कम गांधीजी ने तो कर ही लिया

था। इस देश को इस बात का श्रेय तो दिया ही जाना चाहिये कि जिस समय वह राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सबसे बड़े संकट का सामना कर रहा था, उस समय भी उसने उन सृजनात्मक शक्तियों के महत्त्व को पूरी तरह ध्यान में रखा जिनसे राष्ट्र के बौद्धिक तथा आत्मिक जीवन का ताना-बाना तैयार होता है।

गांधीजी जब भी कोई नया सामाजिक या राजनीतिक या सांस्कृतिक आन्दोलन शुरू करते तो उनका काम करने का एक खास तरीका होता था। वह अपने विचारों को—शायद जानबूझकर—इतने उग्र रूप में प्रस्तुत करते थे कि लोगों की उदासीनता और निश्चिन्तता भंग हो जाती थी, जैसे वे एकाएक चौंक पड़े हों। इस प्रकार वह एक जबर्दस्त गरमागरम बहस छेड़ देते थे और बहुत समय से चले आनेवाले बँधे हुए ढर्रे को चुनौती देने में उससे कहीं ज्यादा सफल होते थे जितना कि वे ज्यादा सावधानी का तथा "तर्कसंगत" रवैया अपनाकर हो सकते थे। १९३७ में **हरिजन** में शिक्षा के बारे में कई लेख लिखकर उन्होंने यही किया। इन लेखों के छपते ही एक जबर्दस्त बहस छिड़ गयी और कई क्षेत्रों से उनका विरोध किया जाने लगा। लेकिन इन लेखों ने लोगों को शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति की आधारभूत बातों पर विचार करने पर मजबूर किया, उस रूप में नहीं जिसमें वह सीमित शैक्षणिक शब्दों में प्रस्तुत की जाती है, बल्कि उस रूप में जिसमें कि एक पैनी दृष्टि रखनेवाले साधारण व्यक्ति ने अनेक सुस्पष्ट सुझावों द्वारा उसे प्रस्तुत किया था। अब चूँकि प्रथम स्वयंस्फूर्त प्रतिक्रियाओं की उग्रता ठंढी पड़ गयी है और देश के कई भागों में लगभग बीस वर्ष तक इस योजना को काफी आजमाया जा चुका है, इसलिए इन सुझावों पर और उन पर की गयी आलोचना पर ठंढे दिमाग से विचार करना उचित ही होगा।

गांधीजी ने क्या कहा था? सभी अध्यापक और शिक्षा-शास्त्री उनकी योजना की रूप-रेखा से भली भाँति परिचित हैं। पहली बात तो यह कि जन-शिक्षा को निःशुल्क, सार्विक तथा अनिवार्य घोषित कर दिया जाये। इस माँग में कोई नयी बात नहीं है, अलावा इसके कि इसे अत्यन्त तात्कालिक बताया गया है। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसे अधिकांश सभ्य देश पूरा कर चुके हैं और इस देश में भी शिक्षा के क्षेत्र से सम्बन्ध रखनेवाले लोग इसके पक्ष में अपना मत प्रकट कर चुके हैं। दूसरे, इस जन-शिक्षा की अवधि बहुत थोड़ी नहीं होनी चाहिये, उसे चार (या पाँच) वर्ष बाद समाप्त नहीं हो जाना चाहिये क्योंकि उस समय तक बच्चे मुश्किल से लिखना-पढ़ना सीख पाते हैं और इस बात की

सम्भावना बहुत ही थोड़ी होती है कि वे कोई उपयोगी ज्ञान अथवा सामाजिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा'—बाद में इस योजना का यही नाम पड़ गया था—कम-से-कम सात वर्ष तक दी जानी चाहिये, ७ वर्ष से १४ वर्ष की अवस्था तक। इस सुझाव की वांछनीयता से भी सभी सहमत हैं पर बहुत-से लोग समझते हैं कि इस समय इसे 'पूरा नहीं किया जा सकता'। जब कि दूसरे सभ्य देश इस अवधि को प्रभावक प्राथमिक शिक्षा देने के लिए बहुत थोड़ा समझते हैं, तब क्या हमारे लिए इस लक्ष्य को आवश्यकता से अधिक ऊँचा समझना उचित होगा? तीसरे, यह शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जानी चाहिये। भारत जैसे देश में ही ऐसे बुनियादी अधिकार पर भी इतना जोर देने की जरूरत पड़ सकती थी! चौथे—और यह बात इस योजना का सबसे महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक आधार है—यह जन-शिक्षा मुख्यतः पुस्तकों के माध्यम से नहीं बल्कि कताई, बुनाई और खेती-बारी जैसे उत्पादनशील उद्यमों के माध्यम से दी जानी चाहिये। बच्चों से ऐसी चीजें तैयार करवायी जायें जो बाजार में बिक सकती हों और शिक्षा को यथासम्भव स्वावलम्बी बनाने के लिए इन चीजों को बाजार में बेचा जाना चाहिये। गांधीजी ने यह सुझाव भी रखा था कि राज्य को अपने साधन माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा पर न व्यय करके अपना ध्यान मुख्यतः जन-साधारण की शिक्षा पर केन्द्रित करना चाहिये। उनका सुझाव था कि माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा या तो निजी संस्थाओं के हाथ में छोड़ दी जानी चाहिये या फिर वकालत, डाक्टरी और इंजीनियरी जैसे विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों को इसका प्रबन्ध करना चाहिये।

शिक्षा के क्षेत्र में इन 'विद्रोही विचारों' के प्रति देश की विभिन्न विचार-धाराओं के लोगों की जो पहली प्रतिक्रिया हुई उस पर ध्यान देना बहुत महत्त्व-पूर्ण है। स्वाभाविक ही था कि कुछ लोग उसकी प्रशंसा करते और कुछ विरोध। पहले तो कुछ लोग ऐसे थे जो सभी सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं पर गांधीजी से बुनियादी मतभेद रखते थे। उनमें से कुछ पूर्ण उद्योगीकरण के दृढ़ समर्थक थे और छोटे पैमाने के हस्तशिल्प को मध्ययुगीन अर्थ-व्यवस्था का अंग मानते थे जिसे बिलकुल मिटा देना ही उचित था। वे इस योजना को अव्यावहारिक ही नहीं बल्कि प्रतिक्रियावादी भी समझते थे, जिसका उद्देश्य उनकी राय में देश को कुटीर-उद्योग के स्तर पर रखकर उसके औद्योगिक विकास को रोक देना था। इस स्पष्ट बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया कि स्वयं उनके दृष्टिकोण से भी प्रधानतः पुस्तकों के माध्यम से दी जानेवाली शिक्षा की अपेक्षा व्यावहारिक कार्य के माध्यम से दी जानेवाली शिक्षा से कुशल तथा योग्य

औद्योगिक कार्यकर्ता तैयार करने की अधिक आशा की जा सकती है और यह कि पुस्तकों से प्राप्त किये गये ज्ञान की तुलना में शिल्प उद्योगों के अधिक निकट हैं। फिर कुछ ऐसे 'दकियानूस' शिक्षा-शास्त्री थे जिन्हें इस बात पर विस्मय हुआ कि शिल्प-कार्य पाठ्य पुस्तकों की युगों पुरानी प्रभुसत्ता को चुनौती दे और बच्चे स्कूल में 'शारीरिक श्रम' में अपना समय नष्ट करें। उन्हें यह आशंका थी कि शिक्षा की इस प्रकार की योजना इकबाल या राधाकृष्णन् या टैगोर जैसे, या स्वयं उनके जैसे, महान् बुद्धिजीवी नहीं पैदा कर सकेगी! वे यह नहीं समझ पाये कि मेधावी प्रतिभावाले लोग इच्छानुसार ढाले नहीं जा सकते, और यह कि अलग-अलग प्रकार के लोग आत्माभिव्यक्ति के लिए तथा आत्म-तुष्टि के लिए नाना प्रकार के असंख्य उपायों का सहारा लेते हैं। वे यह नहीं समझ पाये कि पुस्तक संस्कृति का एकमात्र साधन नहीं है और सच तो यह है कि जीवन और व्यावहारिक कार्य से अलग रहकर वह संस्कृति का साधन कदापि नहीं हो सकती! फिर कुछ गांधीजी के पक्के शिष्य थे जो गांधीजी के हर शब्द को ब्रह्मवाक्य मानते थे और स्वाभाविक ही था कि गांधीजी ने जो कुछ कहा था उसे वे अक्षरशः स्वीकार कर लेते। इन लोगों ने अपने उत्साह के प्रथम आवेग में यह नहीं समझा कि शिक्षा-व्यवस्था का पूरा चित्र प्रस्तुत करना गांधीजी का काम नहीं था। उनका काम तो केवल यह था कि वे कुछ मोटे-मोटे और उपयोगी विचारों की ओर संकेत कर दें, जिन्हें अच्छी तरह जाँचा जाये, उनमें आवश्यक सुधार किये जायें और यथासमय शिक्षा-शास्त्री उन्हें व्यवहार में पूरा करें।

परन्तु गांधीजी अपने अन्धे प्रशंसकों और अपने पेशेवर आलोचकों, दोनों ही की अपेक्षा अधिक महान् और सही बात को स्वीकार कर लेने पर अधिक तत्पर थे। वे अपने विचारों को अटल सत्य न मानकर उन्हें नयी खोजबीन का आधार-बिन्दु ही मानते थे। इसलिए उन्होंने अपनी योजना की रूपरेखा उचित निरूपण तथा छानबीन के लिए पहले शिक्षा-शास्त्रियों के एक सम्मेलन के और फिर एक समिति के सिपुर्द कर दी। उन्होंने इस समिति की अध्यक्षता के लिए डॉ० जाकिर हुसेन को चुना जो इस काम के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे, हालाँकि वार्धा सम्मेलन में इस योजना का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने उसकी बहुत विवेकपूर्ण तथा रचनात्मक आलोचना की थी। कोई भी दूसरा व्यक्ति उस कच्ची धातु से शिक्षा का सोना इतनी सफलता के साथ नहीं निकाल सकता था। डॉ० जाकिर हुसेन उन गिने-चुने शिक्षा-शास्त्रियों में से हैं जो अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों में शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करने की कोशिश

करते रहे हैं और जिन्होंने हमेशा इस पद्धति की आवश्यकता से अधिक किताबी पढ़ाई-लिखाईवाली परम्पराओं का घोर विरोध किया है। इन शिक्षा-शास्त्रियों को इस नयी योजना में बहुत विशाल सम्भावनाएँ निहित दिखाई पड़ीं और इसका मूल विचार, जिस पर गांधीजी सहज ही पहुँच गये थे, उन्हें बहुत पसन्द आया क्योंकि वह शिक्षा-सम्बन्धी प्रगतिशील विचारधारा की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों के अनुकूल था। यह विचार क्या था? यही कि लगन और समझदारी के साथ किया गया काम ही अन्त में चलकर मनुष्य को उचित शिक्षा देने का उपयुक्त माध्यम बन सकता है और स्कूल काम करने और काम करने के माध्यम से सीखने के सक्रिय केन्द्र बन जाने चाहिए और इन दोनों क्रियाओं को एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्बन्ध में संगठित किया जाना चाहिये। काम करने, सीखने और जीवन-निर्वाह करने के इस गहरे पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में गांधीजी की यह समझ उनके जीवन-दर्शन से संयोगवश 'फूट पड़नेवाला कोई अंकुर' नहीं थी; वह उनके विचारों के सबसे गहरे स्रोतों से पैदा हुई थी। जार्ज बर्नार्ड शा की रचना 'जान बुल्ज अदर आइलैंड' में एक पादरी ने जो बात कही थी उससे वह पूरी तरह सहमत थे: 'काम करना ही जीवन है और काम ही उपासना है—तीनों एक में और हर एक में तीनों'। गांधीजी ने अपने जीवन-भर स्वयं काम किया था और वे काम करनेवालों के सम्पर्क में रहे थे। वह अपने अनुभव तथा अपने अवलोकन से जानते थे कि वास्तविक संस्कृति को जन्म देने में पुस्तकालय या पाठशाला की कक्षा की अपेक्षा खेत और कारखाने का हाथ कहीं ज्यादा होता है। गांधीजी राष्ट्रीय जीवन की धारा से शिक्षित वर्गों के अलग रहने की बहुत निन्दा करते थे और इस दोष को दूर करने के लिए उन्होंने यह सुझाव रखा था कि जब नवयुवकों के चरित्र का निर्माण होता है उन वर्षों में उन्हें स्कूल में वास्तविक उत्पादनशील कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए जहाँ उन्हें उत्पादन के कपास और ऊन और लकड़ी जैसे कष्टसाध्य साधनों का और कृषि के आधार के रूप में मिट्टी का उपयोग सीखना चाहिए। इस सच्चे उपयोगी काम के दौरान में वे न केवल ऐसी चीजें तैयार कर सकेंगे जिन्हें बाजार में बेचा जा सकता हो बल्कि वे बहुत-सा आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करेंगे और आवश्यकता अनुभव करके और अधिक उपयोगी ज्ञान के स्रोत के रूप में पुस्तकों का सहारा लेंगे। इस प्रकार पुस्तकें व्यावहारिक कार्य का स्थान न लेकर उस कार्य में सहायता देने का साधन बन जायेंगी और इस प्रकार वे जो ज्ञान प्राप्त करेंगे वह उनके चरित्र तथा व्यक्तित्व का अंग बन जायेगा। गांधीजी के विचारों के अनुसार इस प्रकार का

ज्ञान सीमित होने पर भी उस व्यापकतर ज्ञान से कहीं अधिक मूल्यवान् और उपयोगी होगा जो बिना समझे यंत्रवत् पुस्तकों से ग्रहण कर लिया जाता है और उस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले की निष्क्रिय सम्पत्ति बना रहता है।

यदि हम मनोविज्ञान, सामान्य बुद्धि तथा विवेकपूर्ण अवलोकन के अकाट्य प्रमाणों की ओर आँख नहीं मूँद लेना चाहते या यदि हम पूरा मन लगाकर किये गये उस सृजनात्मक तथा उद्देश्यपूर्ण कार्य को, जिसे करके मनुष्य को खुशी और सन्तोष होता है, शिक्षा की प्रक्रिया के लिए सर्वथा निरर्थक ही नहीं समझते तो हमें उत्पादनशील कार्य द्वारा शिक्षा के इस सिद्धान्त की सार्थकता को स्वीकार करना पड़ेगा। जिन लोगों ने यह देखा है कि इस प्रकार का काम उचित ढंगसे संगठित किये जाने पर किस प्रकार स्कूल के पूरे वातावरण को मानो जादू से बदल देता है और जीवन तथा अपनी पढ़ाई के प्रति विद्यार्थियों की रुचि बढ़ा देता है, वे शिक्षा में शिल्प-कार्य पर दिये जानेवाले इस नये बल का महत्त्व समझेंगे। भारत के ट्रेनिंग कालेजोंके अध्यापक और शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों के लेखक वर्षों से इस दृष्टिकोण का प्रचार करते आये थे पर उनके सिद्धान्तों को केवल विद्वत्तापूर्ण बहसों में स्वीकार किया गया था; स्कूलों के व्यावहारिक कार्य पर उनका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा था। बुनियादी शिक्षा की योजना को इस बात का श्रेय है कि उसने इस आवश्यक सुधार को एक तात्कालिक तथा ठोस समस्या बना दिया है। मैं यह मानता हूँ कि उस बात पर तो मत भेद हो सकता है कि योजना के इस पहलू पर कितना जोर दिया जाये, उसे पूरा करने में कितना समय लगाया जाये और उस पर कितना खर्च आयेगा, परन्तु ब्योरे की बातों के बारे में इन मतभेदों के कारण, जिन्हें विवेकपूर्ण अनुभव द्वारा ही दूर किया जा सकता है, हमें इसके मूलभूत आधार की सार्थकता की ओर से आँख नहीं मूँद लेनी चाहिए।

परन्तु यह मान बैठना गलत होगा कि गांधीजी को बुनियादी तौर पर इस बात में दिलचस्पी थी कि बच्चे किसी शिल्प में निपुणता प्राप्त कर लें और उन्हें शिक्षा के अधिक व्यापक उद्देश्यों की चिन्ता कम थी। बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की रिपोर्ट पर अपनी भूमिका में उन्होंने लिखा था :

> "गाँव के हस्तशिल्पों के माध्यम से शिक्षा का अर्थ यह है कि अध्यापकों से बच्चों को उनके गाँवों में पढ़ाने की आशा की जाती है ताकि वे गाँव का कोई हस्तशिल्प चुनकर उसके माध्यम से ऊपर से लादे गये प्रतिबन्धों तथा हस्तक्षेप से मुक्त वातावरण में उनकी समस्त क्षमताओं का विकास कर सकें।"

उत्पादनशील कार्य के माध्यम से शिक्षा और स्वतन्त्रता के वातावरण में शिक्षा पर इस आग्रह से किस 'नये शिक्षा-शास्त्री' का हृदय प्रफुल्लित नहीं हो उठेगा।

इस प्रसंग में इस बात की ओर संकेत कर देना उचित होगा कि गांधीजी ने जो बात कही है वह सारतः कोई बिलकुल नया शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त नहीं है; पर आश्चर्य की बात है कि उनके पक्के अनुयायियों और कठोर आलोचकों दोनों ही का यही विश्वास था! हर युग में प्रतिभासम्पन्न शिक्षक कार्य के माध्यम से शिक्षा के इस सिद्धान्त से परिचित रहे हैं और उन्होंने व्यवहार में इस सिद्धान्त को अपनाया भी है। इस शताब्दी में प्रायोजना-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) और क्रियाप्रधान प्रणाली (ऐक्टिविटी स्कूल) जैसे शैक्षणिक आन्दोलनों द्वारा इस सिद्धान्त को योरप, अमरीका तथा सोवियत रूस के स्कूलों में सम्मान का स्थान प्राप्त हुआ है। गांधीजी के योगदान का विशेष महत्त्व सबसे पहले तो इस बात में है कि यह योगदान उनका है और दूसरे इस बात में कि भारत में किसी और ने इस सिद्धांत पर इससे पहले इतने आग्रहपूर्वक तथा इतने स्पष्ट शब्दों में जोर नहीं दिया था, और न ही उसे शिक्षा की पूरी प्रक्रिया के लिए बुनियादी ठहराने का प्रयत्न किया था। शिक्षा में 'किताबी ज्ञान' की परम्परा यहाँ कई शताब्दियों से चली आयी है जिसका परिणाम यह हुआ है कि संस्कृति का व्यावहारिक कार्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है और बहुत-से लोग अभी तक शारीरिक श्रम को निश्चित रूप से अपमान की बात समझते हैं। गांधीजी ने इस पूर्वाग्रह की जड़ पर आघात किया और यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि हर बच्चा, वह चाहे गरीब हो या अमीर, 'ऊँचे कुल का' हो या 'नीच कुल का', तन-मन से वास्तविक शारीरिक श्रम में भाग ले। यह कदम सामाजिक दृष्टि से भी उतना ही न्यायसंगत है जितना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से; कारण यह कि काम करनेवाले की शिक्षा सही माने में 'मनुष्य की शिक्षा का द्वार है।' इस प्रकार उत्पादनशील कार्य पाठ्यचर्या का एक प्रमुख तत्त्व ही नहीं बन जाता बल्कि उसकी भावना अध्यापन तथा अनुशासन की प्रणालियों में और स्कूल के पूरे वातावरण में प्रेरणा का संचार करने लगती है।

यहीं पर उस चीज का भी उल्लेख किया जा सकता है जो इस योजना की सबसे विवादग्रस्त बात है—अर्थात् यह कि जहाँ तक सम्भव हो कार्य के माध्यम से शिक्षा देने की इस पद्धति को अपने नियमित खर्च की हद तक स्वावलम्बी बना दिया जाना चाहिए। सम्मेलन में इस विचार की व्याख्या करते हुए यहाँ तक कहा गया कि 'धीरे-धीरे उसे इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह बुनियादी

स्कूल के हर अध्यापक को २५ रु० मासिक वेतन दे सके।' गांधीजी ने योजना की इस विशेषता पर आखिर इतना जोर क्यों दिया ? मेरे विचार में इसका कुछ कारण तो यह था कि उन्हें गम्भीर आशंका थी कि यदि कोई तात्कालिक उपाय न किये गये तो भारत जैसे निर्धन देश के लिए जनव्यापी पैमाने पर बुनियादी शिक्षा का प्रबन्ध करना सम्भव न हो सकेगा। केन्द्रीय शिक्षा परामर्श मण्डल की रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा पर आनेवाले खर्च का जो हिसाब लगाया गया है उससे पता चलता है कि यह आशंका निराधार नहीं है। सच पूछा जाये तो इस समय हमारे लिए इतना खर्च उठाना सम्भव नहीं है; और जब तक तीव्र गति से देश के उद्योगीकरण की नीति द्वारा देश की सम्पदा को कई गुना बढ़ा न दिया जाये तब तक यह हमारे लिए असम्भव ही रहेगा। चूँकि गांधीजी बड़े पैमाने के उद्योगीकरणके पक्षमें नहीं थे और इस योजना को बहुत समय के लिए स्थगित भी नहीं रखना चाहते थे इसलिए उनके सामने इस प्रकार का सुझाव रखने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा ही न था। लेकिन सारी बात इतनी ही नहीं है—इस विचार के पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है जो अधिक सार्थक है। यदि हम चाहते हैं कि शिल्प-कार्य केवल शौक पूरा करने या समय काटने का साधन न बना रहे तो शिल्प-कार्य करनेवाले में निर्विकार रूप में काम पूरा करने की क्षमता, अपने काम में निपुणता, समय तथा साधनों का उपयोग करने में किफायत और सच्चे शिल्पकारों की दूसरी आदतें तथा गुण पैदा होने चाहिए। इस बात को सुनिश्चित बनाने के लिए यह जरूरी है कि बच्चे अपने शिल्प-सम्बन्धी काम के दौरान में जो चीजें तैयार करें उन्हें काफी सख्ती से जाँचा जाये और बहुत बड़े पैमाने पर इन चीजों को परखने की सबसे आसान कसौटी यह है कि वे बाजार में बेची जा सकें। जाकिर हुसेन समिति ने इस सुझाव के वित्तीय पहलू से बिलकुल अलग इस विचार पर विशेष जोर दिया है। जब तक हम इस बात पर जोर नहीं देंगे कि जो चीजें तैयार की जायें वे इतनी काफी अच्छी हों कि उन्हें बेचा जा सके—जाहिर है यह आशा तभी की जा सकती है जब बच्चे कुछ वर्ष तक काम सीख चुके हों—तब तक आधे मन से और ढीले-ढाले ढंग से काम करने की प्रवृत्ति के खिलाफ कोई रोक-थाम नहीं की जा सकेगी। तर्क दिया जाता है कि यह सुझाव स्कूलों को फैक्ट्रियों में परिवर्तन कर देगा और छोटे बच्चों से काम लेने की प्रथा को एक नये रूप में फिर जन्म देगा। जिन लोगों के मन में इस प्रकार की आशंका है वे यह नहीं समझ पाते कि एक अच्छे स्कूल और एक बुरी फैक्ट्री के बुनियादी दृष्टिकोण, काम करने के ढंग और वातावरण में कितना बड़ा अन्तर होता है। छोटे बच्चों से काम लेने के

खिलाफ जो वास्तविक आपत्ति उठायी जाती है उसका आधार इस बात पर है कि सरकार या बच्चे के माता-पिता या पूँजीपति बच्चे का शोषण करते हैं, बच्चों को अमानुषिक तथा गन्दी परिस्थितियों में फैक्ट्रियों में काम करने पर मजबूर किया जाता है और उनके काम की लाक्षणिक विशेषता यह होती है कि उनके काम का किसी उद्देश्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। बच्चे में स्वभावतः काम के प्रति अरुचि नहीं होती—वास्तव में उसकी क्रियाशील आत्मा हमेशा इसके लिए तड़पती रहती है और निष्प्रयोजन किताबी पढ़ाई के खिलाफ विद्रोह करती रहती है। यदि 'क्रियाप्रधान स्कूलों' में काम करने की परिस्थितियाँ स्वास्थ्यजनक तथा मानसिक स्फूर्ति प्रदान करनेवाली हों, यदि बच्चों की स्वाभाविक रुचियों को ध्यान में रखते हुए उनसे काम लिया जाये, यदि गांधीजी के कथनानुसार वे जिन कामों में संलग्न रहते हैं उनके 'कारण तथा हेतु' पर पूरी तरह विचार करके उन्हें स्पष्ट कर दिया जाये तो शारीरिक तथा कुशल कार्य 'सामान्य' अथवा 'उदार' शिक्षा का एक शक्तिशाली साधन बन जाता है।

इस बात का खतरा तो है ही कि अदूरदर्शी अध्यापक उनके काम के व्यावहारिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्यों के बीच उचित सन्तुलन स्थापित न कर सकें, लेकिन शिक्षा की क्या कभी ऐसी भी कोई योजना हो सकती है जिसे नासमझ अध्यापक विफल न कर दें? क्या वे शिक्षा के वर्तमान उद्देश्यों की व्याख्या भी इतनी ही नासमझी के साथ नहीं करते हैं और क्या वे शिक्षा की वर्तमान प्रणालियों को व्यवहार में इतनी ही नासमझी के साथ क्रियान्वित नहीं करते हैं! परन्तु यदि इस योजना के मर्म को सही ढंग से समझ लिया जाये तो उसमें कोई चीज ऐसी नहीं है जो बच्चों के स्वस्थ सर्वतोमुखी विकास के लिए अहितकर हो। मैं यह बात अनुमान के आधार पर नहीं कह रहा हूँ; मैंने बहुत-से बुनियादी शिक्षा के स्कूलों को काम करते देखा है और उनसे जो प्रमाण मिलते हैं उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ वर्ष पहले मुझे जम्मू तथा काश्मीर राज्य में बुनियादी शिक्षा की योजना का कार्य संगठित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दृष्टि से इस राज्य को भारत के बाकी सब हिस्सों की तुलना में बहुत बड़ी सुविधा यह प्राप्त थी कि यहाँ के निवासियों की, विशेषरूप से काश्मीरियों की, कलात्मक शिल्पों की परम्परा और इन शिल्पों में उनकी निपुणता अत्यन्त सराहनीय रही है। और उनकी सुन्दर कलाकृतियों को देखकर बाहर से आनेवाले सभी लोगों के मन में ईर्ष्या और प्रशंसा की भावनाएँ जाग्रत होती हैं। इसलिए वे प्राथमिक शिक्षा में शिल्पों को सम्मिलित करने को कोई ऐसी अनोखी बात नहीं समझते हैं जो उनकी समझ से बाहर हो। हमने नये स्कूलों के लिए जिन अध्यापकों क

प्रशिक्षित किया उनका रवैया अत्यन्त उत्साहवर्द्धक था और उनके इस रवैये की वजह से इस योजना के आधारभूत सिद्धान्तों की सार्थकता के प्रति मेरी आस्था बहुत दृढ़ हो गयी। मैंने सात वर्ष तक इस योजना के विकास को देखा और इस दौरान में बहुत-से बुनियादी शिक्षा के स्कूलों में गया और वहाँ मैंने जो कुछ देखा उसका संक्षिप्त विवरण अपने पास लिखता गया। आइये, मैं आपको बुनियादी शिक्षा के ऐसे ही एक स्कूल में ले चलूँ —यह अच्छे स्कूलों में से है— और यहाँ की गतिविधियों के बारे में मेरे जो अवलोकन हैं उनसे आपको भी अवगत कराऊँ। यह देखिये छोटे-छोटे होनहार बच्चों का एक समूह बाग के एक कोने में अपने अध्यापक को घेरे हुए दफ्ती के एक घर के अधूरे मॉडल का अध्ययन कर रहा है और अपने अध्यापक की सहायता से उसे पूरा कर रहा है। इस घर के निर्माण के बारे में बड़े उत्साह के साथ बातें की जा रही हैं—इस बातचीत में भाग लेने के लिए लड़के बहुत उत्सुक और अधीर हैं : कहाँ-कहाँ दरवाजों और खिड़कियों की जरूरत होगी, छत की शक्ल क्या होगी और मौसम की परिस्थितियों को देखते हुए वे कैसी होनी चाहिए, इस मॉडल और आस-पास के घरों में क्या अन्तर है और आस-पास जैसे घरों में लोग रहते हैं उनका उनके स्वास्थ्य पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है। एक बच्चा यह सुझाव रखता है कि इस घर में किसी परिवार को बसाया जाना चाहिए और शीघ्र ही बच्चे छोटी-छोटी टोलियों में बँट जाते हैं और दफ्ती काटकर माँ, बाप, भाइयों और बहनों इत्यादि की आकृतियाँ बनाने लगते हैं फिर इस बात पर बहस होने लगती है कि परिवार में माता, पिता और बच्चों की क्या भूमिका होती है, उनके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व क्या हैं, वे क्या काम करते हैं और अपना खाली समय किन कामों में बिताते हैं; सारांश यह कि वे ऐसी समस्याओं पर विचार करते हैं जो आगे चलकर नागरिक-शास्त्र तथा समाज-ज्ञान की समस्याएँ कही जाती हैं।··· बाग के दूसरे कोने में एक दूसरी टोली ने एक माडल बनाकर तैयार कर लिया है जिसमें बनिहाल दर्रा, काश्मीर रोड, बर्फ से ढके हुए पहाड़ और शाली (काश्मीरी धान) के खेतों के बीच से होकर बहती हुई झेलम नदी दिखायी गयी है—पहाड़ की चोटियों पर चूना फेरकर बर्फ दिखायी गई है और एक बाल्टी से गिरते हुए पानी द्वारा बर्फ का पिघलना और नदी का प्रवाह दिखाया गया है। वही उनके लिए काश्मीर का 'भूगोल' और उसके अतिरिक्त बहुत-सी दूसरी दिलचस्प बातें सीखने का आधार-केन्द्र है।···दो और लड़के स्कूल की सहकारी दूकान और स्कूल के बैंक का काम देखते हैं जिसकी 'इमारत'—जो लकड़ी का एक मामूली-सा सायबान है—बड़े लड़कों ने अपने हाथों से बनाई थी। ये

लड़के बारी-बारी से पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक यह काम सँभालते हैं और सारी बिक्री और लेन-देन का बाकायदा हिसाब रखते हैं। वे बड़े गर्व से आपको बतायेंगे कि उन्होंने अपने ग्राहकों को 'लूटे' बिना ही अपनी पूँजी से ज्यादा मुनाफा कमाया है। इस प्रकार 'बहीखाता रखना' उनके लिए एक ऐसी योजना बन जाती है जिसकी प्रेरणा उन्हें स्वाभाविक रूप से मिलती है और वे इस काम को स्वाभाविक परिस्थितियों में सीखते हैं। आप देखेंगे कि कुछ दूसरी टोलियाँ कताई या बुनाई का काम कर रही हैं या ज्यादा साफ-सुथरे गाँव की योजना तैयार कर रही हैं— यह उनके लिए व्यावहारिक नागरिकता की शिक्षा की शुरुआत है—या डिस्पेंसरी चला रही हैं—जहाँ अल्पवयस्क 'डाक्टर' बड़ी गम्भीरता से अपना काम करता है और अपने 'रोगियों' का बाकायदा लेखा-जोखा रखता है—या स्कूल की पत्रिका का सम्पादन कर रही हैं या अपनी-अपनी विशेष रुचियों के अनुसार कोई दूसरा काम कर रही हैं। एक सबसे दिलचस्प टोली उन छोटे-छोटे बच्चों की है जो 'भावप्रधान चित्रकला' में व्यस्त हैं; वर्ष-प्रतिवर्ष वे जो चित्र बनाते हैं उनका बाकायदा हिसाब रखा जाता है और इससे उनकी मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा उनके विकास के बारे में बड़ी रोचक बातों का पता चलता है। सारे स्कूल में काम की चहल-पहल है और बच्चे बड़ी लगन के साथ अपने-अपने काम में जुटे हुए हैं। उनका ध्यान स्कूल में आनेवाले अतिथियों की भीड़ से भंग नहीं होता। पहले यही बच्चे अतिथियों के सामने कुछ घबरा-से जाते थे और उन्हें हर समय यही ध्यान रहता था कि कोई उन्हें देख रहा है।

ध्यान रहे कि यह एक अच्छे स्कूल की मोटी-मोटी रूपरेखा है। अन्य स्कूलों की तरह—बल्कि कहना चहिए संसार की सभी दूसरी चीजों की तरह!— बुनियादी शिक्षा के स्कूल भी अच्छे या बुरे या न बहुत अच्छे न बहुत बुरे होते हैं। अन्तिम विश्लेषण में स्कूल की पढ़ाई का वास्तविक स्तर, उसका अनुशासन, और उसका सामाजिक तथा नैतिक वातावरण अध्यापक के व्यक्तित्व, उसकी समझदारी और ईमानदारी से निर्धारित होता है। परन्तु अनुभव से पता चलता है कि कुल मिलाकर देखा जाये तो बुनियादी शिक्षा के स्कूलों के बच्चे अन्य स्कूलों के बच्चों की तुलना में अधिक चुस्त तथा फुर्तीले, अधिक सामाजिक चेतना रखनेवाले और अधिक जिम्मेदार होते हैं।

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के कहने पर मैंने जम्मू तथा काश्मीर राज्य में बुनियादी शिक्षा का एक पंचवर्षीय सर्वेक्षण किया और बुनियादी स्कूलों के सौ से अधिक अध्यापकों तथा निरीक्षकों के पास से आयी हुई रिपोर्टों के आधार पर हमने कुछ निष्कर्ष निकाले जिसके निम्नलिखित उद्धरणों में पाठकों को कुछ

दिलचस्पी होगी :

"साधारण स्कूलों के छात्रों की तुलना में उन बच्चों ने, जिन्हें इस योजना के अन्तर्गत शिक्षा दी गयी है, कहीं अधिक मानसिक सजगता और शैक्षणिक जागरूकता का परिचय दिया है। आत्माभिव्यक्ति की क्षमता और गणित के मामले में ये विद्यार्थी साधारण स्कूलों के विद्यार्थियों की तुलना में बेहतर साबित हुए हैं। शिल्प-कार्य ने, जिसे संकुचित अर्थ में किसी भी प्रकार का शारीरिक काम नहीं मान लिया गया है, उनमें इतनी दिलचस्पी पैदा की है और इतनी दिलचस्पी बनाये रखी है जितनी शुद्धतः किताबी शिक्षा के वातावरण में कभी भी सम्भव नहीं होती।

"...अपने वातावरण के प्रति उनमें जो भावनाएँ पैदा होती हैं वे कुल मिलाकर पहले से अधिक समृद्ध तथा भरपूर हैं। वे फूलों और पालतू जानवरों से ज्यादा खुशी प्राप्त करते हैं और अपने चारों ओर की चीजों तथा लोगों के बारे में यह जानने की जिज्ञासा तथा उत्सुकता उनमें अधिक होती है कि वे कहाँ से आये, ये चीजें कैसी हैं और ऐसी क्यों हैं। वे टोलियाँ बनाकर खेलना या कोई प्रयोजनात्मक कार्य करना पसन्द करते हैं और अपनी कक्षा के कमरे को सजाने तथा अपने स्कूल के संग्रहालय के लिए चीजें जमा करने में गहरी दिलचस्पी दिखाते हैं। बुनियादी शिक्षा के बहुत-से स्कूलों ने खुद पहल करके अपने यहाँ छोटे-छोटे बाग लगाये हैं।

"अपनी कक्षा की सफाई की जिम्मेदारी मुख्यतः बच्चों पर है और हर सप्ताह के अन्त में वे अपनी कक्षाओं से मेज-कुर्सियाँ हटाकर कमरे का फर्श और दीवारें साफ करते हैं। वे झाड़ू और टोकरा लेकर सफाई करने में गर्व अनुभव करने लगे हैं और वे हर ग्राम-सुधार दिवस पर बड़ी खुशी से शारीरिक श्रम में भाग लेते हैं। जन-साधारण ने उनकी इस बात को बहुत सराहा है।

परन्तु इस योजना को पूर्ण तथा अनुल्लंघनीय समझने की प्रवृत्ति के खिलाफ, जो कुछ क्षेत्रों में पायी जाती है, चेतावनी देना आवश्यक है। मैंने अब से बहुत पहले १९३९ में, जब मुझे पूना में बुनियादी शिक्षा के प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन के सभापतित्व का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, यह चेतावनी दी थी और उस अवसर पर मैंने प्रतिनिधियों से जो कुछ कहा था उसे यहाँ पर मैं उद्धृत करना चाहूँगा :

"इस प्रकार की नयी योजना के सम्बन्ध में, जिसमें हर काम नये सिरे से शुरू करना पड़ता है और सफलता प्राप्त करने के लिए निरन्तर सतर्क

रहकर नये-नये प्रयोग करते रहना आवश्यक होता है, स्वतन्त्र तथा उन्मुक्त विचार-विनिमय के महत्त्व को जितना अधिक आँका जाये कम है। हमारे साथियों ने देश के दूसरे हिस्सों में जो कुछ किया है उससे हमें लाभ उठाना है; हमें स्वयं अपना अनुभव सबके अनुभव के सम्मिलित भण्डार में मिलाना है। हमें इस खतरे से विशेष रूप से बचना है कि कहीं यह योजना एक ऐसी रूढ़िबद्ध धारणा बनकर न रह जाये जिसकी किसी भी बात की आलोचना न की जा सके या जिसमें कोई परिवर्तन न किया जा सके। इस बात का खतरा हर समय मौजूद रहता है। अपने उद्देश्यों तथा बुनियादी बातों को स्पष्ट रूप से समझते हुए और उनके बारे में दृढ़ विश्वास रखते हुए हमें हर समय अपने बीच के लोगों के, और बाहर के लोगों के भी, सुझावों तथा उनकी आलोचनाओं को सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए, कारण यह कि कोई भी निष्ठा और कोई भी आस्था उस निष्ठा और आस्था से बढ़कर नहीं हो सकती जो हमें सत्य के प्रति और खोज की भावना के प्रति—जो सत्य का ही एक अभिन्न अंग है—रखनी चाहिए। हमें इस योजना की प्रणालियों, उसके पाठ्यक्रमों, उसके मानदण्डों और उसमें निहित वास्तविक शैक्षणिक तथा आर्थिक तत्त्वों की सख्ती से छानबीन करते रहना चाहिए और यदि विवेकपूर्ण अनुभव के फलस्वरूप किसी सुधार की आवश्यकता हो तो हमें उन सुधारों के लिए सहर्ष तैयार रहना चाहिए। मैं आशा करता हूँ और मेरा विश्वास है कि यह सम्मेलन परिस्थिति का मूल्यांकन करने का अपना काम व्यापक तथा उन्मुक्त छानबीन की इसी भावना को लेकर करेगा।"

यह योजना अपना ध्यान केवल पाठ्यचर्या और अध्यापन-प्रणालियों में संशोधन करनेपर ही केन्द्रित नहीं करती, यद्यपि इनका महत्त्व बहुत अधिक है; वह इससे कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण इस समस्या की ओर भी इतना ही अधिक ध्यान देती है कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयास किये जायें उनके पीछे किन विचारों की प्रेरणा हो। इस योजना में एक ऐसे समाज की कल्पना की गयी है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज का उत्पादनशील सदस्य होगा और सहकारी प्रयास द्वारा वह सामाजिक हित के लिए जो भी लाक्षणिक योग दे सकेगा उस पर उसे गर्व होगा। उसमें संस्कृति की कल्पना इस रूप में की गयी है कि यह संस्कृति सीखने और काम करने के बीच ज्ञान और क्रियाशीलता के बीच पाये जानेवाले परम्परागत विरोध को स्वीकार नहीं करेगी। यह योजना उस खाई को पाटने की कोशिश करती है जो वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने शिक्षित तथा अशिक्षित लोगों के

बीच पैदा कर दी है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने शिक्षित लोगों की संस्कृति को सतही और निष्प्राण बना दिया है और धरती में उसकी कोई प्राकृतिक जड़ें बाकी नहीं रहने दी हैं, दूसरी ओर उसने अशिक्षित लोगों को अज्ञान के अन्धकार और अन्धविश्वासों की दासता में डाल रखा है। सहकारिकता को प्रतिस्पर्द्धा की अपेक्षा, सेवा के आदर्श को स्वार्थपूर्ण शोषण की इच्छा की अपेक्षा, अहिंसा को हिंसा की अपेक्षा उच्चतर स्थान देना इस योजना का लक्ष्य है। वह 'सृजनात्मक' सुख को—जो अपनी इच्छा से किसी उपयोगी काम का बीड़ा उठाकर उसे सफलतापूर्वक पूरा करने से प्राप्त होता है—उस 'आधिपत्यकारी'-सुख से बढ़कर स्थान देता है जो किसी व्यक्ति के इस प्रयत्न के फलस्वरूप प्राप्त होता है कि वह ज्यादा-से-ज्यादा सांसारिक सम्पदा बटोर ले।[१] सबसे बड़ी बात यह है कि यह योजना के पीछे इस आशा की प्रेरणा है कि सभी बच्चों को शिल्प-कार्य के माध्यम से सहकारी ढंग से शिक्षा देकर और इस प्रकार उन्हें जन-साधारण के जीवन तथा श्रम का अनुभव करने का अवसर देकर वह लोक-हित की सेवा के लिए न केवल उनकी कुछ सबसे उपयोगी शक्तियों को उन्मुक्त करेगी बल्कि उनकी मानव-प्रेम की भावना को गहरा बनायेगी, इस भावना को कि सारे संसार के मनुष्य उनके भाई हैं। इस योजना के आदर्श का सारांश मैं जाकिर हुसेन समिति की रिपोर्ट के शब्दों में ही प्रस्तुत करना चाहता हूँ—

> "हम इस बात के लिए उत्सुक हैं कि जो अध्यापक और शिक्षा-शास्त्री इस नये शैक्षणिक प्रयास के क्षेत्र में प्रवेश करें वे उसमें सन्निहित नागरिकता के आदर्श को स्पष्ट रूप से समझ लें। आधुनिक भारत में नागरिकता देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अधिकाधिक लोकतांत्रिक होती जायेगी। नयी पीढ़ी को कम-से-कम इस बात का अवसर तो मिलना चाहिए कि वह स्वयं अपनी समस्याओं तथा अपने अधिकारों और दायित्वों को समझ सके। नागरिकता के अधिकारों तथा दायित्वों को समझदारी के साथ निभाने के लिए नितान्त आवश्यक शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए एक बिलकुल नयी पद्धति की आवश्यकता है। दूसरे, आधुनिक युग में समझदार नागरिक को समाज का एक सक्रिय सदस्य होना चाहिए, जो एक संगठित तथा सभ्य समुदाय का सदस्य होने के नाते अपने ऋण को किसी उपयोगी सेवा के रूप में उतार सके। ऐसी शिक्षा-पद्धति जो ऐसे लोगों को पैदा करती हो जो समाज के कन्धों पर बोझ बने रहें और दूसरों के बिरते पर अपना जीवन व्यतीत करें—वे चाहे अमीर हों या गरीब—वह सर्वथा

१. मैं सुख की इन दो धारणाओं पर पाँचवें तथा छठें अध्यायों में विचार कर चुका हूँ।

निन्दनीय है। वह न केवल समाज की उत्पादक-शक्ति तथा कार्य-क्षमता का हनन करती है बल्कि एक खतरनाक और अनैतिक मनोवृत्ति को भी जन्म देती है। इस योजना का उद्देश्य काम करनेवाले पैदा करना है, जो हर प्रकार के उपयोगी कार्य को—जिसमें शारीरिक श्रम भी शामिल है, भंगी का काम तक शामिल है—सम्मान की बात समझें और जिनमें अपने पैरों पर खड़े होने की तत्परता ही नहीं बल्कि क्षमता भी हो।

"स्कूल में किये जानेवाले काम और समाज के काम के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाने से बच्चे स्कूल के वातावरण में प्राप्त किये गये दृष्टिकोण तथा रवैयों को बाहर के अधिक व्यापक संसार में भी अपने साथ ले जा सकेंगे। इस प्रकार हम जिस नयी योजना का प्रचार कर रहे हैं वह भावी नागरिकों में अपना मूल्य समझने और आत्म-प्रतिष्ठा तथा कार्य-कुशलता की प्रबल भावनाओं को जन्म देगी और उनमें अपने आपको सुधारने तथा समाज की सेवा करने की इच्छा को बल प्रदान करेगी।

"सारांश यह कि यह योजना अपने सामने सहकारी समाज का आदर्श रखती है, जिसमें बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के वर्षों में, जब बच्चे कोई भी प्रभाव बड़ी आसानी से ग्रहण कर लेते हैं, उनकी समस्त क्रियाओं पर समाज-सेवा के लक्ष्य का प्रभुत्व रहता है। स्कूल की शिक्षा के दौरान में भी वे यह अनुभव करेंगे कि वे प्रत्यक्ष तथा वैयक्तिक रूप से राष्ट्रीय शिक्षा के महान् प्रयोग में अपना सहयोग दे रहे हैं।"

१०

कार्य द्वारा माध्यमिक शिक्षा में नयी शक्ति का संचार

शिक्षा-सम्बन्धी अधिकांश समस्याओं को हल करने के दो तरीके हो सकते हैं—एक तो औपचारिक, पिटा-पिटाया और भीरुतापूर्ण तरीका जो एक बँधी हुई लीक का अनुसरण करता है और दूसरा साहस तथा कल्पना का तरीका जो नये पथ प्रशस्त करने से डरता नहीं। जब तक शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले कुछ कार्य-कर्ताओं और कुछ शिक्षा-संस्थाओं में बादवाला तरीका अपनाने की दूरदर्शिता न पैदा हो तब तक कोई सच्ची प्रगति नहीं हो सकती। मैं इस बात को मानने को तैयार हूँ कि सब स्कूल न तो यह बादवाला तरीका अपना सकते हैं और न ही उनके पास इसके लिए आवश्यक सामग्री तथा लोग हैं। परन्तु जब तक इन तमाम स्कूलों में बीच-बीचमें कुछ ऐसे स्कूल नहीं होंगे जो ऐसा करने को तैयार हों तब तक हम आगे की दिशा में ले जाने-वाले किसी शैक्षणिक आन्दोलन की आशा नहीं कर सकते।

मेरे मन में ये विचार एक किताब से पैदा हुए जो मैं हाल ही में पढ़ रहा था। यह डब्ल्यू० एल० गुडमैन नामक अंग्रेज द्वारा लिखित और रूटलेज ऐंड कीगन पाल द्वारा प्रकाशित रूसी शिक्षक मकारेंको की जीवनी है। मकारेंको आम किस्म के स्कूलों में साधारण बच्चों को पढ़ाने का काम नहीं करते थे। रूसी क्रान्ति के बाद कुछ वर्ष तक सारा देश अकाल और अव्यवस्था में ग्रस्त रहा और वहाँ की समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। इस काल में कुछ बच्चे बिगड़ गये और उन्होंने लूटमार और आवारागर्दी का रास्ता अपना लिया क्योंकि उनकी देखभाल करनेवाला कोई न था। इन्हीं बच्चों को सुधार कर अच्छे नागरिक बनाना और किसी उपयोगी काम में लगाना मकारेंको का काम था। उन्होंने स्वशासन, व्यावहारिक कार्य और एक वास्तविक स्थिति की चुनौती के आधार पर उनके लिए एक नये प्रकार की बस्तियों की स्थापना की, जिनमें सबसे प्रख्यात "गोर्की कालोनी" थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि

"जब कोई समस्या सामने हो, जब किसी पर उसे हल करने की जिम्मेदारी हो और जब पूरे समाज के सामने कोई तकाजा हो तभी आदमी पहलकदमी का सबूत देता है।" और मकारेंको ने एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया जिसमें इन पथभ्रष्ट नवयुवकों के सामने पहलकदमी का सबूत देने का सवाल तात्कालिक रूप से पैदा हो गया। इस किताब के आवरण-पृष्ठ पर दिए हुए पुस्तक-परिचय के निम्नलिखित उद्धरण से हमें मकारेंको के काम का बहुत अच्छा परिचय मिल जाता है।

> "रूसी क्रान्ति के बाद जो अव्यवस्था फैली रही उसमें कुछ लावारिस बच्चों के गरोह रूस के शहरों तथा देहातों में लुटेरों तथा डाकुओं का जीवन व्यतीत करने लगे थे। सरकार का एक सबसे पहला काम यह था कि इन बच्चों को इस गलत रास्ते से हटाया जाये और उन्हें शिक्षा देकर जिम्मेदार नागरिक बनाया जाये। उस समय की परिस्थितियों में यह बहुत विशाल कार्य था; अध्यापकों, इमारतों और सामग्री का अभाव था; फिर भी इस समस्या को अन्त में चलकर शानदार सफलता के साथ हल कर लिया गया।
>
> "इस काम का बीड़ा उठानेवालों में सबसे प्रमुख नाम आंतोन सिमियोनोविच मकारेंको का है। उन्होंने अपने चारों ओर की अभावग्रस्त परिस्थितियों पर, अपने छात्रों के अज्ञान तथा उनकी गुण्डागर्दी पर और अपने अफसरों के निरन्तर विरोध पर, जो शायद सबसे कठिन समस्या थी, काबू पा लिया। उनके जीवन तथा उनकी सफलता की कहानी न केवल शिक्षा-प्रणालियों का एक रोचक अध्ययन है बल्कि साथ ही एक सचमुच सराहनीय व्यक्तित्व का रोचक विवरण भी है।"

इधर कई दशाब्दियों से यह आधुनिक शिक्षा का एक सर्वस्वीकृत सिद्धान्त रहा है कि व्यावहारिक तथा रचनात्मक कार्य के प्रति बच्चों और नवयुवकों में बहुत प्रबल आकर्षण होता है। परन्तु केवल भारत में ही नहीं बल्कि अधिकांश अन्य देशों में भी—हमने इस क्रान्तिकारी सत्य का बहुत ही संकोच के साथ लाभ उठाया है और इस काम में साहस का जरा भी परिचय नहीं दिया है। बच्चों को ऐसे शिल्प-कार्य तथा अन्य प्रकार के रचनात्मक कार्य करने का अवसर प्रदान करने के बजाय, जिनसे उनकी क्षमताओं का पूरी तरह विकास हो सके, अध्यापकों ने आम तौर पर शिल्प-कार्य की शिक्षा बहुत ही छोटे पैमाने पर लागू करके सन्तोष कर लिया है जिससे बच्चों को कोई प्रेरणा नहीं मिलती और जिसका परिणाम यही हुआ है कि वह उनके पाठ्यक्रम के अन्य विषयों जैसा ही एक नीरस विषय बनकर रह गया है। जहाँ जगह और साधनों की कमी की वजह से

इस तरह का रवैया अपनाया जाता है वहाँ तो यह बात समझ में आती है और क्षम्य भी है, परन्तु जहाँ पर यह तरीका जान-बूझकर और यह मानकर अपनाया जाता है कि यही शिक्षा की एकमात्र सम्मानजनक विधि है, वहाँ यह शिक्षा के बारे में एक विकृत तथा संकुचित दृष्टिकोण का सूचक होता है। बुनियादी शिक्षा के हमारे स्कूलों में भी बहुधा यही रवैया रहा है—थोड़ी-सी कताई या बुनाई करा ली या कागज और दफ्ती की कुछ चीजें बनवा लीं या (जहाँ परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं) वहाँ छोटी-छोटी सुथरी क्यारियों में कुछ बागवानी करवा ली और हर क्यारी की देख-भाल बच्चों की एक टोली के सिपुर्द कर दी। हो सकता है कि यह बच्चों को कताई या बुनाई या बागवानी सिखाने का काफी अच्छा तरीका हो—हालाँकि मुझे इसमें सन्देह है—परन्तु जब तक इन शिल्प-कार्यों का सम्बन्ध किसी अधिक व्यापक सामाजिक उद्देश्य के साथ नहीं जोड़ा जायेगा और जब तक बच्चे इन्हें किसी प्रेरणाप्रद लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन नहीं समझने लगेंगे तब तक ये शिल्प-कार्य सही माने में शिक्षाप्रद नहीं सिद्ध होंगे। मैं समझता हूँ कि हमारे बहुत-से दकियानूस तथा विशेषज्ञ शिक्षा-शास्त्रियों की अपेक्षा इस मामले में गांधीजी ने अधिक दूरदर्शिता का परिचय दिया था और अपनी सहज बुद्धि के आधारपर उन्होंने जो कुछ कहा था वह सही था; बाद में तो इन शिक्षा-शास्त्रियों ने भी शिक्षा के बारे में गांधीजी के विचारों को व्यवहार में पूरा करने की कोशिश की है। गांधीजी ने परम्परा से हटकर यह विचार प्रस्तुत किया था कि खाने और कपड़े के मामले में बुनियादी स्कूल स्वावलम्बी हों। अपना भोजन स्वयं पैदा करने या अपना कपड़ा स्वयं बुनने या अपनी झोपड़ियाँ स्वयं बनाने या स्वयं अपने हाथों से ऐसे ही कई दूसरे काम करने के विचार में किशोरवयस्क बालकों के लिए एक चुनौती निहित है जो उनके उत्साह को जागृत करती है। सिर्फ तकली कातने या चर्खा चलाने या थोड़ी-सी सब्जी या फूल उगा लेने में इस तरह की कोई चुनौती नहीं है। मुझे स्वयं इस बात का अनुभव है कि जब विद्यार्थी किसी ऐसी कठिन निर्माण-योजना को पूरा करने में संलग्न होते हैं, जिसके उद्देश्य को वे पूरी तरह समझते हों, तो उनका पूरा रवैया और व्यक्तित्व किस तरह बदल जाता है। कुलगाम (काश्मीर) के एक 'मिडिल' स्कूल के छात्रों ने अपने लिए वर्दियाँ तैयार करने की विशाल योजना को पूरा करने का बीड़ा उठाया। वे गरीब थे और उनके पास साधनों का अभाव था। परन्तु इस विचार ने उनमें अपार उत्साह भर दिया था और समस्त बाधाओं को दूर करके उन्होंने अपने स्कूल के खेत में कपास उगायी, सूत काता, कपड़ा बुना, उसे रँगा और अपनी माँओं और बहनों की सहायता

से उन्होंने अपनी वर्दियाँ तैयार करा लीं—नेकर और कमीजें। और जब यह योजना पूरी हो गयी और वे स्वयं अपने श्रम से तैयार की हुई वर्दियाँ पहनने लगे तो वे गर्व से फूले न समाते थे। एक दूसरे स्कूल में—पानीपत के हाली स्कूल में[१]—मैंने देखा कि विद्यार्थी (मैं भी उनमें से एक था!) स्कूल की नयी इमारत का निर्माण करने में मजदूरों और राज-मिस्त्रियों के साथ काम करते थे—ईंटें ढोते थे, गारा बनाते थे, नल से पानी निकालते थे, जमीन खोदते थे और पेड़ लगाते थे। विद्यार्थियों की उस पीढ़ी के मन में तो कम-से-कम यह उत्साहवर्द्धक भावना थी ही कि "यह हमारा स्कूल है। इसे हमने स्वयं अपने हाथों की मेहनत से बनाया है, उसे बनाने में कम-से-कम कुछ हद तक तो हमारा हाथ है ही।"

परन्तु हम मकारेंको की बात कर रहे थे। उन्होंने लगभग २० बिगड़े हुए आवारा लड़कों की पहली टोली को अपनी निगरानी में ले लिया; यही लड़के उनकी पहली बस्ती का आधार बने। मकारेंको ने उनके लिए न बाकायदा कोई कक्षाएँ खोलीं न उन्हें 'पढ़ाने' की कोशिश की, बल्कि एक ऐसे 'समाज' की स्थापना की जहाँ उन्हें काम करना पड़ता था और जहाँ वे साथ मिलकर रहना सीखते थे। इस योजना की प्राथमिक अवस्था का उल्लेख करते हुए उपरोक्त पुस्तक का लेखक कहता है :

> "पहली सर्दियों में लड़कों का मुख्य काम यह रहा कि लगातार जो नये शिष्य आते जा रहे थे उनके लिए इमारतों की मरम्मत करके उन्हें रहने लायक बना दें और आगे चलकर खेतों में इस्तेमाल करने लिए औजार तैयार करें! एक पुराने गोदाम से कुछ टूटी-फूटी लकड़ी की बेंचें जुटायी गयीं, कुछ औजार लाये गये; इनकी मदद से वहाँ एक बढ़ईखाना, एक लोहारखाना और पहियों पर हाल चढ़ाने का एक कारखाना खोला गया और स्थानीय बढ़इयों तथा एक लोहार को इनमें काम सिखाने के लिए रखा गया। यहाँ पर सबसे पहले जो चीजें बनायी गयीं उनमें एक काम-चलाऊ हल भी था जिसकी सहायता से अप्रैल में कालिना इवानिच ने खेत जोतना शुरू किया और बाद में कुछ एकड़ भूमि पर जई बोयी।"

जिन सृजनात्मक विचारों ने इस बस्ती को जन्म दिया था उनकी बदौलत और स्वयं अपने अस्तित्व को बनाये रखनेके लिए यह बस्ती लगातार बढ़ती ही गयी, यहाँ तक कि दो वर्ष बाद उसमें १२० लड़के काम सीखने लगे। उस समय तक यहाँ का फार्म इतनी उन्नति कर चुका था कि वहाँ सोलह गायें,

१. इसका विस्तृत विवरण पृष्ठ—६० पर देखिये।

लगभग पचास सुअर, आठ घोड़े, पुरानी बस्ती में एक बहुत बड़ा सब्जियों का बागीचा और नयी बस्ती में फलों के कई बाग हो गये थे। कुल मिलाकर लगभग १५० एकड़ भूमि पर खेती होने लगी थी, जिसके काफी बड़े हिस्से पर खाद्यान्नों की फसलें बोयी जाती थीं।"

१९२३ में मकारेंको और उनकी बस्ती में रहनेवाले लड़कों को बहुत बड़ा इलाका दिखाई दिया जो खाली पड़ा था और जिसकी बहुत समय से कोई देखभाल नहीं की गयी थी; वहाँ कुछ टूटी-फूटी इमारतें भी थीं। इन्होंने सरकार से यह सारी भूमि और इमारतें हासिल कर लीं। लगभग दो वर्ष तक वे इनकी मरम्मत करने तथा इन्हें सुधारने का काम करते रहे और उन्होंने इसे "नैतिक रूप से विकृत" लोगों की सामाजिक पुनर्शिक्षा का एक आदर्श केन्द्र बना दिया। इस सिलसिले में भी उन्हें बहुत बड़े पैमाने का काम करना पड़ा जिसमें उन्हें अपनी शक्तियों का पूर्णतम उपयोग करने का अवसर मिला। परन्तु चूँकि यह काम रुचिकर था इसलिए वे कमर कसकर इस काम को पूरा करने में जुट गये और १९२५ तक "फार्म की सूरत इतनी बदल गयी कि उसे पहचानना भी मुश्किल हो गया। खेतों में पैदावार इतनी होने लगी कि उन्हें साल भर के लिए काफी अनाज, सब्जियाँ और पशुओं के लिए चारा मिलने लगा। उन्होंने एक बहुत बड़ा बाग भी लगाया और कई नर्सरियाँ बनायीं। कोलोमाक नदी के किनारे की ढलान पर उनके फलों के कई बाग भी थे। इनके अलावा वे एक पनचक्की भी चलाते थे जहाँ इस बस्ती के लिए और आस-पास के गावों के लिए आटा पीसा जाता था। वहाँ एक लोहारखाना भी था जहाँ वे अपने खेती-बारी के औजारों की मरम्मत करते थे और बाहर के गाहकों का भी काम करते थे। जूते बनाने के छोटे-छोटे कारखाने और एक बढ़ईखाना भी खोल लिया गया। लड़कियाँ कपड़े धोने के अलावा कपड़े सिलने की दूकान भी चलाती थीं।"

१९२७ तक यहाँ का कार्य-क्षेत्र और भी व्यापक हो गया और यहाँ के विद्यार्थियों ने अपने लिए जिन शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक सुविधाओं का निर्माण किया था उनका महत्त्व यहाँ के सामाजिक जीवन में बढ़ता गया। "मोची और बढ़ई की दूकानें चलाने के अलावा उन्होंने इमारती लकड़ी का काम भी शुरू किया जहाँ कच्ची लकड़ी सुखाने का पूरा प्रबन्ध था और तख्ते चीरने के आरे, लकड़ी पर रन्दा करने और वांछित आकार की शहतीरें आदि तैयार करने की मशीनें लगी हुई थीं। यहाँ के लड़कों ने लकड़ी में चूल बनाने की एक मशीन स्वयं तैयार की थी। बढ़ईखाने में उन्होंने किसानों के हाथ बेचने के

लिए और सरकार के आर्डर पर मधुमक्खियाँ पालने के बक्से तैयार किये जिनमें छत्तों के लिए सभी आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध था। यहाँ के स्कूल में बढ़ते-बढ़ते छः कक्षाएँ हो गयीं, जिसका मतलब यह हुआ कि चौदह वर्ष की आयु तक बच्चों की पूरी पढ़ाई का प्रबन्ध हो गया। सन्ध्या के समय क्लब-घर में तरह-तरह के मनोरंजनों तथा रुचिपूर्ण कार्यों की व्यवस्था भी की गयी, जैसे हवाई जहाज के माडल बनाना, मूर्तिकला, समूह-गान, मूक-नाटक और आतिश-बाजी इत्यादि। पुस्तकालय बढ़ते-बढ़ते इतना बड़ा हो गया कि उनके पास पुस्तकें रखने के लिए अल्मारियाँ कम पड़ गयीं और पाठकों के बैठने के लिए काफी जगह नहीं रह गयी। अन्त में चलकर उन्होंने अपनी एक बैण्ड बजाने-वालों की टोली भी संगठित की। पुराने गिरजाघर में सिनेमा खोला गया और वहाँ इतनी बड़ी संख्या में उपासक आने लगे जितने इससे पहले कभी नहीं आये थे; वास्तव में वह चारों ओर कई मील तक फैले हुए इलाकों के लिए एक सामाजिक केन्द्र बन गया।"

'कार्य के माध्यम से शिक्षा' के इस विचार की चरम अवस्था कुछ वर्ष बाद आयी जब इस बस्ती में बिजली के बरमे और कैमरे बनाकर बाजार में बेचने के लिए दो कारखानों की स्थापना की गयी। कुछ ही वर्षों के भीतर ये बस्तीवाले कहाँ से कहाँ पहुँच गये थे।

परन्तु मेरा उद्देश्य इस बस्ती के पूरे विकासका चित्रण करना नहीं है; मैं तो केवल इस बात का पता लगाना चाहता हूँ कि सामान्य शिक्षा की दृष्टि से इस प्रयोग का क्या महत्त्व हो सकता है। मुझे ऐसा लगता है कि जीवन की स्फूर्ति तथा उल्लास के साथ शिक्षा का प्रसार करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने बच्चों को ऐसा वास्तविक कार्य करने के विपुल अवसर प्रदान करें जिससे वे शिक्षित हो सकें, अर्थात् उनकी निहित शक्तियों को 'बाहर लाया जा सके'। अपनी 'एजुकेशन थ्रू आर्ट' नामक पुस्तक में हर्बर्ट रीड ने पाठ्यचर्या के बारे में बहुत ही बहुमूल्य बात कही है जो यहाँ उद्धृत करने योग्य है :

> "पाठ्यचर्या की कल्पना विषयों के समूह के रूप में नहीं की जानी चाहिए। प्राथमिक अवस्था की तरह ही माध्यमिक अवस्था में भी उसे सृजनात्मक क्रियाकलाप का ही क्षेत्र होना चाहिए, जिसमें पढ़ाई का स्थान प्रासंगिक ही हो, अर्थात् वह इस क्रियाकलाप के उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र हो। यदि हम बहुत छोटे बच्चों के सम्बन्ध में इस प्रकार के क्रियाकलाप को क्रीड़ात्मक क्रियाकलाप और प्राथमिक शिक्षा की अवस्था में प्रायोजनाएँ

कहें तो माध्यमिक अवस्था में चलकर वह रचनात्मक कार्यों का अंग बन जाता है।"

यह आशंका सर्वथा निराधार है कि इस अर्थ में व्यावहारिक कार्य की पद्धति लागू करना अधिक व्यापक शैक्षणिक ध्येयों के विरुद्ध होगा या उसका परिणाम यह होगा कि बच्चों से बेगार ली जायेगी। आपत्तिजनक बात यह नहीं है कि बच्चे उत्पादनशील कार्य करें—शिक्षाप्रद होनेकी दृष्टि से इसका महत्त्व तो बहुत अधिक है; आपत्तिजनक बात यह है कि दूसरे लोग वाणिज्यिक उद्देश्यों से उनका शोषण करें। यदि शिक्षा-शास्त्री तथा शिक्षा-अधिकारी इस बात का आश्वासन कर सकें कि वे ऐसा नहीं होने देंगे तो काम को शिक्षण-प्रक्रिया के ताने-बाने का एक अभिन्न अंग बनाया जा सकता है। बर्नार्ड शा ने अपनी असाधारण अन्तर्दृष्टि का परिचय देते हुए अपनी विशिष्ट सशक्त शैली में 'मिसऐलाएंस' नामक रचना की भूमिका में यही मत व्यक्त किया है और हमारे शिक्षा-शास्त्रियों के लिए उनकी इस बात पर ध्यान देना उपयोगी होगा :

> "बच्चे को किसी भी हालत में स्वयं अपने भविष्य की बलि देकर किसी के वाणिज्यिक लाभ के लिए या अपने माता-पिता का पेट पालने के लिए काम नहीं करने दिया जाना चाहिए; पर इस बात का कोई कारण नहीं है कि बच्चा स्वयं अपने हित के लिए और समाज के हित के लिए भी कोई काम न करे, बशर्ते कि यह साबित किया जा सके कि उस काम से स्वयं उसे और समाज दोनों ही को लाभ होगा। लड़कों से उत्पादनशील कार्य करवाने में यह लाभ होता है कि इस काम का अनुशासन अवैयक्तिक आवश्यकता का अनुशासन होता है। हमारे औद्योगिक क्षेत्रों के बच्चों की स्कूल से भागकर किसी फैक्ट्री में काम करने की उत्सुकता का कारण यह नहीं होता कि उन्हें फैक्ट्री में हल्का काम करना पड़ता है या कम घण्टे काम करना पड़ता है; वे केवल मजदूरी पाने की लालच या एक नये अनुभव की खोज में भी वहाँ नहीं जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि बड़े लोगों की तरह काम करने से उन्हें प्रतिष्ठा मिलती है। वे देखते हैं कि स्कूल का निरंकुश अध्यापक जब चाहे उन्हें मार सकता है पर बड़े लोगों को इस बात का कोई खतरा नहीं होता और इसीलिए वे उस अपमान के बदले मनुष्य-मात्र की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उस भार को स्वीकार कर लेते हैं जो कष्टप्रद तो होता है पर उसे वहन करने से उन्हें एक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।"

यह आशा करना तर्कसंगत न होगा कि हमारे बहुत-से प्राथमिक अथवा

माध्यमिक स्कूलों का दृष्टिकोण इतना साहसपूर्ण होगा या उनके पास इतने काफी साधन होंगे कि वे अपनी शिक्षा-प्रणाली को इस आधार पर पुनर्गठित कर सकें। पर क्या यह आशा करना भी अनुचित है कि उनमें से कुछ अपनी सीमित क्षमताओं के क्षेत्र में रहकर भी इस प्रकार के रचनात्मक तथा व्यावहारिक क्रियाकलाप की सहायता से अपनी शिक्षा-प्रणाली में नया प्राण भर दें और उनमें से कई इस प्रकार की कम-से-कम एक आयोजना को पूरा करने की कोशिश करके देखें कि पूरे स्कूल के कार्य तथा वातावरण पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है ? क्रान्तिकारी परिवर्तन बहुधा बहुत छोटी-छोटी चीजों के रूप में आरम्भ होते हैं और यह सम्भव है कि इस प्रकार का कार्य, जो अबसे पहले नहीं किया गया है, हमारी माध्यमिक शिक्षा के घिसे-पिटे ढर्रे को बदलकर उसे एक नये साँचे में ढालने का पथ प्रशस्त कर सके। हमारे माध्यमिक स्कूलों के पुनर्गठन के लिए जो योजना प्रस्तावित की गयी है वह वास्तव में एक ऐसा सुविधाजनक क्षेत्र प्रदान करती है जिसमें इस प्रकार के प्रयोग किये जा सकते हैं। गोर्की कालोनी के इस प्रयोग में उन सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को बहुत-से बहुमूल्य नये विचार मिल सकते हैं जिन पर बाल-भवन, अनाथालय आदि संस्थाएँ संगठित करने की जिम्मेदारी होती है। हमारे देश में ये संस्थाएँ अभी तक अपने अभागे निवासियों में नयी स्फूर्ति तथा नवजीवन का संचार करनेवाली शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्रदान करनेवाले केन्द्र नहीं बन पायी हैं। इस महान् शिक्षक की कार्य-पद्धति का अध्ययन करना उनके लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

११

माध्यमिक शिक्षा की पुनर्रचना

(माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के क्षेत्र में एक अमरीकी प्रयोग की कहानी)

इस समय हम अपने माध्यमिक स्कूलों के उपागम तथा दृष्टिकोण को अधिक व्यापक, अधिक व्यावहारिक तथा अधिक प्रयोगात्मक बनाने के दुष्कर कार्य में संलग्न हैं। इस प्रयत्न में लगे हुए भारतीय शिक्षकों के लिए यह उपयोगी होगा कि वे माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बारह वर्ष तक अमरीका में किये गये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयोग का अध्ययन करें; हमारे देश में लोग इस प्रयोग से उतनी अच्छी तरह परिचित नहीं हैं जितना कि उन्हें होना चाहिए। इस प्रयोग का पूरा विवरण हार्वर एंड ब्रदर्स ने "ऐडवेंचर्ज इन अमेरिकन एजुकेशन" के नाम से पाँच खण्डों में प्रकाशित किया था, जिसमें इस पूरे प्रयोग की उत्पत्ति तथा विकास का विवरण दिया गया है और उसका मूल्यांकन किया गया है। हाल ही में लन्दन की न्यू एजुकेशनल फेलोशिप नामक संस्था के इण्टरनेशनल बुक क्लब ने जेम्स हेम्मिंग की "टीच देम टु लिव" नामक पुस्तक के रूप में इस प्रयोग का विचारपूर्ण तथा रोचक विवरण प्रकाशित किया है। शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले जो लोग इस प्रयोग में उसके मूलभूत महत्त्व की दृष्टि से और हमारे सामने आनेवाली कुछ समस्याओं को हल करने में उसकी उपयोगिता की दृष्टि से दिलचस्पी रखते हों, उन्हें इन पुस्तकों में विस्तारपूर्वक उसका अध्ययन करना चाहिए। यहाँ पर मैं इस प्रयोग का और इस विषय पर जेम्स हेम्मिंग की बहुत ही अच्छी पुस्तक का केवल संक्षिप्त परिचय देना चाहता हूँ।

सारे संसार के शैक्षणिक क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा के आम ढर्रे के प्रति गहरा असन्तोष रहा है और वे काफी समय से यह अनुभव करते रहे हैं कि उसकी आमूल पुनर्रचना—उसके उद्देश्य की, उसके सिद्धान्तों की, उसकी प्रणालियों तथा प्रविधि की, उसके संगठन की और परिणामों का मूल्यांकन

करने की उसकी पद्धति की पुनर्रचना—तत्काल आवश्यक है। यद्यपि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बहुत-से बहुमूल्य परिवर्तन हुए हैं और स्वयं हमारे देश में बुनियादी शिक्षण-पद्धति ने उसकी समस्याओं के प्रति एक बिलकुल ही नया रवैया अपनाया है, पर माध्यमिक शिक्षा अभी कुछ समय पहले तक कुल मिलाकर गतिहीन तथा अपरिवर्तित रही है। पढ़ाई एक बँधे हुए पिटे-पिटाये ढर्रे पर चलती रही है जिसके अन्त में एक औपचारिक परीक्षा ले ली जाती है। इस परीक्षा का उद्देश्य बच्चे के व्यक्तित्व के पूरे विकास का पता लगाना नहीं होता बल्कि उसके द्वारा केवल यह मालूम किया जाता है कि एक निर्धारित पाठ्यक्रम द्वारा बच्चे ने कितना ज्ञान तथा कितनी जानकारी अर्जित की है। इस प्रकार ज्ञान के कुछ विषयों को वर्गीकृत कर देने और उनमें कुछ औपचारिक परीक्षाएँ पास कर लेने पर अनुचित बल देकर शिक्षा की वास्तविक समस्या पर एक परदा-सा डाल दिया गया है। उन मूलभूत आवश्यकताओं तथा समस्याओं की, जो हमारे प्रौढ़ जीवन का अभिन्न अंग है, बहुत बड़ी हद तक उपेक्षा की गयी है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम शिक्षा को नयी दृष्टि से देखना शुरू करें और उसकी समस्याओं की व्याख्या करने के लिए नये ढंग से सोचना शुरू करें। हमें माध्यमिक शिक्षा की कल्पना पुस्तकों, कक्षाओं, पाठ्यक्रमों, नम्बरों और डिग्रियों के रूप में न करके अपने-आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि हम विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को समृद्ध तथा अनुशासनबद्ध बनाने के लिए उन्हें क्या सहायता दे सकते हैं और कुछ सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की पूर्ति करने में उनकी क्या मदद कर सकते हैं ? अन्य सभी बातों को इस मुख्य लक्ष्य के अधीन समझा जाना चाहिए। इसमें यह आशय भी निहित है कि स्कूल के उद्देश्यों को निर्धारित करते समय अध्यापकों को उस समाज के उद्देश्यों का भी अध्ययन करना चाहिए तथा उन्हें समझना चाहिए। कारण यह कि इसी समाज की सेवा करना स्कूल का लक्ष्य होता है और इस समाज के उद्देश्य उसके सदस्यों की जीवन की चिरपोषित मान्यताओं पर निर्भर हैं। अध्यापकों को निरन्तर अपने-आपसे यह प्रश्न करते रहना चाहिए कि हमारे श्रेष्ठतम विचारकों की आस्था किस जीवन-पद्धति पर थी और उन्होंने अपने उपदेशों में किस जीवन-पद्धति का प्रचार किया है। अध्यापकों का काम केवल यही नहीं है कि वे उस जीवन-पद्धति को सुरक्षित रखें बल्कि उन्हें हमारी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए इस जीवन-पद्धति का विकास तथा परिष्कार भी करना चाहिए।

समस्याओं के इस सामान्य प्रतिपादन के बारे में हम यह मान सकते हैं कि

वह सभी देशों पर लागू होता है। भारत में हम लोगों के लिए अन्य देशों में किये जानेवाले प्रयोगों का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि अनेक स्थानीय अन्तर होते हुए भी आम तौर पर बुनियादी बातें सभी जगह एक जैसी हैं। अमरीका में किये गये जिस प्रयोग का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है वह वहाँ के माध्यमिक स्कूलों की समस्याओं को हल करने के लिए वहाँ के शिक्षा-क्षेत्र के जाग्रत विचारोंवाले लोगों द्वारा किये गये प्रयत्नों का सूचक है और वह एक ऐसे क्रान्तिकारी विकास का द्योतक है जिसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करना हमारे लिए बहुत उपयोगी होगा।

प्रयोग की पृष्ठभूमि

इस शताब्दी के पहले तीस वर्षों में अमरीका में माध्यमिक शिक्षा के आम ढर्रे के प्रति व्यापक असन्तोष फैला हुआ था। इसलिए १९३० में वहाँ के प्रगतिशील शिक्षा संघ (प्रोग्रेसिव एजुकेशन एसोसिएशन) ने उसके मुख्य दोषों की जाँच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया, विशेष रूप से स्कूलों तथा कालेजों के उचित पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करने और उनके काम को बेहतर ढंग से समन्वित करने के दृष्टिकोण से। आयोग के उद्देश्यों में इस बात का पता लगाना भी शामिल था कि क्या स्कूलों को इस बात की स्वतन्त्रता दे दी जाये कि वे कालेज में पहुँचने पर विद्यार्थियों की सफलता की सम्भावना पर कोई बुरा प्रभाव डाले बिना शिक्षा-पद्धति को बुनियादी तौर पर नयी दिशा में विकसित करें और यदि उन्हें यह स्वतन्त्रता दी जाये तो किस प्रकार। बहुत समय तक परिस्थिति का अध्ययन करने के बाद और बहुत बड़ी संख्या में अध्यापकों तथा शिक्षा-क्षेत्र के अन्य कार्यकर्त्ताओं से सवाल-जवाब करने के बाद आयोग ने माध्यमिक शिक्षा-पद्धति में निम्नलिखित मुख्य दोष बताये।

इस शिक्षा का उद्देश्य काफी अस्पष्ट था जिसका परिणाम यह था कि अध्यापकों को दिशा का कोई ज्ञान नहीं था और उन्हें यह नहीं मालूम था कि वे विद्यार्थियों को किस उद्देश्य से शिक्षा दे रहे हैं और विद्यार्थी भी स्कूलों में भरपूर तथा संतोषप्रद जीवन से वंचित रहते थे। इन संस्थाओं की कार्य-पद्धति में काफी शिक्षा-सम्बन्धी ढील-ढाल थी। स्कूल में पढ़ाये जानेवाले विभिन्न विषयों के महत्त्व को उनकी सांस्कृतिक तथा रचनात्मक सम्भावनाओं की दृष्टि से न जाँचकर केवल इस दृष्टि से जाँचा जाता था कि 'परीक्षा पास कर लेने' की दृष्टि से उनका क्या मूल्य है। हर विषय के लिए जो विषय-वस्तु चुनी जाती थी उसमें भी इसी सिद्धान्त का पालन किया जाता था—यह विषय-वस्तु बिखरी हुई थी,

जीवन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था और उसमें कोई एकबद्धता नहीं थी। विभिन्न विषयों को पढ़ने का मुख्य उद्देश्य केवल उनमें अच्छे नम्बर प्राप्त कर लेना था और अध्यापन की प्रणालियाँ साधारणतया औपचारिक तथा प्रेरणाहीन थीं और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के सर्वोपरि लक्ष्य के बन्धनों में बुरी तरह जकड़ी हुई थीं। इन परिस्थितियों में स्वाभाविक रूप से विद्यार्थियों को इस बात का कोई अवसर नहीं मिलता था कि वे उनके लिए सच्चा महत्त्व रखनेवाली समस्याओं को हल करने के लिए मिलकर काम कर सकें और न ही उनमें कोई कारगर कदम उठाने का उत्साह और क्षमता ही पैदा होती थी, क्योंकि ये चीजें स्वाभाविक परिस्थितियों में काम करने से ही पैदा हो सकती हैं। शिक्षा का निर्माण छात्रों की वैयक्तिक रुचियों तथा समस्याओं के आधार पर करने के बजाय स्कूल विद्यार्थियों को सारा ज्ञान घोलकर पिला देने पर ही सन्तोष कर लेते थे। इस पद्धति के अन्तर्गत मानव-सामग्री का काफी अपव्यय भी होता था क्योंकि पाठ्यक्रमों को कमजोर और तेज विद्यार्थियों की अलग-अलग वैयक्तिक आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए उचित ढंग से नहीं निर्धारित किया जाता था। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के बीच इतना काफी सम्पर्क नहीं रहता था कि वे एक-दूसरे को ठीक तरह से समझ सकें। इस प्रकार अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के बीच उचित सामाजिक सम्बन्धों के शिक्षाप्रद महत्त्व को नहीं समझा गया था।

आयोग ने एक आलोचना यह भी की थी कि माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी अमरीकी संस्कृति की परम्पराओं को, अमरीकी जीवन-पद्धति की समस्याओं को ठीक तरह से समझ नहीं पाते। व्यावहारिक उपयोगिता के लक्ष्य पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता था और कलाओं को केवल सजावटी वस्तु समझा जाता था। ऐसे स्वतन्त्र कार्य द्वारा जिसमें वे पहलकदमी दिखा सकें, समझ-बूझ और आविष्कार-शक्ति का परिचय दे सकें, उनकी सृजनात्मक शक्तियों को न तो उन्मुक्त ही किया जाता था और न ही उनकी इन शक्तियों का विकास किया जाता था और इस प्रकार उनकी उच्चतर क्षमताओं के विकास में बाधा पड़ती थी। चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में आम तौर पर आत्म-अनुशासन, सामाजिक दायित्व तथा सहकारिता पर जोर न देकर कुछ निर्दिष्ट चर्याओं का पालन करने और कुछ पुरस्कार जीत लेने पर ही जोर दिया जाता था। इसके परिणामस्वरूप जीवन में आगे चलकर भी ये विद्यार्थी इन्हीं भ्रान्त मूल्य-भावनाओं का परिचय देते थे। आयोग ने इस बात पर विशेष रूप से चिन्ता प्रकट की कि अधिकांश स्कूलों ने बड़े निश्चिन्त भाव

से शिक्षा के सम्बन्ध में इसी संकुचित किताबी दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया था और वे इस दृष्टिकोण की गहरी खामियों को बिलकुल नहीं महसूस करते थे। वे पाठ्य-पुस्तकें ही पढ़ाने में फँसे रहते थे और उन्हें इस बात का तनिक भी आभास नहीं था कि वे प्रौढ़ जीवन की गतिवान सम्भावनाओं को कितनी गहरी क्षति पहुँचा रहे हैं।

आयोग ने स्कूलों तथा कालेजों के सर्वथा अस्वाभाविक पारस्परिक सम्बन्ध की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया। यद्यपि औसत से माध्यमिक स्कूलों में भरती होनेवाले हर छः विद्यार्थियों में से केवल एक ही आगे चलकर कालेज में जाता था, पर स्कूलों की पाठ्यचर्या पर कालेजों की आवश्यकताओं का प्रभुत्व रहता था। इस प्रकार जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करने के बजाय वे केवल कालेज में भरती होने के लिए तैयार हो पाते थे क्योंकि प्रमुखता की दृष्टि से इसे ही पहला स्थान दिया जाता था। इसकी वजह से कोई भी बुनियादी सुधार करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता था क्योंकि कालेजों तथा विश्व-विद्यालयों के दुमछल्ले बने रहकर माध्यमिक स्कूल अपनी प्रणालियों तथा अपनी पाठ्यचर्याओं में कोई भारी परिवर्तन नहीं कर सकते थे। किताबी पढ़ाई की अपनी दीर्घकालीन परम्पराओं के बोझ के नीचे दबे रहकर वे पाठ्यचर्याओं तथा अध्यापन-प्रणालियों के मामले में रत्ती भर भी टस से मस नहीं होते थे और इस बात पर आग्रह करते थे कि उन स्कूलों में भरती होनेवाला हर विद्यार्थी कुछ विषयों में कम-से-कम एक खास स्तर की योग्यता अवश्य प्राप्त कर ले। जब तक इन विषयों का अध्ययन करके वे उनमें कम-से-कम कुछ निश्चित नम्बर न प्राप्त कर लें तब तक उन्हें आगे शिक्षा प्राप्त करने के योग्य नहीं समझा जाता था। हमारे ही देश की तरह वहाँ भी कालेजों का यह मत था कि यदि पाठ्यचर्या निर्धारित करने में और अध्यापन की प्रणालियों में 'नये-नये' प्रयोग किये गये और स्कूलों में तरह-तरह के 'फालतू' काम शुरू किये गये तो विद्यार्थियों के लिए कालेज में पहुँचकर वहाँ के पाठ्यक्रमों को अच्छी तरह और सफलतापूर्वक समझ सकना असम्भव हो जायेगा। इस गतिरोध का आभास हो जाने पर, यह समझ लेने पर कि स्कूल और कालेज एक ऐसे चक्कर में फँस गये हैं जिससे निकलना उनके लिए असम्भव है, प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों के एक दल ने जिसमें सभी विचारों के लोगों का प्रतिनिधित्व था, एक अत्यन्त रोचक प्रयोग का बीड़ा उठाया। इस प्रयोग का उद्देश्य यह मालूम करना था कि क्या कालेजों में भरती होने के लिए आवश्यक बौद्धिक योग्यता के स्तर को नीचा किये बिना स्कूलों की पाठ्यचर्या को अधिक व्यापक तथा समृद्ध और

स्कूल के जीवन को अधिक मूल्यवान तथा अर्थपूर्ण बनाना और छात्रों की आवश्यकताओं तथा समस्याओं के अधिक निकट लाना सम्भव है। उन्होंने प्रयोगों द्वारा यह मालूम करना शुरू किया कि क्या विद्यार्थी अपने आपको परम्परागत विषयों की संकुचित सीमाओं में घेरे बिना और निर्दिष्ट परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए बिना भी कालेज में भरती होकर वहाँ सफल हो सकते हैं कि नहीं। दूसरे शब्दों में वे इस समस्या के बारे में छान-बीन कर रहे थे : "क्या अपने आप में पूरी माध्यमिक शिक्षा, जिसका विद्यार्थियों की आवश्यकताओं से विवेक-पूर्ण सम्बन्ध हो, कालेजों की शिक्षा के लिए एक उचित आधार का काम दे सकती है ?"

विभिन्न प्रकार के—सरकारी और गैर-सरकारी, बड़े और छोटे, अमीर और गरीब—तीस सीनियर स्कूलों को चुनकर १९३६ में वहाँ यह प्रयोग आरम्भ किया गया और माध्यमिक स्कूल की पढ़ाई के अन्तिम चार वर्षों को, अर्थात् लगभग १४ से १८ वर्ष तक के विद्यार्थियों को इस प्रयोग का आधार बनाया गया। २५ कालेजों तथा विश्वविद्यालयों की सहमति से इन स्कूलों को कालेजों द्वारा आयोजित प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण होने की शर्त से मुक्त कर दिया गया। यह तै किया गया कि एक प्रयोग के रूप में इन स्कूलों को इस बात की पूरी आजादी दे दी जाय कि वे अपने उद्देश्यों की व्याख्या स्वयं करें और अपने शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए और विद्यार्थियों के माता-पिता, अध्यापकों, कालेज के प्रोफेसरों और शिक्षाशास्त्रियों के पूर्ण सहयोग से पाठ्यचर्याएँ तथा अध्यापन-प्रणालियाँ निर्धारित करें। अपनी ओर से कालेजों तथा विश्वविद्यालयों ने यह आश्वासन दिया कि वे इन विद्यार्थियों को, जो पुनर्गठित प्रणालियों तथा पाठ्यचर्याओं के अनुसार शिक्षा प्राप्त करेंगे परन्तु जिन पर बाहरी परीक्षकों द्वारा ली गयी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने की मुहर नहीं लगी होगी, वे अपने यहाँ भरती कर लेंगे और यह देखेंगे कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने की प्रचलित पद्धति के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों की तुलना में उनकी प्रगति कैसी रहती है। और इन स्कूलों ने यह जिम्मा लिया कि वे इस योजना में सहयोग देनेवाले कालेजों को हर विद्यार्थी के काम के बारे में पूरा और विस्तृत ब्योरा देंगे और परीक्षा में प्राप्त किये गये नम्बरों के बजाय इस ब्योरे के आधार पर ही उन्हें भरती कर लिया जायेगा। इस ब्योरे में छात्र की आम समझदारी, किसी उद्देश्य के प्रति उसकी लगन और कालेज की पढ़ाई के किसी एक या एक से अधिक क्षेत्रों में सफलतापूर्वक काम करने की उसकी योग्यता के बारे में प्रिंसिपल की एक रिपोर्ट शामिल करने का आयोजन रखा

गया । इस ब्योरे में स्कूल में उस विद्यार्थी के जीवन तथा उसकी गतिविधियों का ध्यानपूर्वक तैयार किया गया विवरण, उसके द्वारा किये गये काम की मात्रा तथा गुण का विवरण और पढ़ाई में उस विद्यार्थी की योग्यता तथा उसकी भावी सम्भावनाओं का यथासम्भव पूर्णतम चित्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य से मूल्यांकन समितियों द्वारा आयोजित विशेष परीक्षाओं के परीक्षाफल देने का भी आयोजन रखा गया था ।

इसके बाद के चार वर्षों में विशेष रूप से चुने गये इन स्कूलों के लगभग २,००० विद्यार्थी विभिन्न कालेजों में भरती हुए और अब समस्या यथासम्भव बिल्कुल ठीक-ठीक यह मालूम करने की थी कि नयी परिस्थितियों में शिक्षा पाये हुए ये विद्यार्थी अपनी कालेज की पढ़ाई में कैसे चलते हैं । इस उद्देश्य से छः शिक्षाशास्त्रियों को विशेष रूपसे इस काम पर लगाया गया कि वे इनमें से १,४७५ विद्यार्थियों का कालेज की पढ़ाई के दौरान में ध्यान से देखकर उनकी प्रगति का मूल्यांकन करें । इस परीक्षा को सचमुच सार्थक तथा विश्वस्त बनाने के लिए उन स्कूलों से, जहाँ यह प्रयोग नहीं किया गया था, १,४७५ विद्यार्थियों को चुनकर कसौटी बनाया गया और इन विद्यार्थियों में से एक-एक के साथ प्रायौगिक स्कूलों के हर विद्यार्थी की जोड़ी बना दी गयी । जोड़ी बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि जहाँ तक हो सके आयु, लिंग, जाति, प्रवृत्तियों, रुचियों और सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी पृष्ठभूमि की दृष्टि से दोनों एक जैसे हों । इस परीक्षण का उद्देश्य यह मालूम करना था कि जिन विद्यार्थियों को तुलना की कसौटी बनाया गया था उनके मुकाबले में प्रायौगिक स्कूलों के विद्यार्थी अपनी पढ़ाई में, परीक्षाओं में और अपनी सामाजिक तथा बौद्धिक गति-विधियों में कैसे साबित होते हैं ।

प्रयोग की मुख्य विशेषताएँ

जब यह प्रयोग आरम्भ किया गया तो इन स्कूलों के अध्यापकों ने बड़े उत्साह के साथ अपना काम आरम्भ किया क्योंकि उन्होंने यह समझा था कि परीक्षा के बन्धनों से मुक्त होकर वे इस नये ढंग के अनुसार अध्यापन का काम बड़ी आसानी से संगठित कर लेंगे । पर शीघ्र ही उन्हें यह पता चल गया कि स्वतन्त्रता कोई आसान चीज नहीं है बल्कि उसके लिए उन्हें पहलकदमी, सूझ-बूझ, साहस, बुद्धिमत्ता तथा सहयोग की कड़ी परीक्षासे गुजरना पड़ता है । इस प्रयोग के शुरू-शुरू में ही एक प्रिंसिपल ने बहुत दिलचस्प बात कही :

"मेरी और मेरे अध्यापकों की समझ में नहीं आता कि इस इस स्वतन्त्रता

का क्या करें। यह स्वतन्त्रता हमारे लिए एक चुनौती है और हमें उससे डर लगता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि हम अपने बन्धनों से प्रेम करने लगे हैं।"

परन्तु उन सभी ने इस प्रयोग को सफल बनाने के लिए अपनी तरफ से पूरी कोशिश करने की ठान ली थी और इसलिए उन्होंने साथ मिलकर विभिन्न कठिनाइयों को हल करने का फैसला किया। प्रिंसिपलों, अध्यापकों, इस काम के लिए नियुक्त किये गये विशेषज्ञों और विद्यार्थियों तथा उनके माता-पिता सबने मिलकर एक नयी शिक्षा-पद्धति की योजना बनाने में सहयोग दिया और उन्होंने प्रयोगों द्वारा नयी-नयी बातों की खोज करने की अदम्य भावना को जीवित रखने के लिए यथाशक्ति पूरा प्रयत्न किया। अच्छी तरह उन्मुक्त भाव से विचार-विनिमय करने के बाद उन्होंने निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का फैसला किया :

पहला यह कि विद्यार्थियों तथा समाज दोनों की आवश्यकताओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके उस आधार पर एक बेहतर और अधिक गतिशील पाठ्यचर्या की योजना तैयार करना। कई बाहरी बन्धनों से मुक्त होकर वे अपने विद्यार्थियों की समस्याओं तथा उनकी मनोवृत्तियों को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे और उनके विकास के लिए वे विभिन्न प्रकार के अधिक उपयुक्त कामों की व्यवस्था करने में सफल हुए।

दूसरा उद्देश्य था ज्ञानोपार्जन और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के बीच घनिष्ठतर सम्बन्ध स्थापित करनेवाली श्रेष्ठतर अध्यापन-प्रणालियाँ अपनाना और इस प्रकार ज्ञानोपार्जन को चरित्र तथा व्यक्तित्व के विकास का एक अभिन्न अंग बना देना।

तीसरा उद्देश्य था विद्यार्थियों की प्रगति को परखने तथा उसका मूल्यांकन करने के ऐसे बेहतर तरीके मालूम करना जिनसे यह पता लगाने में सहायता मिले कि जो उद्देश्य उन्होंने अपने सामने रखे थे वे पूरे भी हो रहे हैं कि नहीं।

जहाँ तक पाठ्यचर्या की पुनर्रचना का प्रश्न था वे वास्तविक अनुभव और सम्बन्धित समस्याओं पर विवेकपूर्ण विचार-विनिमय के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचे :

(क) विषय-वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही शिक्षा का सार-तत्त्व नहीं है और स्कूलों का उद्देश्य मुख्यतः यह नहीं है कि वे ज्ञान प्रदान करें बल्कि उनका मुख्य उद्देश्य यह है कि वे विद्यार्थियों को एक सृजनात्मक तथा सहकारी समाज

के रूप में संगठित स्कूल के जीवन में भाग लेने का अवसर प्रदान करके उन्हें जीवन की कला सिखायें।

(ख) एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध बहुत-से अलग-अलग विषयों का अध्ययन उतना उपयोगी नहीं होता जितना कि मानव-ज्ञान तथा मानव-अनुभव के ऐसे विस्तृत क्षेत्रों का अध्ययन होता है जो अध्ययन की विभिन्न शाखाओं को फलप्रद ढंग से समन्वित करते हों। ज्ञान की किसी ऐसी महत्त्वपूर्ण शाखा का अध्ययन (जैसे सामान्य विज्ञान, समाज-सम्बन्धी विद्याएँ या किसी विदेशी संस्कृति को समझने के साधन के रूप में किसी विदेशी भाषा को सीखना), जिससे विद्यार्थियों में विभिन्न विषयों की समझ-बूझ पैदा करने में सहायता मिल सकती हो, तथ्यों के वर्गीकृत भंडारों की शिक्षा की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस उद्देश्य से कुछ स्कूलों में पूरे-पूरे सांस्कृतिक युगों को बड़ी कक्षाओं में अध्ययन का आधार बनाया गया, जैसे प्राचीन यूनान का जीवन, तेरहवीं शताब्दी का फ्रान्स, आधुनिक चीन इत्यादि। इससे विभिन्न विषयों के बीच खड़ी हुई पुरानी दीवारों को गिराने में सहायता मिली और व्यापक आन्दोलनों के अध्ययन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण इन विषयों में एक नया अर्थ पैदा हो गया और उनमें एक नयी शक्ति का संचार हुआ।

(ग) पाठ्यचर्या की विषय-वस्तु का चुनाव युवकों की वर्तमान समस्याओं को ध्यान में रखते हुए किया गया, साथ ही उस ज्ञान, उन कौशलों तथा उन अनुभूतियों को भी ध्यान में रखा गया जिनके मिलने से प्रौढ़ संस्कृति की रचना होती है। वर्तमान स्थिति का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद कई स्कूलों ने पाठ्यचर्या-निर्धारण की मार्ग-दर्शिकाओं के रूप में प्रौढ़ लोगों की मुख्य-मुख्य आवश्यकताओं और समाज के तकाजों की एक सूची तैयार की।

(घ) स्कूलों ने इस बात को महसूस किया कि उन्हें केवल बच्चे की स्मरण-शक्ति अथवा बुद्धि की ओर ही ध्यान नहीं देना है बल्कि उनका काम यह भी है कि वे बच्चे के पूरे परिवेश के प्रसंग में उसके पूरे व्यक्तित्व को समझें तथा सँवारें। इस प्रकार उन्हें यह परखने की एक कसौटी मिल गयी कि पढ़ाई तथा अन्य क्रियाकलाप की उनकी योजनाएँ विद्यार्थियों की बहुमुखी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफी हैं कि नहीं।

(ङ) कुछ स्कूलों में शिक्षा को विद्यार्थियों के भावी व्यवसायों के साथ सम्बन्धित करके उसमें नये जीवन का संचार किया गया और उसे विद्यार्थियों के लिए अधिक यथार्थ बनाया गया। अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रशिक्षण के ही एक

अंग के रूप में उन्होंने कुछ सप्ताह तक किसी दफ्तर, कारखाने, फैक्ट्री आदि में काम किया, ताकि वे अपनी रुचियों तथा योग्यताओं का स्वयं पता लगा सकें और इन स्रोतों से प्राप्त की गयी रिपोर्टों के आधार पर अध्यापक विद्यार्थियों को उनके भावी व्यवसायों के बारे में परामर्श देने में सफल हुए।

(च) विद्यार्थियों की शिक्षा को समाज के सक्रिय तथा स्पन्दनशील जीवन से अलग नहीं किया गया। वास्तव में, वे अपने नगर को "प्राथमिक नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा वास्तुकला की प्रदर्शन-प्रयोगशाला" समझते थे। वे समाज के जीवन का अध्ययन करते थे और उसमें भाग लेते थे और यथाशक्ति वर्त्तमान सामाजिक परिस्थितियों में सुधार करने की कोशिश करते थे।

इन विभिन्न उपायों के फलस्वरूप स्कूलों को जीवन से अलग रखनेवाली और पाठ्यचर्या को सर्वथा यथार्थताहीन बना देनेवाली मजबूत दीवारें ढहने लगीं और धीरे-धीरे अध्यापक, विद्यार्थी और उनके माता-पिता इस बात को अनुभव करने लगे कि शिक्षा मनुष्य का एक महान् प्रयास-क्षेत्र है।

प्रणालियाँ तथा सामग्रियाँ

इस प्रयोग को चलानेवाले अध्यापक इस विश्वास द्वारा प्रेरित थे कि किसी भी लोकतन्त्र में स्कूलों में नयी-नयी बातों को आजमाने तथा नयी-नयी चीजों की खोज करने की भावना व्याप्त रहनी चाहिए और उनका आचरण भी इसी भावना के अनुकूल होना चाहिए और उनके कार्य-प्रणाली में योजना बनाकर काम करने, छान-बीन करने, परिणामों का ध्यानपूर्वक मूल्यांकन करने और आवश्यकता पड़ने पर अपनी कार्य-प्रणालियों को बदलने की तत्परता के गुण होने चाहिए। इसलिए उन्होंने अपनी प्रणालियों को किसी बँधी-बँधाई लीक में नहीं फँसने दिया बल्कि हर स्कूल ने अपनी निजी आवश्यकताओं तथा अनुभवों के अनुसार ये प्रणालियाँ स्वयं निर्धारित कीं। इस प्रयोग में भाग लेनेवाले स्कूलों तथा कालेजों के अध्यापकों को आपस में मिलकर विचार-विनिमय करने के अवसर प्रदान किये गये ताकि वे अपने समान उद्देश्यों की व्याख्या कर सकें और अपने-अपने दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन कर सकें। उन्होंने देखा कि इस प्रकार के मित्रतापूर्ण विचार-विनिमय के फलस्वरूप उनके विचारों का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया और इस प्रयोग से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में उनकी समझ भी बहुत बढ़ गयी। इतना ही नहीं, अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच एक नया घनिष्ठतर सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिसमें कक्षाओं में होनेवाली

परम्परागत पढ़ाई और अध्यापन-प्रणालियों का स्थान सक्रिय तथा सहकारी कार्य ने ले लिया और साथ मिलकर सीखने और परिस्थितियों का सामना करने के लोकतांत्रिक तरीके अपनाकर उन्हें लोकतन्त्र की प्रशिक्षा देने का कार्य सम्पन्न किया गया।

शिक्षण की सामग्रियों के सम्बन्ध में यह पता लगा कि इस प्रणाली के अनुसार काम करने के लिए साधारण पाठ्य-पुस्तकें काफी नहीं हैं और इसलिए विद्यार्थियों को सूचना तथा जानकारी प्राप्त करने के अन्य स्रोतों की सहायता लेने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उन्होंने रिपोर्टों, बुलेटिनों, पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों का अध्ययन किया और अपने काम के एक स्वाभाविक अंग के रूप में पुस्तकालय का उपयोग करना सीखा। वे स्कूल के बाहर लोगों से मिले, दूसरी संस्थाओं में गये और इस प्रकार उन्होंने अपनी जानकारी में वृद्धि की तथा अपने ज्ञान के भण्डार को समृद्ध बनाया। कुछ अवसरों पर बाहर के विशेषज्ञों को भी निमन्त्रण देकर बुलाया गया और उनसे विद्यार्थियों को अपने विशेष कार्य-क्षेत्र के बारे में बताने का अनुरोध किया गया। ज्ञान तथा विचारों के प्रसार के प्रभावशाली साधनों के रूप में फिल्म तथा रेडियो का अधिक व्यापक रूप से उपयोग किया गया। कहीं-कहीं स्कूलों ने अध्यापकों के लिए अवकाशकालीन 'वर्कशापों' की स्थापना की जहाँ उन्हें अध्यापन के लिए उपयोगी सामग्रियों तथा प्रसाधनों का अध्ययन करने, उन्हें जमा करने तथा तैयार करने के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इस प्रकार स्कूलों की पूरी अवधारणा ही बदल गयी और विद्यार्थी सचमुच यह महसूस करने लगे कि वे ज्ञान तथा कौशल प्राप्त करने में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं और वे बिना किसी रोक-टोक के उन सभी साधनों का सहारा ले सकते हैं जिनका उपयोग समझदार प्रौढ़ लोग इस काम के लिए करते हैं।

मूल्यांकन तथा परिणाम

इस प्रयोग के परिणाम क्या रहे और उनका मूल्यांकन किस प्रकार किया गया? शुरू से ही इस बात का पता लगाने के लिए मूल्यांकन करनेवाले कुछ लोग खास तौर पर नियुक्त कर दिये गये थे कि इन स्कूलों में नये ढंग के जिन अनुभवों तथा कामों की व्यवस्था की गयी थी और जो नयी अध्यापन-प्रणालियाँ अंगीकार की गयी थीं उनके फलस्वरूप विद्यार्थियों के मानसिक तथा सामाजिक विकास में क्या परिवर्तन हो रहे थे और इन क्षेत्रों में उनकी प्रगति क्या थी। उन्होंने लगभग २०० परीक्षणों का आयोजन किया जिनके आधार पर उन्होंने

हर विद्यार्थी के काम तथा उसकी सफलताओं का पूरा ब्योरा रखा ताकि जब वह किसी कालेज में भरती होने के लिए जाये तो यह विवरण उसकी क्षमताओं का किसी भी औपचारिक परीक्षा की अपेक्षा अधिक सही-सही, पूरा तथा विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत कर सकें।

इसीसे सम्बन्धित एक समस्या इस बात की स्पष्ट व्याख्या करने की थी कि विद्यार्थियों में किन योग्यताओं का विकास किया जाना चाहिए जिनसे कालेज की पढ़ाई में उनकी सफलता सुनिश्चित हो जाये। अलग-अलग संस्थाओं ने सफलता की ये कसौटियाँ यथासम्भव स्पष्टतम रूप में निर्धारित करने के प्रयत्न किये और इसी प्रकार के एक सम्मेलन में, जो कोलम्बिया विश्वविद्यालय में हुआ था, यह तै किया गया कि कालेज के विद्यार्थी में जिन बातों की क्षमता आवश्यक है उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ये हैं :

१. वह तेज रफ्तार से और बात को समझते हुए पढ़ सकता हो। यह गुण समझकर और एकाग्रचित्त होकर अध्ययन करने के लिए आवश्यक है क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन के बिना कालेज के किसी विद्यार्थी का काम नहीं चल सकता।

२. वह बोलने में और लिखने में अपने विचारों को सुगमतापूर्वक व्यक्त कर सकता हो। यह बात केवल कालेज की पढ़ाई की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि अपने विचारोंको समझदारी के साथ और प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की योग्यता के बिना लोकतान्त्रिक समाज में कोई भी अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता।

३. उसमें किसी भी कठिन बौद्धिक काम को उत्साह और अनुशासन के साथ हाथ में लेने और पूरा करने की योग्यता होनी चाहिए। यदि किसी विद्यार्थी में बात को समझकर पढ़ने की योग्यता हो और वह अपने विचारों को व्यक्त कर सकता हो, परन्तु यदि उसमें आत्म-अनुशासन न हो और वह किसी योजना को पूरा करने में अध्यवसाय के साथ न जुट सकता हो तो वह कालेज में पहुँचकर अच्छा विद्यार्थी नहीं बन सकता।

४. उसमें विचारों की विवेचना करने की योग्यता हो, जिसके लिए कुछ बौद्धिक परिपक्वता की आवश्यकता होती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अब तक की परम्परा के अनुसार विद्यार्थियों पर विषय-वस्तु की कम-से-कम एक खास स्तर की जानकारी प्राप्त करने की जो शर्त लगायी जाती थी उसकी तुलना में ये वांछित क्षमताएँ कितनी भिन्न हैं; और यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे आजकल के हाई स्कूलों से निकलने-

वाले अधिकांश विद्यार्थियों में इन क्षमताओं का कितना अभाव होता है। उनमें से अधिकांश को अपनी रुचि से या कोई लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम से बाहर की कोई चीज पढ़ने की बिलकुल आदत नहीं होती। वे अपने विचारों को ठीक से व्यक्त नहीं कर सकते और जब कोई नया विचार या कोई नयी परिस्थिति उनके सामने आती है तो वे बौखला जाते हैं।

विद्यार्थियों की क्षमताओं का अनुमान लगाने के लिए मूल्यांकन समिति ने, जिसमें अध्यापक भी शामिल थे, प्रमाण के अनेक स्रोतों का सहारा लिया, जैसे स्कूल में विद्यार्थी के काम का ब्योरा, बँधे हुए काम के नमूने, शिक्षकों की रिपोर्ट, परीक्षाफल, इण्टरव्यू और प्रश्नावलियाँ और हर विद्यार्थी द्वारा प्राप्त किये विशेष श्रेय तथा पुरस्कार। इस समस्त साक्षी के आधार पर कालेजों के प्रिंसिपलों को हर विद्यार्थी के बारे में एक पूरी रिपोर्ट दी गयी।

इसके बाद इस मूल्यांकन का सबसे कठिन भाग आता था, अर्थात् यह मालूम करना कि इन विद्यार्थियों ने जो नये ढंग की शिक्षा प्राप्त की थी उसके फल-स्वरूप कालेज में उनकी प्रगति कैसी रहती है। उनकी प्रगति का मूल्यांकन करनेवाले कर्मचारियों ने इस काम को पूरा करने के लिए अति विस्तारपूर्ण परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सही कार्य-पद्धति निर्धारित की। १९३६ से १९३९ तक के चार वर्षों में इन तीस स्कूलों के लगभग २,००० विद्यार्थी कुछ चुने हुए कालेजों में भरती हुए; इन कालेजों में साधारण स्कूलों से आये हुए विद्यार्थी भी बहुत बड़ी संख्या में थे। उनकी तुलनात्मक प्रगति के इस परीक्षण को सचमुच सार्थक तथा विश्वसनीय बनाने के लिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्होंने उन स्कूलों से, जहाँ यह प्रयोग किया जा रहा था, १,४७५ विद्यार्थी चुन लिए और इतने ही विद्यार्थी दूसरे स्कूलों से चुन लिए। इस बादवाली कोटि के विद्यार्थियों को तुलना की कसौटी बनाया गया और पहली कोटि के हर विद्यार्थी की बादवाली कोटि के किसी एक विद्यार्थी के साथ जोड़ी बना दी गयी। इनकी जोड़ियाँ बनाते समय इस बात का यथासम्भव पूरा ध्यान रखा गया कि आयु, लिंग, जाति, प्रवृत्तियों, रुचियों और सांस्कृतिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से दोनों एक समान हों। कालेजों में उनकी पढ़ाई के दौरान में इन दोनों ही कोटियों के हर विद्यार्थी की प्रगति का पूरा ब्योरा रखा गया ताकि उनकी तुलना की जा सके। आठ वर्ष तक अवलोकन और तुलना करने के बाद बाहर की एक स्वतन्त्र समिति ने, जिसमें कालेजों के अध्यापक भी थे और विशेष रूप से चुने गये विशेषज्ञ भी, एकमत होकर अपना यह फैसला दिया कि जिन स्कूलों में यह प्रयोग किया गया था वहाँ के विद्यार्थियों को उन विद्यार्थियों की तुलना में, जो साधारण

स्कूलों से आये थे और जिन्हें तुलना की कसौटी बनाया गया था, बेहतर और अधिक प्रेरणाप्रद शिक्षा मिली थी। यह भी पता चला कि कालेज में वे पढ़ाई के विषयों में भी और सामाजिक तथा पाठ्यचर्या से बाहर की गतिविधियों में भी अपने साथियों से बेहतर साबित हुए थे। हाई स्कूलों के पाठ्यक्रमों के बँधे हुए ढर्रे से अलग हटकर शिक्षा प्राप्त करने से केवल यही नहीं हुआ था कि कालेज में उन्हें किसी अड़चन का सामना नहीं करना पड़ा था बल्कि वास्तव में उनका परीक्षाफल बेहतर रहा था और उन्होंने कालेज में पढ़ाये जानेवाले विषयों में अधिक नम्बर पाये थे। इस बात से यह भी बिलकुल स्पष्ट हो गया कि यह मान लेने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है कि जब तक कोई विद्यार्थी एक संकुचित क्षेत्र के कुछ निर्दिष्ट परम्परागत विषयों का अध्ययन नहीं करेगा और उनमें कम-से-कम कुछ प्रतिशत नम्बर नहीं पायेगा तब तक वह कालेज की पढ़ाई में अच्छा नहीं रहेगा। इस प्रयोग के दौरान में अपने-आप ही एक बात और हुई जो शिक्षा की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी, और वह यह कि अध्यापकों की समझ-बूझ और उनकी अन्तर्दृष्टि बहुत बढ़ी और जिन स्कूलों ने इस प्रयोग में भाग लिया था उनका शैक्षणिक पद बहुत ऊँचा हो गया। इस प्रयोग के परिणामों की कुछ ब्योरे की बातों में शायद हमारे अध्यापकों को दिलचस्पी हो :

> "यह पता चला कि इन तीन स्कूलों के विद्यार्थियों की प्रगति अंग्रेजी, मानविकी, समाजज्ञान, जीवशास्त्र, भौतिकी तथा गणित में दूसरों से कुछ बेहतर रही, हालाँकि विदेशी भाषाओं में वे दूसरों से कुछ पीछे रहे। उन्होंने पढ़ाई में कुछ अधिक श्रेय प्राप्त किया; साधारण स्कूलों के जिन विद्यार्थियों से उनकी तुलना की गयी थी उनके मुकाबले में उनकी श्रेष्ठता १% से १०% तक थी। साधारण स्कूलों के जिन विद्यार्थियों को तुलना की कसौटी बनाया गया था उनके मुकाबले में ये विद्यार्थी सामान्य ज्ञान, सामाजिक समस्याओं में दिलचस्पी, अपने वातावरण के प्रति जागरूकता और पुस्तकें पढ़ने की क्षमता के मामले में भी कुछ बुरे नहीं साबित हुए।"

ये परिणाम इस दृष्टि से तो काफी संतोषजनक रहे कि उनसे यह पता चल गया कि कालेजों के लिए माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रमों तथा परीक्षाओं का नियमन करना जरूरी नहीं है और यह कि यदि अच्छी सामान्य शिक्षा स्वतन्त्रता के वातावरण में प्रदान की जाये और बुनियादी तौर पर विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के साथ उसका सम्बन्ध रखा जाये तो वह कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में उच्चतर शिक्षा के लिए एक अच्छा आधार प्रदान कर सकती है। पर प्रयोग करनेवालों को इस कारण कुछ निराशा हुई कि उन्हें यह आशा

थी कि औसत से उनके विद्यार्थी साधारण स्कूलों के उन विद्यार्थियों की तुलना में, जिन्हें कसौटी बनाया गया था, कहीं अधिक श्रेष्ठ साबित होंगे। इसलिए परिणामों का मूल्यांकन करनेवाले कर्मचारियों ने इस 'परीक्षण के भीतर एक और परीक्षण' करने का फैसला किया, जिसका उद्देश्य यह मालूम करना था कि इन तीस स्कूलों में से जिन छः स्कूलों में यह प्रयोग सबसे ज्यादा हद तक लागू किया गया था और जिन छः स्कूलों में सबसे कम हद तक लागू किया गया था उनके विद्यार्थी एक-दूसरे की तुलना में कैसे थे। वे यह जानते थे कि इनमें से कुछ स्कूलों ने अपनी स्वतंत्रता का पूरा लाभ उठाया था और वे परम्परागत प्रणाली से बुनियादी तौर पर बिलकुल अलग हट आये थे और कुछ स्कूलों ने केवल कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन ही किये थे। इसलिए उन्होंने इन दोनों ही प्रकार के स्कूलों से ३३५-३३५ विद्यार्थी चुन लिए और इनके जैसे साधारण स्कूलों के विद्यार्थियों के साथ पहले की तरह ही उनकी जोड़ियाँ बना दीं। उन्हें यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और सन्तोष भी कि इस दूसरे परीक्षण के परिणामों ने उनकी उस मान्यता को सही साबित कर दिया जिसे उन्होंने अपने प्रयोग का आधार बनाया था, क्योंकि जिन स्कूलों में इस प्रयोग को सबसे ज्यादा हद तक लागू किया गया था वहाँ के विद्यार्थी साधारण स्कूलों के अपने जोड़ीदारों की तुलना में बहुत श्रेष्ठ साबित हुए थे। उदाहरण के लिए 'बौद्धिक जिज्ञासा' में वे साधारण स्कूलों के अपने जोड़ीदारों के मुकाबले में ११% आगे और 'समाज के साथ सम्बन्ध' के मामले में २०% आगे रहे; जिन स्कूलों में यह प्रयोग सबसे कम हद तक लागू किया गया था वहाँ के विद्यार्थियों ने 'बौद्धिक जिज्ञासा' के मामले में किसी श्रेष्ठता का परिचय नहीं दिया और 'समाज के साथ सम्बन्ध' के मामले में उनकी श्रेष्ठता केवल ९% थी। यही कारण था कि औसत से उन तीसों स्कूलों के विद्यार्थियों ने उतनी श्रेष्ठता का परिचय नहीं दिया जितनी कि उनसे आशा की जाती थी।

इन अध्यापकों ने एक नया पथ प्रशस्त करने के सिलसिले में जो काम किया था वह सचमुच बहुत ही कठिन और श्रमसाध्य था, परन्तु उन सभी का यह मत था कि इस काम में उन्होंने एक सृजनात्मक साहसिक प्रयास का रोमांच अनुभव किया और इससे उनकी कार्य-क्षमता में और शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के बारे में उनकी समझ-बूझ में काफी वृद्धि हुई थी। यद्यपि इस काम को पूरा करने के लिए उन्हें कहीं अधिक बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम करना पड़ा था पर उनमें से कोई भी परम्परा के बन्धनों में जकड़े हुए स्कूलों के अपेक्षाकृत सुरक्षित तथा निरापद वातावरण में वापस जाने को तैयार न था। जैसा कि पहले कहा जा

चुका है, यह याद दिला दिया जाये कि इस प्रयोग में सभी प्रकार के स्कूलों को शामिल किया गया था—इसमें गाँवों के स्कूल भी थे और शहरों के भी, सरकारी स्कूल भी थे और गैर-सरकारी भी, ऐसे स्कूल भी थे जिनमें विद्यार्थियों की संख्या को देखते हुए अध्यापकों का अनुपात काफी ऊँचा था और ऐसे स्कूल भी थे जिनमें विद्यार्थियों की संख्या को देखते हुए अध्यापकों का अनुपात कम था। कुछ स्कूलों में यह कठिनाई भी थी कि उनके पास इस प्रयोग को चलाने के लिए धन अथवा सामग्री के रूप में कोई विशेष साधन नहीं थे, परन्तु चूँकि उन्हें शिक्षा के प्रति एक नया रवैया अपनाने के इस विचार में गहरी दिलचस्पी थी इसलिए विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की सूझ-बूझ और विद्यार्थियों के माता-पिता तथा स्थानीय समाज के योगदान से इन कठिनाइयों को दूर कर लिया गया। यह बात इसलिए उल्लेखनीय है कि हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रयोग न करने के लिए बहुधा रुपये-पैसे की तंगी का बहाना पेश किया जाता है!

मैंने इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग की यह संक्षिप्त तथा किंचित् अपर्याप्त रूप-रेखा इस आशा से प्रस्तुत की है कि शायद हमारे कुछ अध्यापकों और कुछ शिक्षण-संस्थाओं को माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं पर नये दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा मिले और वे यह पता लगाने की कोशिश करें कि इस शिक्षा को जीवन के निकटतर लाने और हमारे विद्यार्थियों की मनोवृत्ति तथा उनकी आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल बनाने के लिए क्या किया जा सकता है। मैं नहीं कह सकता कि हमारे कालेज और विश्वविद्यालय कहाँ तक ऐसे बुनियादी प्रयोग को कार्यान्वित करने में सहयोग देने को तत्पर होंगे—यद्यपि इस समय लोगों की मतधारा पहले की अपेक्षा कुछ अधिक अनुकूल है—परन्तु उनके सहयोग के बिना भी इस प्रयोग में सन्निहित बहुत-से विचारों को हम अपने स्कूलों में क्रियान्वित करने की कोशिश कर सकते हैं।

१२

राष्ट्रीय जीवन में समाज-शिक्षा का स्थान[1]

इस समस्या पर विचार करने के लिए एक पृष्ठभूमि के रूप में यदि हम यह देख लें कि समाज-शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले समझदार कार्यकर्ताओं में किन-किन बातों पर मतैक्य है, तो बहुत सुविधा हो जायगी। कुछ स्पष्ट सत्यों को दोहरा देना शायद बौद्धिक दृष्टि से बहुत 'आकर्षक' बात न हो पर यह जान लेना बहुत उपयोगी है कि हमारी स्थिति क्या है और हमें कहाँ से शुरू करना है।

अब वर्तमान शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति में तत्काल सुधार करने की आवश्यकताओं को काफी रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। राजनीतिज्ञ, प्रशासक, समाज-सेवक और शिक्षाशास्त्री भी इस बात को महसूस करने लगे हैं कि जब तक प्रौढ़-शिक्षा की व्यवस्था अधिक व्यापक रूप से नहीं की जायेगी और साथ ही इस कार्य को सम्पन्न करने में जब तक शीघ्रता और उदारता से काम नहीं लिया जायेगा तब तक न योजनाएँ बनाने का काम हो सकेगा और न ही सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण ही सम्भव हो सकेगा। पहले भी अनेक दूरदर्शी व्यक्तियों तथा दलों ने इस कार्य के महत्त्व को समझा था परन्तु यह समस्या इतनी विशाल थी—लगभग ३५ करोड़ लोगों को शिक्षा देने की समस्या!—कि वे निराश होकर इस नतीजे पर पहुँचे कि यह योजना न तो 'व्यावहारिक' है और न ही उसे 'पूरा करना सम्भव' है। ये शब्द, और ऐसे ही बहुत-से दूसरे शब्द, बहुत उपयोगी होते हैं क्योंकि उनकी आड़ में साहस और दूरदर्शिता की कमी को बहुत आसानी से छुपाया जा सकता है! परन्तु पिछले बीस वर्षों में परिवर्तन बड़ी तेजी से हुए हैं। हमने अपनी आँखों से दूसरे देशों में बहुत बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता देखी है। हमने देखा है कि किस प्रकार युद्धकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समन्वित तथा सहकारी मानव-प्रयास द्वारा उत्पादन तथा विनाश दोनों ही के क्षेत्रों में कैसे-कैसे

१. त्रिवेन्द्रम् में **अखिल-भारतीय प्रौढ़ शिक्षा सम्मेलन** में दिये गये अध्यक्ष-भाषण से।

चमत्कार किये जा सकते हैं। हमारे अन्दर इस बात की गहरी चेतना पैदा हो चुकी है कि अखबार, रेडियो और सिनेमा जैसे 'जनव्यापी संचार के आधुनिक साधन' प्रौढ़ों को शिक्षित (या कुशिक्षित !) करने में कितनी बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं। इस बदली हुई परिस्थितियों में हमारे लिए यह और भी कम उचित है कि हम हाथ पर हाथ धरे रहकर इस समस्या का सामना करें और सफलता या असफलता को अपने भाग्य पर छोड़ दें; आज हमारे सामने शिक्षा के प्रसार की शक्तिशाली योजनाएँ पूरी करने के अलावा कोई दूसरा रास्ता रह ही नहीं गया है।

परन्तु यह समस्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केवल इसलिए नहीं हो गयी है कि आज हम बड़े पैमाने के सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी प्रतिष्ठान संगठित करने में प्राविधिक दृष्टि से अधिक कार्य-कुशल हो गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण तथा निश्चित कारण भी हैं जिहें हम राजनीतिक तथा मानव-सम्बन्धी कारण कह सकते हैं। हम राष्ट्रीय जीवन के एक ऐसे नये युग में प्रवेश कर रहे हैं जो शायद आनेवाली कई शताब्दियों के लिए हमारे देश की भावी व्यवस्था की रूपरेखा निर्धारित कर देगा। हमारे राष्ट्रीय जीवन को विषाक्त करनेवाले आपस के संगीन झगड़ों की घनघोर घटाएँ भी विनाश की बदली की तरह छँट जायेंगी और हम फिर न्याय और स्वतंत्रता और समझदारी के प्रकाशमय वातावरण में पहुँच जायेंगे। यदि आप मुझे एक स्वतः स्पष्ट सत्य को दोहराने की अनुमति दें तो मैं कहूँगा कि अकेले राजनीतिक स्वतन्त्रता किसी भी समाज या किसी भी राष्ट्र के लिए 'अच्छे जीवन' का आश्वासन नहीं कर सकती। हम भली-भाँति जानते हैं कि कई राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हुए भी दूसरी जंजीरों में जकड़े हुए हैं जो उन्हें 'अच्छे-जीवन' की ओर नहीं बढ़ने देतीं, क्योंकि इस प्रकार का जीवन कठिन परिश्रम तथा समाजोपयोगी कार्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में जब तक जनता 'निरन्तर सतर्कता' के रूप में अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल्य चुकाने को तैयार न हो तब वह इस स्वतंत्रता को भी सुरक्षित नहीं रख सकती, और इस सतर्कता के लिए उचित नागरिक तथा सामाजिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। यदि हमारा लक्ष्य ऊँचा है और हम अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के सहारे सामाजिक स्वतंत्रता तथा आर्थिक लोकतंत्र के लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं तो स्पष्टतः हमें जन-साधारण के लिए कहीं अधिक उच्च स्तर की शिक्षा की आवश्यकता होगी। नहीं तो हमेशा इस बात का खतरा रहेगा कि चतुर लेकिन बेईमान दल या व्यक्ति अपने निकृष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस

तथाकथित 'स्वतंत्रता' का अनुचित लाभ उठायें। इसी बात को मैं तत्काल और बड़े पैमाने पर प्रौढ़-शिक्षा का आन्दोलन शुरू करने के राजनीतिक औचित्य का आधार कहूँगा।

मानवीय दृष्टि से इसके औचित्य का प्रत्यक्ष स्रोत भी इन्हीं बातों में निहित है। आज से पहले शायद कभी भी मनुष्य की सामाजिक चेतना में इस दुःखद परिस्थिति की संवेदना इतनी गहरी नहीं थी कि भौतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से सम्मृद्ध तथा सम्पन्न संसार में आज हमारे साथ के अधिकांश मनुष्य सचमुच भूखे मर रहे हैं। जाहिर है कि यह बात मैं सामान्य प्रवृत्ति को दृष्टिगत रखकर कह रहा हूँ; मेरा संकेत उन महान् व्यक्तियों की ओर नहीं है जिनकी आत्मा अन्ततः सदैव ही महान् मानवीय मूल्यों के प्रति उत्तरदायी रही है। वास्तविक स्थिति यह है कि आज मनुष्य के पास विपुल भौतिक तथा सांस्कृतिक साधन हैं—निहित सम्भावनाओं की दृष्टि से ये साधन असीमित हैं! फिर भी 'जन-साधारण' का जीवन दरिद्रताग्रस्त, नीरस तथा असंतोषमय है, उनके तन-मन में निराशा व्याप्त है; उन्हें न आर्थिक सुरक्षा प्राप्त है न वे सांस्कृतिक सम्पदाएँ ही जो मनुष्य की सबसे बहुमूल्य निधि होती हैं। मेरी राय में जन-साधारण को इस क्रूर गतिरोध से मुक्त करना और उनके जीवन को अर्थपूर्ण बनाकर समृद्धि प्रदान करना बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी समस्या है। आजकल के श्रेष्ठतम लोगों की आत्मा को यह सोचकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, और उनकी आत्मा सन्तुष्ट होगी भी नहीं, कि गरीब किसान और मजदूर और प्रतिदिन के तुच्छ उत्पादनशील कार्य करनेवाला हर आदमी केवल इस योग्य होता है कि वह अपना काम पूरा कर दे और उसे हद से हद इस बात का अधिकार होता है कि वह भूखा न मरने पाये और थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर ले। वह भी दूसरे इंसानों जैसा इंसान होता है और उसमें भी विचारों की दुनिया में प्रवेश करने और आत्मा की बहुमूल्य निधियों तक पहुँचने की क्षमता होती है—उसकी आँखें भी चित्रों के सौंदर्य को परख सकती हैं, उसके कान भी संगीत की मधुरता का आनन्द ले सकते हैं और वह भी अच्छे साहित्य, नाटक और कला को और जीवन में सुन्दरता की अन्य अभिव्यक्तियों को समझ सकता है और इनमें भले-बुरे की पहचान कर सकता है। उसे इन निधियों तक पहुँचने से रोका नहीं जा सकता, जिन्हें अब तक कुछ विशेषाधिकार रखनेवाले वर्गों ने अपना एकाधिकार-क्षेत्र मान रखा है। परन्तु उस परम्परागत दृष्टिकोण से, जिसके अन्तर्गत प्रौढ़-शिक्षा और साक्षरता को एक ही चीज समझा जाता है, हम अभी

इस लक्ष्य से कोसों दूर हैं। यह संकुचित दृष्टिकोण सत्य का कितना विकृत रूप है और यह कोरी साक्षरता कितना तुच्छ वरदान है। बहुधा यही होता है कि यह अक्षरों का यह ज्ञान जितने दिन में सीखा जाता है उससे भी जल्दी भुला दिया जाता है। अपने अवकाश के समय में, जब वह थककर चूर हो चुका होता है, अक्षरों के रहस्यों को सुलझाने में व्यस्त रहनेवाले प्रौढ़ व्यक्ति के जीवन पर इस साक्षरता की कोई भी छाप नहीं पड़ती क्योंकि वह इसे प्राप्त करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं होता और इस काम के दौरान में वह कुछ बौखलाया-सा रहता है। वास्तव में एक ओर साक्षरता और दूसरी ओर समाज-शिक्षा के रूप में प्रौढ़-शिक्षा की अधिक व्यापक अवधारणा के बीच एक विचित्र पर व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है जिसे अब स्वीकार किया जाने लगा है। हमने अनुभव से यह सीखा है कि जब तक हम निरक्षर प्रौढ़ व्यक्ति के जीवन पर अधिक समृद्ध समाज-शिक्षा का भरपूर प्रभाव न डालें और उसके ज्ञान तथा उसकी अनुभूति के क्षेत्र को व्यापक न बनायें तब तक हम साक्षरता प्रदान करने के अपने सीमित ध्येय में भी सफल नहीं हो सकते। यही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा हम अपने प्रयासों में हर प्रौढ़ व्यक्ति का सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। इस समय की पूरी परिस्थिति पर दृष्टि डालते हुए यह दावा किया जा सकता है कि प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि अब जोर दूसरी चीजों पर दिया जाने लगा है। छोटे पैमाने के प्रयासों के बजाय जब बड़े पैमाने के प्रयासों पर अधिक जोर दिया जाता है; सीमित साक्षरता के बजाय, जो केवल इस बात की आशा होती है कि अँगूठे के प्रामाणिक निशान के बजाय वह आदमी उल्टे-सीधे हस्ताक्षर करना सीख ले, अब उदार दृष्टिकोण से आयोजित समाज-शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा है, जिसमें हर आदमी को समझदार नागरिक बनने और उसमें सांस्कृतिक समझ पैदा करने की प्रशिक्षा भी शामिल है।

लेखा-जोखा

मैंने इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने की कोशिश इसलिए की है कि उससे हमें अपनी समस्या की पृष्ठभूमि तथा भावी रूप दोनों ही का पता चल जाता है। मैं जिन कामों का उल्लेख कर रहा हूँ वे वही नहीं हैं जो वास्तव में किये जा रहे हैं बल्कि वे ऐसे काम हैं जो हमारे सबसे ज्यादा जानकार और मानसिक रूप से सबसे सजग कार्यकर्त्ताओं की राय में किये जाने चाहिए। प्रगतिशील शैक्षणिक प्रयास के केवल कुछ इने-गिने केन्द्रों में ही इस तरह का

कोई काम करने की कोशिश की गयी है—दिल्ली में जामिया मिल्लिया में, जिसे जाकिर हुसैन जैसे व्यक्ति की दूरदर्शिता और स्वर्गीय शफीकुर्रहमान की संगठन बनाने की योग्यता तथा स्फूर्ति का अवलम्ब प्राप्त था; बोलपुर में शान्तिनिकेतन में जिसने अपने शान्त, सुसंस्कृत वातावरण से बाहर निकल कर नये कार्य-क्षेत्रों का विकास किया है और नये सम्पर्क स्थापित किये हैं; और अखिल-भारतीय प्रौढ़-शिक्षा संघ में जिसने उचित विचारों का झण्डा ऊँचा उठाये रखने का प्रयत्न किया है। पिछली कुछ दशाब्दियों में विभिन्न राज्यों में भी कई आन्दोलन चलाये गये हैं और फिर केन्द्रिय शिक्षा परामर्श-मण्डल की रिपोर्ट है जिसमें पहली बार परिस्थिति का विशद तथा पूर्ण सिंहावलोकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है और जिसमें एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी दी गयी है। यही लगभग वह सारा काम है जो हमने इस क्षेत्र में किया है।

जो कुछ हम अभी तक नहीं कर पाये हैं उसमें सबसे पहले तो यह स्पष्ट सत्य हमारे सामने है कि मात्रा की दृष्टि से अभी तक जो कुछ किया गया है वह बहुत ही थोड़ा है। हमारे लगभग ८५%देशवासी न तो छपी हुई पुस्तक का एक भी पृष्ठ पढ़ सकते हैं, न वे मतदान की पर्ची पर समझदारी के साथ निशान लगा सकते हैं और न ही रोजमर्रा के छोटे-छोटे हिसाब लगा सकते हैं। अगर संसार का एक ऐसा मानचित्र बनाया जाये जिसमें साक्षरता की स्थिति दिखायी जाये और पृथ्वी के निरक्षर इलाकों को काला रंगा जाये तो भारत उस मानचित्र में एक अन्धकारपूर्ण महाद्वीप जैसा दिखाई देगा और यह हमारे लिए बड़ी लज्जा की बात है! इस परिस्थिति पर हम लज्जित भी हैं और हमें क्रोध भी आता है—लज्जित इसलिए कि एक ऐसा देश जो संसार की सबसे पुरानी सांस्कृतिक परम्पराओं का मालिक होने पर गर्व करता है, आज इस दुर्दशा को पहुँच गया है; और क्रोध इसलिए कि हम इस कलंक को इतने समय से सहन करते आये हैं। विभिन्न सरकारों या स्वैच्छिक संगठनों की ओर से अनेक बार प्रौढ़-शिक्षा के केन्द्र स्थापित करने की छुट-पुट कोशिशें की गयी हैं और कभी-कभी जन-साधारण के बीच इसके प्रति काफी उत्साह भी जागृत किया गया है। परन्तु निरक्षरता को समूल नष्ट करने के लिए अब तक राष्ट्रव्यापी पैमाने पर जमकर कोई सुसंगठित आन्दोलन नहीं चलाया गया है। इस समस्या की विशालता और उसे तुरन्त हल करने की आवश्यकता के आभास की पहली किरण हमें भारत में शिक्षा के युद्धोत्तरकालीन विकास की योजना में दिखाई देती है जिसमें नौ करोड़ लोगों को साक्षर बनाने का २५-वर्षीय कार्यक्रम बनाया गया है। परन्तु विभिन्न राज्यों की सरकारों ने इस रिपोर्ट को एक तरह से 'सिद्धान्त के रूप में ही

स्वीकृति दी है और यह कोई भी नहीं बता सकता कि इस योजना को पूरी तरह क्रियान्वित भी किया जायेगा कि नहीं और यदि किया जायेगा तो कब। इस स्थिति को किसी भी प्रकार आशाप्रद नहीं कहा जा सकता।

इस समस्या के पूरे महत्त्व को या उसे तत्काल हल करने की आवश्यकता को जितना अधिक आँका जाये कम है। आप व्यक्ति के विकास में दिलचस्पी रखते हों या समाज के पुनर्निर्माण में, लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिकता की शिक्षा देने में दिलचस्पी रखते हों या लोगों की कार्य-कुशलता का स्तर ऊँचा उठाने में, लम्बी-चौड़ी बातें बघारनेवालों द्वारा जन-साधारण का अनुचित लाभ उठाने में दिलचस्पी रखते हों या उन्हें ऐसे लोगों से बचाने में—सारांश यह कि आपकी मुख्य रुचि किसी ओर भी हो—आप इस युग में सुशिक्षित जन-साधारण के बिना बहुत आगे नहीं बढ़ सकते। कुछ भी हो, किसी भी आन्दोलन की सफलता इस बात पर निर्भर है कि उस आन्दोलन में भाग लेनेवाले नर-नारी किस प्रकार के हैं और हम मानव-व्यक्तित्व की निहित शक्तियों को उपयुक्त शिक्षाप्रद प्रभावों की सहायता के बिना उन्मुक्त नहीं कर सकते। किसी भी व्यक्तित्व की गहराई तथा परिपूर्णता अपने मानवीय तथा प्राकृतिक परिवेश के साथ उसके सप्राण सम्बन्ध पर निर्भर करती है। इस सप्राण सम्बन्ध का अर्थ यह है कि वह व्यक्तित्व उस परिवेश में जो कुछ ग्राह्य हो उसे ग्रहण कर ले और अपनी ओर से उस परिवेश को समृद्ध बनाने में यथाशक्ति योग दे। इन्हीं शिक्षाप्रद सम्पर्कों द्वारा मनुष्य में वे लाक्षणिक विशेषताएँ पैदा होती हैं जिनके कारण उसे जंगली लोगों से श्रेष्ठतर समझा जाता है—उसका विवेक, उसकी भले और बुरे की परख और सौन्दर्य का आनन्द लेने की उसकी क्षमता। इन्हीं गुणों के उचित विकास ने उसे विज्ञान तथा दर्शन, न्याय तथा सदाचार और कला के विभिन्न रूप प्रदान किये हैं और जैसे-जैसे मनुष्य का जीवन इन तीन असीम क्षेत्रों से परिचित होता जाता है, वैसे-वैसे उसका व्यक्तित्व अधिक गहरा तथा व्यापक होता जाता है। अपनी पुस्तक "एबाउट एजुकेशन" में सी० ई० एम० जोड ने अपनी लाक्षणिक स्पष्टता के साथ इस विचार को प्रस्तुत किया है :

> "प्रशिक्षित विचारों तथा सुविकसित रुचियोंवाले मनुष्य के लिए संसार सचमुच बड़ा हो जाता है, अधिक विस्तृत और अधिक रोमांचकारी। वह उसमें पहले की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य, अधिक वैविध्य, अपनी सहानुभूति तथा समझ-बूझ के लिए अधिक अवसर देखने लगता है। जहाँ तक संसार को समझने का प्रश्न है, शिक्षा इस सम्बन्ध में तो उसके मन में शंकाएँ पैदा कर देती है कि वह वास्तव में है क्या परन्तु इस विषय में उसका आभास अधिक

व्यापक हो जाता है कि संसार क्या बन सकता है और उसकी दृष्टि में संसार कारखानों, फैक्ट्रियों तथा कार्यालयों का एक सपाट नीरस दृश्य मात्र न रहकर रहस्यमय सृष्टि तथा सौन्दर्य के भण्डार का रूप धारण कर लेता है।"

यदि आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि शिक्षा की बदौलत हम विभिन्न चीजों का अर्थ ज्यादा गहराई से समझने लगते हैं, तो हमारे करोड़ों देशवासियों का जीवन कितना नीरस और निरर्थक है—उन लोगों का जीवन भी जो निरक्षर तथा अशिक्षित हैं और उन लोगों का भी जिन्होंने मौजूदा ढंग की अपर्याप्त शिक्षा प्राप्त की है जो हमारे विचारों को उन्मुक्त नहीं करती और हमारी भावनाओं को छू नहीं पाती! ऐसे लोग विचारों की दुनिया से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं और कला के प्रति उनमें कोई आकर्षण नहीं होता। उनके लिए जीवन 'एक ऐसा कैदखाना होता है जिसकी दीवारें ऐसे क्रूर सत्यों की बनी होती हैं जिनसे बाहर निकल सकने के लिए उनकी आत्मा के पास ज्ञान के पंख नहीं होते।' यह एक अनोखा व्यंग्य है कि कुछ मामलों में तथाकथित शिक्षित वर्गों के लोग अनपढ़ किसानों और दस्तकारों से भी बदतर होते हैं, क्योंकि किसानों और दस्तकारों में तो अपने काम की वजह से कुछ बुद्धिमत्ता और जीवन के बारे में व्यावहारिक समझ-बूझ पैदा भी हो जाती है परन्तु तथाकथित शिक्षित वर्गों के लोग ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं जो बहुधा बिल्कुल बंजर और बनावटी होता है। इसलिए हमारी समस्या और भी व्यापक बन जाती है और उसमें इन दोनों ही कोटियों के लोग आ जाते हैं और प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता से अधिक व्यापक बन जाता है। जब भारत में साक्षरता का व्यापक रूप से प्रसार हो जायेगा तब प्रौढ़-शिक्षा का काम समाप्त न होकर वास्तव में आरम्भ होगा। कारण यह कि जब थोड़ी-बहुत प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेने से हमारी विवेकबुद्धि जाग्रत हो जायेगी और हमारे अन्दर चीजों को जल्दी समझ लेने की क्षमता पैदा हो जायेगी तभी हम विचारों से सम्बन्ध रखनेवाली चीजों में दिलचस्पी लेना शुरू कर सकेंगे या हममें कला के प्रति आकर्षण पैदा होगा। इस समय हम प्रौढ़-(अथवा समाज-) शिक्षा के इसी अधिक व्यापक पहलू पर विचार कर रहे हैं; क्योंकि अन्य देशों के अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि केवल साक्षर बन जाने से किसीको कोई बहुत बड़ा नैतिक अथवा बौद्धिक अथवा व्यावहारिक लाभ नहीं होता। यदि हम लोगों में उचित साहित्यिक रुचियाँ अथवा साहित्य को परखने की क्षमता पैदा किये बिना ही उन्हें केवल पढ़ना सिखा दें; यदि उनमें चारों ओर से होनेवाले लिखित तथा मौखिक प्रचार को आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचने की समझ पैदा हुए बिना ही

उन्हें अखबार पढ़ने या राजनीतिक भाषण अथवा रेडियो सुनने की आदत पड़ जाये; यदि वे बिना सोचे-समझे हर व्यापारिक, औषधियों से सम्बन्धित, राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक विज्ञापन करनेवाले हर ऐरे-गैरे आदमी की बात पर विश्वास कर लेते हों तो उनकी साक्षरता से उन्हें न तो कोई सांस्कृतिक लाभ होगा और न ही यह साक्षरता जीवन के प्रति एक सुसंगत तथा सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने में ही उनकी कोई सहायता कर सकेगी। हमें इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शिक्षा कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो ६ या ७ वर्ष की आयु में आरम्भ होती हो और १४ या १५ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती हो—या बिना किसी खतरे के समाप्त की जा सकती हो। जीवन के अन्त के साथ ही उसका अन्त होता है और हर सभ्य देश में लोगों को केवल बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था में ही नहीं बल्कि प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में भी उपयुक्त शैक्षिक प्रभावों के अधीन रहना चाहिए। जब मनुष्य सीखना बन्द कर दे, जब उसमें नयी चीजों को समझने और परखने की क्षमता न रह जाये तो उसे हम शारीरिक रूप से जीवित होते हुए भी मुर्दा समझ सकते हैं। यदि ऐसी बात है तो यह स्पष्ट है कि समस्या न सीधी-सादी है और न उसे सस्ते में हल किया जा सकता है। उसे उस समय तक हल नहीं किया जा सकता जब तक हमारी नीति इस विषय में एक उदार दृष्टिकोण पर आधारित न हो कि प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ क्या है और वह क्या कर सकती है। इससे कोई लाभ नहीं कि समाज या सरकार अपने अन्तःकरण को सन्तुष्ट रखने के लिए अँधेरी और गन्दी कोठरियों में या टूटे-फूटे छप्परों में या स्कूलों की सड़ी हुई इमारतों में अनेक केन्द्र खोल दे जहाँ उकताये हुए और उत्साहहीन अध्यापक ऐसे प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षा देने का ढोंग रचें जो उनसे भी ज्यादा उकताये हुए तथा उत्साहरहित हों और जिन्हें इन कक्षाओं में आने के लिए प्रलोभन देने पड़ें या उन्हें मजबूर करना पड़े। क्या आप यह विश्वास करते हैं कि प्रौढ़ लोगों में ऐसी कक्षाओं के प्रति दिलचस्पी तथा उत्साह पैदा किया जा सकता है या उन्हें यहाँ लाया भी जा सकता है, उन कक्षाओं में जिन्हें बड़ी सुखद आशा के साथ 'प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र' कहा जाता है और जो छोटी-छोटी बदसूरत कोठरियों में चलायी जाती हैं जहाँ न बैठने का उचित प्रबन्ध होता है न रोशनी का, जहाँ न पुस्तकें होती हैं न नक्शे न अन्य कोई सामग्री ही, जहाँ सामाजिक अथवा सामूहिक कामों के लिए कोई भी सुविधाएँ नहीं होती हैं? मुझे इस बात का पूरा आभास है कि सादगी को कितना महत्त्व दिया जाता है और 'वृक्षों की छाया में चलाये जानेवाले स्कूलों' का विचार कितना काव्यमय है और मैं इस

बात को स्वीकार करता हूँ कि इन दोनों ही का एक उचित स्थान है। परन्तु मैं वर्तमान निराशाजनक परिस्थितियों को जन-साधारण की शिक्षा के लिए सन्तोषजनक मानने को तैयार नहीं हूँ और यदि मितव्ययिता इस दृष्टि से इतनी अच्छी चीज है तो फिर इसका उपदेश देनेवाले स्वयं इस पर अमल क्यों नहीं करते। मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रौढ़-शिक्षा को जन-साधारण का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए एक उत्साहपूर्ण आन्दोलन के रूप में ही संगठित किया जाना चाहिए—इस काम को या तो इस ढंग से किया जाना चाहिए या फिर किया ही नहीं जाना चाहिए। इस काम में दिल-चस्पी रखनेवाले समाज के सबसे बुद्धिमान् लोगों को पूरी तरह इन केन्द्रों की सेवा में लग जाना चाहिए—इस प्रकार के जो केन्द्र साक्षरों को साक्षरता प्राप्त करने के बाद की शिक्षा देने के लिए हों उन्हें 'जन महाविद्यालय' ('पीपुल्स कालेज') कहना अधिक उचित होगा। और इन केन्द्रों की भौतिक परिस्थितियाँ उपलब्ध वित्तीय साधनों तथा सूझ-बूझ की सीमाओं के भीतर यथासम्भव श्रेष्ठतम होनी चाहिए—एक छोटा-सा पर सुविधाजनक पुस्तकालय तथा वाचनालय, एक व्याख्यान का कमरा, विचार-गोष्ठियों और कला तथा शिल्प के काम के लिए कुछ कमरे और कुछ ऐसी सामाजिक सुविधाएँ जो किसी भी अच्छे क्लब में उपलब्ध रहती हैं। यह जरूरी नहीं है कि इन केन्द्रों की इमारत बहुत ऐश-आराम की जगह हो—मैं ऐश-आराम की माँग नहीं कर रहा—और इस इमारत का आकार स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। पर यह जरूरी है कि यह इमारत साफ-सुथरी और कलापूर्ण हो, जहाँ लोग पढ़ने के लिए, या बातें करने के लिए, या विचार-विनिमय के लिए, या दोस्तों से मिलने के लिए, या अवकाश के समय अपनी रुचि का कोई काम करने के लिए अपने आप आया करें, क्योंकि इन कामों के लिए यह उस इलाके में सबसे अच्छी जगह होगी।

धनाभाव का बहाना

क्या यह लक्ष्य आवश्यकता से अधिक ऊँचा है? क्या यह तर्क दिया जायगा कि हमारा 'निर्धन' देश इस पैमाने की शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने का खर्च नहीं उठा सकता? वास्तव में केवल एक ही प्रकार की दरिद्रता होती है जिसका कोई इलाज नहीं होता और वह होती है **उत्साह की दरिद्रता**। यदि हम गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न करें तो अन्य सभी प्रकार की दरिद्रताएँ दूर की जा सकती हैं। यह एक बहुत पिटी हुई बात है फिर भी मैं उसे दोहराना चाहूँगा कि

इसी 'निर्धन' देश ने एक ऐसे युद्ध के लिए जिसे छेड़ने में उसका कोई हाथ नहीं था, करोड़ों रुपये खर्च कर दिये थे। इन परिस्थितियों को देखते हुए इस बात का क्या कोई कारण हो सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी, जो शान्ति और मानवीय गुणों का मूल आधार है, इतना ही बड़ा प्रयास न किया जा सके? मेरा विश्वास है कि राष्ट्र के पुनर्निर्माण की बड़ी-बड़ी समस्याओं को संकुचित वित्तीय दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए : "हमारे बजट में इतने करोड़ की गुञ्जाइश है और इतने 'बड़े' पैमाने पर अकेले प्रौढ़-शिक्षा पर ही इतना खर्च आ जायगा"—इसलिए व्यवहारतः असम्भव होने के कारण इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता! मेरी राय में समस्या पर विचार करने का सही तरीका यह नहीं है कि हम एक अच्छी शिक्षा-व्यवस्था का या एक अच्छी स्वास्थ्य-नीति चलाने का खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकते बल्कि हमें इस तरह सोचना चाहिए कि इन चीजों के बिना क्या हमारा काम चल सकता है। यदि इस बात को स्वीकार किया जाता है कि कोई भी देश बहुत बड़ी हद तक अस्वस्थ और जाहिल और सांस्कृतिक दृष्टि से दरिद्र नहीं रह सकता तो इसके लिए धन जुटाना सरकार, वित्त-विभाग और राष्ट्रीय अर्थतन्त्र की योजना बनानेवालों की जिम्मेदारी है, और यदि इसके लिए बड़े पैमाने पर उद्योगों की स्थापना करना या कृषि की आधुनिक प्रणालियाँ अपनाना या नये स्रोत ढूँढ़ना और सम्पदा के बेहतर वितरण की कोशिश करना आवश्यक हो तो हमें इन योजनाओं को पूरा करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए और पैसा न होने के कारण तात्कालिक महत्त्व रखनेवाली योजनाओं को रोकना नहीं चाहिए। मैं समझता हूँ कि इस पुरानी भारतीय कहावत में कि "पैसा हाथ का मैल है" बहुत कुछ सचाई है। फिर हम अपने सांस्कृतिक भविष्य को उज्ज्वल बनाने में पैसे की कमी को क्यों बाधक बनने दें!

अन्य देशों का अनुभव

मैं जो बात कह रहा हूँ वह कोई कोरी कल्पना नहीं है जिसे संसार में कहीं आजमाकर न देखा जा चुका हो। इस क्षेत्र में अन्य देशों ने जो कुछ किया है या जो कुछ करने की कोशिश कर रहे हैं उसकी ओर ध्यान दिलाना बहुत उपयोगी होगा। अमरीका और सोवियत संघ में, जिनकी राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था एक-दूसरे से मूलतः भिन्न है, इस प्रकार की शिक्षा के महत्त्व को अच्छी तरह समझा गया है और स्कूलों तथा कालेजों, क्लबों तथा इंस्टीच्यूटों, संगीत तथा नाटक की मण्डलियों और विचार-गोष्ठियों और जन-साधारण की संस्कृति तथा उनकी कार्य-क्षमता के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए काम करनेवाली कई दूसरी

संस्थाओं के रूप में व्यापक सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। डेनमार्क की 'लोक पाठशालाओं' ने संस्कृति को उसके 'शीशमहल' से बाहर निकालकर खेतों-खलिहानों और फैक्टरियों तथा कारखानों में काम करनेवाले साधारण लोगों को एक उपहार के रूप में भेंट कर दिया है, और इसके लिए उन्हें जो अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई है वह सर्वथा उचित ही है। इन स्कूलों को देखने के बाद एक निरीक्षक ने कहा था, "सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि विद्यार्थी कितना ज्ञान प्राप्त करते हैं बल्कि सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि उनके विचार तथा भावनाएँ जागृत हो उठती हैं। यह हो सकता है कि उन्हें जो कुछ पढ़ाया जाय उसमें से बहुत-कुछ वे भूल जायें; पर जब वे स्कूल छोड़ते हैं तो वे बिलकुल ही बदल चुके होते हैं, वे सुनना, देखना, सोचना और अपनी शक्तियों का उपयोग करना सीख चुके होते हैं",—और यह कोई छोटी बात नहीं है! और यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि इन स्कूलों का काम प्रधानतः संस्कृति से सम्बन्ध रखता है, परन्तु न्यूनाधिक प्रत्यक्ष रूप से कृषि का आम स्तर ऊँचा उठाने में भी इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। १९३९ से १९४५ तक ब्रिटेन को इतिहास के सबसे भयानक युद्ध का सामना करना पड़ा और इस युद्ध के समाप्त होने पर बुरी तरह तबाह हो चुका था और वित्तीय दृष्टि से उसकी हालत बेहद खराब थी—पर उसका मनोबल नहीं टूटा था! १९४४ में वहाँ की पार्लमेण्ट ने एक नये शिक्षा-अधिनियम को स्वीकृति दी जिसके फलस्वरूप उसके शिक्षा के बजट में, जो यों भी काफी बड़ा था, दस करोड़ पौंड की वृद्धि और कर दी गयी। इस अधिनियम के अन्तर्गत अन्य बातों के अतिरिक्त प्रौढ़-शिक्षा की एक समृद्ध, उदार तथा वैविध्यपूर्ण व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया है। इस व्यवस्था की बदौलत वहाँ के सभी नागरिक राष्ट्रीय संस्कृति के बहुत-से वरदानों और आधुनिक प्राविधिक चमत्कारों से लाभान्वित हो सकेंगे। मैं विशेष रूप से जन-महाविद्यालयों की स्थापना का उल्लेख करूँगा (इन्हें वहाँ 'कंट्री कालेज' कहते हैं); १५ या १६ वर्ष से अधिक अवस्था के सभी नौजवानों के लिए इनमें सप्ताह में दो या तीन बार आधे दिन के लिए या (देहातों में) एक पूरे सत्र के दौरान में लगातार जाना अनिवार्य होगा। ये कालेज 'आगे की शिक्षा' प्रदान करेंगे जिसमें उनकी विभिन्न रुचियों को विकसित करने के लिए और उन्हें आधुनिक नागरिकता के कष्टसाध्य दायित्वों के लिए तैयार करने के लिए शारीरिक, व्यावहारिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण शामिल होगा। मैं कैम्ब्रिज के निकट बाटिंग्शैम में ऐसी ही एक संस्था देखने गया था, जहाँ पर गहरी अन्तर्दृष्टि तथा कल्पना-शक्ति रखनेवाले हेनरी

मारिस नामक एक अंग्रेज शिक्षाशास्त्री ने आस-पास के गाँवों की शिक्षा-सम्बन्धी तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक कालेज खोले हैं। यह कालेज एक बहुत ही आकर्षक योजना के अनुसार निर्मित तथा सभी आवश्यक सुविधाओं से परिपूर्ण भवन में स्थापित किया गया है और वहाँ पर नाना प्रकार के ऐसे सामाजिक, विद्योपार्जन-सम्बन्धी, व्यावहारिक तथा कलात्मक कामों के लिए पूरी व्यवस्था है, जिनका यहाँ के स्थानीय निवासी अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन को समृद्ध बनाने के लिए स्वागत तथा उपयोग करते हैं। सी० ई० एम० जोड ने अपनी अत्यन्त रोचक पुस्तक 'एबाउट एजुकेशन' में इंपिंगटन के ऐसे ही एक कालेज का बहुत ही उत्साह के साथ वर्णन किया है। इस विवरण की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना बहुत उपयोगी होगा :

> "इस इमारत का एक पूरा हिस्सा, जिसमें रसोई, कैण्टीन, बैठने के कमरे, खेल का कमरा, व्याख्यान का कमरा और पुस्तकालय सभी कुछ है, प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिए अलग कर दिया गया है।···यहीं गाँव के जीवन का केन्द्र है; यहीं पर विभिन्न क्लब, स्थानीय सोसायटियाँ तथा संगीत-मण्डलियाँ अपनी सभाएँ करती हैं; यहीं पर विवादमण्डल अपने वाद-विवाद के कार्य-क्रम आयोजित करता है।···वास्तव में इस कालेज में हर समय तरह-तरह के कामों की हलचल रहती है जहाँ आप खा-पी सकते हैं, नाच सकते हैं, मनो-रंजन कर सकते हैं और प्रेम कर सकते हैं और साथ ही कुछ सीख भी सकते हैं, व्याख्यान सुन सकते हैं, बातें कर सकते हैं और खाना पकाने, धातु और लकड़ी का काम करने, चित्र बनाने और संगीत आदि कला-कौशल सीख सकते हैं।···काश मुझमें चीजों का वर्णन करने की ऐसी क्षमता होती कि मैं उस वातावरण की, जिसमें ये सारे काम होते हैं, सुख-सुविधाओं का पूरी तरह चित्रण कर सकता। मैं जोर देकर केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इस इमारत में घुसते ही प्रकाश और वायु और खुली जगह का आभास होता है; हमारे हृदय पर सुन्दर तथा सामंजस्यपूर्ण रेखाओं की, चित्ताकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा की और दीवारों पर अंकित चित्रकला की श्रेष्ठतम कृतियों की गहरी छाप पड़ती है।···"

ब्रिटिश शिक्षा अधिनियम में आयोजित जन-महाविद्यालयों या युवक-सेवा जैसी संस्थाओं के माध्यम से ही राष्ट्रव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं चलाया जा रहा है। वहाँ पर्याप्त साधनों से सम्पन्न बहुत-सी दूसरी सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ ऐसी हैं जो इस समस्या के विभिन्न पहलुओं को हल करने की कोशिश कर रही हैं, जैसे वर्कर्ज़ एजुकेशनल एसोसिएशन (मजदूर शिक्षा-संघ), ब्रिटिश

कउंसिल जिसका काम अँग्रेजों तथा अन्य देशों के लोगों के लिए ब्रिटिश संस्कृति की व्याख्या करना है और आर्ट्स काउंसिल जो बड़े उत्साह और बड़ी सूझ-बूझ के साथ इस बात का प्रयत्न करती रही है कि बेहतर संगीत तथा नाटक और फिल्में जन-साधारण तक पहुँच सकें और वे इनका आनन्द ले सकें। इस प्रकार के आकर्षक प्रयासों की तरफ एक रवैया तो यह हो सकता है कि हम उन्हें इस देश के लिए आवश्यकता से अधिक काल्पनिक कहकर खेद प्रकट करते हुए उन पर विचार ही न करें। परन्तु मेरे मन में यह आशा है कि धीरे-धीरे अधिकाधिक प्रशासकों तथा शिक्षाशास्त्रियों को इस मत के पक्ष में लाना सम्भव होता जायेगा कि कुछ समय बाद हमारे देशवासियों को ही बड़े पैमाने की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। यदि ये सारी चीजें इंगलैण्ड जैसे देश में आवश्यक हैं, जहाँ लगभग शतप्रतिशत साक्षरता है और जहाँ शैक्षिक तथा सांस्कृतिक साधन कहीं बड़े पैमाने पर उपलब्ध हैं, तो भारत के गाँवों के लिए तो, जहाँ के रहनेवाले बहुधा मानवोचित स्तर से नीचा मानसिक तथा भौतिक जीवन व्यतीत करते हैं, उपयुक्त सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है।

इस क्षेत्र में काम करनेवाले के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि प्रौढ़ लोगों की रुचि तथा उनका ध्यान कैसे आकर्षित किया जाये। इसका सैद्धान्तिक उत्तर तो यह है कि प्रौढ़-शिक्षा को इतना उपयोगी तथा आकर्षक बना दिया जाये कि प्रौढ़ स्वाभाविक रूप से उसकी ओर खिंचकर आने लगें। इस क्षेत्र में काम करनेवाले को यह समझना चाहिए कि जीवन के दुर्व्यवहार के खिलाफ संघर्ष करनेवाले वयस्क तथा थके हुए लोगों को वर्णमाला के रहस्यों से जूझने में कोई आनन्द नहीं मिलता और जो चीज किसी भी प्रकार स्कूल से मिलती-जुलती हो या अपने आपको स्कूल कहती हो वह उन्हें आकर्षित नहीं कर सकती। इसलिए इस क्षेत्र में काम करनेवाले को दो सुखद भ्रम अपने दिमाग से निकाल देने चाहिए; एक तो यह कि प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र एक प्रकार का कामचलाऊ स्कूल होता है और दूसरा यह कि इस केन्द्र में उसका काम शिक्षा देने का है! उनकी तरफ बिलकुल ही दूसरा रवैया अपनाया जाना चाहिए। हमें उन चीजों से शुरुआत करनी चाहिए जिनमें उन्हें स्वाभाविक रूप से दिलचस्पी हो, जैसे उनकी फसलें और मवेशी, उनके खेल-कूद और क्रीड़ाएँ, उनके सामाजिक तथा धार्मिक उत्सव, उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ और समस्याएँ, यहाँ तक कि उन लोगों के खिलाफ जो उनका जीना दूभर कर देते हैं, उनकी छोटी-छोटी शिकायतें भी। इस प्रकार यदि हम उनके पास तिरस्कार की भावना लेकर या प्रचार करने के उद्देश्य से न जाकर, दिल खोलकर उनसे बात करें तो

वे बहुधा आशातीत उत्साह तथा दिलचस्पी दिखाते हैं और एक बार उनमें उत्साह और दिलचस्पी पैदा हो जाने पर समझदार और सूझ-बूझ रखनेवाला अध्यापक उन्हें न केवल अपनी व्यावहारिक समस्याओं को उचित ढंग से समझने की दिशा में बल्कि विचारों तथा संस्कृति के समृद्ध जगत् में भी ले जा सकता है। सर रिचर्ड लिविंग्सटन ने अपनी प्रख्यात पुस्तक "द फ्यूचर इन एजुकेशन" में एक बहुत अच्छी बात कही है :

> "समस्त प्रेरणा का स्रोत इस बात में निहित होता है कि हम कोई काम किस भावना से करते हैं; और यदि आप लोगों में यह आभास पैदा करा सकें कि मानव-सभ्यता का क्या अर्थ है तो आप उनमें ज्ञान प्राप्त करने तथा उसका उपयोग करने की प्रेरणा भी जागृत कर देंगे। यदि मनुष्य को निःस्वार्थ बना दिया जाये और उसमें जिज्ञासा पैदा कर दी जाये तो वह कुछ भी कर सकता है; इन गुणों के बिना संसार का समस्त ज्ञान भी कोई महत्त्व नहीं रखता।"

यह बात भारत के प्रौढ़ों के बारे में भी उतनी ही सत्य है जितनी अंग्रेज प्रौढ़ों के बारे में। परन्तु हमारा तरीका अवश्य ही भिन्न होगा। औसत भारतीय किसान या मजदूर अपनी दयनीय आर्थिक दशा के बोझ के नीचे इतनी बुरी तरह दबा रहता है कि उसे संस्कृति के प्रति रुचि दिखाने या उसका आनन्द लेने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती। यदि आप उसकी शिक्षा इन ठोस तथा अकाट्य तथ्यों से आरम्भ करें और ईमानदारी तथा साहस के साथ उनका मुकाबला करें तो आप शीघ्र ही देखेंगे कि उसमें विचारों को बन्धनों से मुक्त करनेवाले ज्ञान और आत्मा को आलोक तथा प्रेरणा प्रदान करनेवाली संस्कृति दोनों ही के प्रति रुचि पैदा होगी। भविष्य में चलकर भारत में 'जन महाविद्यालयों' अथवा 'सामुदायिक केन्द्रों' की कल्पना जिस रूप में मैं करता हूँ उस रूप में वे विभिन्न बौद्धिक स्तरों के लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करेंगे और विभिन्न प्रकार के उपयोगी तथा उदारता की भावना पैदा करनेवाले कार्यों की व्यवस्था करेंगे—कुछ ऐसे कार्य जिनसे व्यावहारिक कार्य-कुशलता बढ़ेगी, कुछ ऐसे जिनसे उनमें साहित्यिक तथा सांस्कृतिक रुचियाँ पैदा होंगी, और कुछ ऐसे कार्य भी होंगे जिनसे उनमें विवेकपूर्ण सक्रिय तथा सामाजिक दृष्टि से सचेतन नागरिकता की भावना उत्पन्न करेंगे। वे जीवन से सर्वथा असम्बद्ध औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ न होकर उस जीवन का अभिन्न अंग होंगी और उनका विशेष कार्य इस जीवन को अधिक तर्कसंगत, अर्थपूर्ण, तथा प्रेरणाप्रद ढंग से प्रस्तुत करना होगा। हमारे देश में हाल ही में जो जनता

कालेज स्थापित किये गये हैं और हमारी सामुदायिक योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार-खण्डों में सामाजिक शिक्षा का जो काम किया जा रहा है, वे सब इसी दिशा में संकेत करते हैं। इस स्तर पर देखा जाये तो प्रौढ़-शिक्षा का काम बहुत दुःसाध्य उत्तरदायित्व है और स्पष्टतः यह काम अल्प वेतन पानेवाले, काम के बोझ से दबे हुए, निरुत्साह अथवा कम शिक्षा पाये हुए कार्यकर्त्ताओं के बस का नहीं है। यह आवश्यक है कि कालेज और विश्वविद्यालय भी सक्रिय रूप से इस काम में हाथ बँटायें और उनके अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अपने ज्ञान तथा संस्कृति में ऐसे लोगों को भी सम्मिलित करना सीखें जो उन अवसरों से वंचित रखे गये हैं जो सौभाग्यवश इन्हें प्राप्त रहे हैं। ऐसा करके वे जन-साधारण के अन्धकारमय जीवन में न केवल स्वच्छ हवा के झोंके और ज्योति की किरण पहुँचायेंगे बल्कि उन्हें यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं में जन-साधारण को साझेदार बनाकर स्वयं उनके अपने विचार अधिक स्पष्ट हो गये हैं और संसार के बारे में उनकी समझ-बूझ अधिक गहरी तथा अधिक व्यावहारिक हो गयी है। क्योंकि वह व्यक्ति जो केवल दूसरों से लेता है और दूसरों को कुछ देने को तैयार नहीं होता वह न केवल नैतिक दृष्टिसे अपराधी होता है बल्कि मानसिक क्षेत्र में भी वह बहुत ही सतही आदमी बना रहता है, जिसमें वह प्रतिभा तथा बुद्धिमत्ता नहीं होती जो समाजोपयोगी कार्य करने से पैदा होती है। इस प्रकार विश्वविद्यालयोंकी बस्तियों तथा विश्वविद्यालय प्रसार आन्दोलन द्वारा किये जानेवाले कामों को विद्यार्थियों के सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन का एक बहुमूल्य अंग समझा जाना चाहिए और हमारे विश्वविद्यालयों में उसे पूरी मान्यता प्रदान की जानी चाहिए।

अखिल-भारतीय प्रौढ़-शिक्षा संघ का काम

परन्तु वर्तमान परिस्थिति का बहुत निराशाजनक चित्र खींचना भी उचित नहीं। पिछले कुछ वर्षों में कार्यक्रम पर बहुत काफी विचार किया गया है और परामर्श-मण्डल की युद्धोत्तरकालीन योजना तथा उसकी समितियों की रिपोर्टों में हमें काफी विस्तार के साथ इस बात का संकेत मिलता है कि हमें क्या करना है। कुछ भी हो किसी भी कार्यक्रम को कागज पर इस तरह नहीं तैयार किया जा सकता कि बाद में उसमें कोई हेर-फेर करने की जरूरत ही न पड़े; व्यवहार की कसौटी पर ही कार्यक्रमों की न केवल परख होती है बल्कि वहीं वे पूरी तरह विकसित होते हैं। हर क्रिया स्वयं अपनी गति के नियम निर्धारित करती है जिनसे न केवल खरे और खोटे की, व्यावहारिक तथा अव्यावहारिक की परख होती है

बल्कि वे नये दृष्टिकोणों तथा नये लक्ष्यों को भी जन्म देते हैं। हो सकता है कि हम किसी जगह पर बहुत छोटे पैमाने पर काम शुरू करें और वहाँ केवल सामाजिक सम्पर्क, या विचार-गोष्ठी या साक्षरता-केन्द्र अथवा खेलकूद के क्लब की ही सुविधा प्रदान कर सकें। परन्तु यदि हमारा मनोवैज्ञानिक रवैया ठीक होगा और हमारे कार्यकर्त्ताओं में लगन और समझ होगी तो हम देखेंगे कि हमारे सामने बहुत-से नये तथा उपयोगी मार्ग उन्मुक्त होते जा रहे हैं। मैंने अपने अनुभव के दौरान में अनेक बार ऐसा होते देखा है और मुझे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि दूसरों के अनुभव से भी इसी बात की पुष्टि होगी। भारतीय प्रौढ़-शिक्षा संघ जैसा संगठन दो तरीकों से बहुत उपयोगी सेवा कर सकता है। उसे **जनमत** तथा राजनीतिक प्रभाव **अपने पक्ष में जुटाना** चाहिए ताकि राष्ट्रव्यापी पैमाने पर प्रौढ़-शिक्षा के मोर्चे पर फौरन प्रहार करने का आश्वासन हो जाये और उसे इस बात पर नजर रखनी चाहिए कि सभी राज्य अच्छी तरह सोच-समझकर इस दिशा में अपने कार्यक्रम आरम्भ करें। दूसरे उसे **प्राविधिक नेतृत्व** प्रदान करना चाहिए, अर्थात् इस कार्य में संलग्न सरकारी अथवा गैर-सरकारी संगठन उसके सामने जो समस्याएँ रखें उनके बारे में वह उन्हें बुद्धिसंगत परामर्श दे; और उसे प्रदर्शनार्थ नये विचारों के बारे में छोटे पैमाने पर कुछ प्रयोग भी करने चाहिए, उदाहरण के लिए कोई जनता कालेज स्थापित करके, अगुवाई करनेवाले कार्यकर्त्ताओं के लिए विशेष प्रशिक्षण का प्रबन्ध करके, सामुदायिक कल्याण का काम हाथ में लेकर तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों द्वारा। यह संगठन और दूसरे गैर-सरकारी संगठन इस प्रकार का कुछ काम अधिकाधिक बड़े पैमाने पर कर रहे हैं और हाल ही में शिक्षा मन्त्रालय ने आधारभूत शिक्षा का जो राष्ट्रीय केन्द्र स्थापित किया है वह इस कार्य को अधिक सुगठित रूप दे सकता है तथा उचित दिशा में निर्देशित कर सकता है।

शिक्षा के नये माध्यमों का उपयोग

परन्तु इस कार्यक्रम का एक खास पहलू है जिसका मैं उल्लेख करना चाहूँगा क्योंकि हमारे देश में उसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है—अर्थात् यह कि इस क्षेत्र में प्रचार के फिल्म, रेडियो तथा अखबार आदि साधनों की क्या भूमिका हो सकती है। 'जन-संचार के माध्यमों' के बारे में यूनेस्को के एक आयोग में काम करते समय यह बात स्पष्ट रूप से मेरी समझ में आ गयी। कई उन्नत देशों में ये प्रचार के शक्तिशाली साधन बन गये हैं और जागृत तथा प्रगतिशील विचार रखनेवाले लोग इनके कार्यक्रमों को गुण तथा मात्रा की दृष्टि

से सुधारने की चेष्टा करते हैं। हमारे देश में ये साधन अभी अपेक्षतः अपने शैशवकाल में हैं और इसलिए हमें उनके प्रसार तथा विकास और उन्हें उचित दिशा प्रदान करने की दोहरी समस्या को एक साथ हल करना होगा। कई बातों की दृष्टि से यह हितकर भी है क्योंकि अमरीका और रूस जैसे देशों में कुछ शक्तिशाली गुटों ने या सरकार ने उन पर अपना शिकंजा इतनी मजबूती से कस रखा है कि आसानी से उसे ढीला नहीं किया जा सकता। यद्यपि भारत में भी आम प्रवृत्ति और संगठन इसी प्रकार का है पर इस दोष की जड़ें अभी इतनी गहराई तक नहीं पहुँच पायी हैं। हमारे यहाँ न तो कोई शक्तिशाली हालीवुड है, न एक-दूसरे से टक्कर लेनेवाले व्यावसायिक रेडियो स्टेशन हैं और न अखबारों के अपवित्र गँठजोड़ हैं, हालाँकि यह खतरा हमारे यहाँ भी पैदा होता जा रहा है। इसलिए सजग राष्ट्रीय सरकार के लिए ऐसी नीति अपनाना ज्यादा आसान है जिसके द्वारा इन शक्तिशाली साधनों को ऐसे लोगों के हाथों में पूरी तरह चले जाने से रोका जा सके जिनमें न सामाजिक चेतना होती है, न सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना होती है और जो 'लोकप्रियता' को ही सफलता की एकमात्र कसौटी मानते हैं। भावी संसार में यह फैसला करने का अधिकार बड़े-बड़े थैलीशाहों के हाथों में नहीं होना चाहिए कि नागरिकों को क्या बौद्धिक तथा सांस्कृतिक आहार दिया जाये। परन्तु यह तभी हो सकता है जब जनता और सरकार दोनों ही में इतनी समझ हो कि वे इन सभी संस्थाओं को एक ही सुसम्बद्ध शिक्षा-प्रणाली का अभिन्न अंग मानें, ताकि स्कूल, कालेज, प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र, पत्र-पत्रिकाएँ, फिल्म, नाटक, रेडियो कार्यक्रम सभी एक ही दिशा में—सांस्कृतिक समृद्धि तथा अन्तरराष्ट्रीय सद्भावना की दिशा में—प्रयत्नशील रह सकें और वे ऐसे परस्पर-विरोधी उद्देश्य लेकर काम न करें जिनसे वे सुपरिणाम नष्ट हो जाते हैं जो अन्यथा प्राप्त किये जा सकते थे। कई बातों में ये माध्यम साधारण शिक्षा-संस्थाओं से ज्यादा तेजी से तथा कारगर ढंग से काम करते हैं और हमारे जैसे देश में जहाँ अभी इतना बहुत-सा काम करने को पड़ा है हम दृश्य तथा श्रव्य शिक्षा के इन शक्तिशाली साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकते। मैं यह अनुरोध करूँगा कि इन साधनों को उचित ढंग से अपनी शिक्षा-व्यवस्था का अंग बना लेने के उद्देश्य से इस समस्या का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाये।

विजय किसकी होगी—मानव की या पाशविकता की ?

मैं आपका ध्यान एक ऐसी समस्या की ओर आकर्षित कराना चाहूँगा जिसे आम तौर पर प्रौढ़-शिक्षा के काम का अंग नहीं माना जाता, परन्तु जो

इतनी महत्त्वपूर्ण है तथा जिसे तत्काल हल कर लेना इतना आवश्यक है कि मेरे विचार में इस समय वह अन्य सभी समस्याओं से बढ़कर है। यदि उसे साहस तथा दूरदर्शिता के साथ न हल किया गया तो किसी भी दूसरी समस्या के संतोषजनक ढंग से हल किये जाने की आशा नहीं की जा सकती। मेरा संकेत उस सांस्कृतिक संकट की ओर है जिससे होकर हम इस समय गुजर रहे हैं, और साम्प्रदायिक एकता तथा सद्भावना की उस समस्या की ओर जिस पर उसके अधिक व्यापक अर्थ में इस पुस्तक में अन्यत्र विचार किया गया है। पिछले कुछ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिकता के उन्माद के फलस्वरूप जो कुछ हुआ है वह शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले सभी लोगों के लिए लज्जा और घोर निराशा का विषय है, जिन्होंने बड़ी बेबसी के साथ अपनी आँखों के सामने शिष्टताओं तथा सभ्य जीवन की मान्यताओं को ढहते देखा है। जैसा कि डा० जाकिर हुसेन ने एक बार बहुत ही उचित शब्दों में कहा था, सवाल यह नहीं है कि कौन-सा दल जीतेगा या हारेगा बल्कि सवाल यह है कि क्या पाशविकता को मानवता पर विजय प्राप्त करने दिया जायेगा। प्रौढ़-शिक्षा के सभी कार्यक्रमों में हमारा बुनियादी तथा तात्कालिक लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम इन मनोवोचित मानदण्डों के छिन्न-भिन्न तारों को फिर से जोड़ें और सभी नर-नारियों में शिष्टता, सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और मनुष्य मात्र का सम्मान करने की भावनाओं के प्रति सक्रिय आस्था पैदा करें। यहाँ पर मैं वे सभी उपाय तो नहीं बता सकता जिनसे यह काम किया जा सकता है। हमें इस समान उद्देश्य को सदैव अपने सामने रखना सीखना चाहिए परन्तु इस उद्देश्य को पूरा करने के विभिन्न उपायों के बारे में हम अपनी विशिष्ट परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए विचार कर सकते हैं। परन्तु एक विचार—बल्कि विचार का एक अंकुर—ऐसा है जिसने मुझे हमेशा आकर्षित किया है और मैं उसे ज्यों का त्यों आपके सामने रख देना चाहूँगा कि आप स्वयं उसके बारे में फैसला कर लें कि वह किस योग्य है। मैं चाहता हूँ कि हर गाँव और कस्बे और शहर में, हर स्कूल और कालेज और विश्वविद्यालय में **शांति-दल** स्थापित किये जायें जिनमें सभी स्थानीय सम्प्रदायों के सदस्य हों और वे यह शपथ लें कि जहाँ कहीं भी साम्प्रदायिक उन्माद और उपद्रव सर उठायेगा वहाँ वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे रोकने की कोशिश करेंगे और यदि आवश्यक हुआ तो इसमें अपने प्राणों की बलि तक दे देंगे। बिहार के साम्प्रदायिक दंगों के समय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो बात बड़े साहस के साथ कही थी उसे सभी दलों तथा सम्प्रदायों के लाखों लोगों को दोहराना चाहिए। उन्होंने कहा था, 'अगर आप किसी मुसलमान

को मारना चाहते हैं तो आपको पहले मुझे मारना होगा और तब आप मेरी लाश को कुचल कर ही ऐसा करने के लिए आगे बढ़ सकेंगे।' यदि ये शांति-दल, जिसके सभी सदस्य एक जैसे वस्त्र पहनते हों और एकता कायम रखने के लिए वचनबद्ध हों, गम्भीरता के साथ क्रोध से पागल भीड़ के सामने यह घोषणा करें कि 'अगर आप किसी हिन्दू या मुसलमान या सिख को मारना चाहते हैं तो आपको पहले हमें मारना होगा और तब आप हमारी लाशों को कुचलकर ही ऐसा करने के लिए आगे बढ़ सकेंगे'—अगर वे ऐसा कहें और अपनी बात पर दृढ़ रहें तो मेरा विश्वास है कि पागलों की भीड़ भी उन पर अंधाधुंध हमला करनेका साहस नहीं करेगी। और यदि वे एक-दो बार हमला कर भी दें तो मेरी समझ में इससे ज्यादा सराहनीय या गौरवशाली या उपयोगी बलिदान कोई दूसरा नहीं हो सकता—मनुष्य के बीच भ्रातृत्व की भावना और सभ्य आचरण की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों की बलि दे देना। ये मान्यताएँ जीवन में राजनीतिक झगड़ों और गुटबाजियों से कम महत्त्व नहीं रखतीं। क्योंकि यदि हम अपने प्रिय राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त भी कर लें, या सारी दुनिया ही हमारे कब्जे में आ जाये, और इस चक्कर में हमारी आत्मा हमसे छिन जाये तो हमें क्या फायदा होगा? कहीं ऐसा न हो कि समय निकल जाने पर हमें यह अनुभव हो कि हमने अपनी 'सफलता' के लिए बहुत भारी मूल्य चुकाया है और यह कि विजय के क्षण में हमें उससे कुछ अरुचि-सी हो गयी है? मैं इस महान् देश में रहनेवाले सभी राजनीतिक नेताओं, अध्यापकों तथा सभी बच्चों के माता-पिता से, सभी नवयुवकों तथा नवयुवतियों से बड़े अनुरोध के साथ यह निवेदन करूँगा कि वे इस बात को समझने की कोशिश करें कि पिछले कुछ वर्षों में हम किस दिशा में आगे बढ़ते रहे हैं और यदि हमारे ऊपर ईश्वर की अनुकम्पा न होती और कुछ असाधारण प्रतिभावाले व्यक्ति साहसपूर्वक हमारा पथ-प्रदर्शन न कर रहे होते तो हम कहाँ पहुँच गये होते और मैं यह भी निवेदन करूँगा कि वे इन प्रवृत्तियों का बिलकुल अन्त कर दें। सवाल केवल इतना ही नहीं है कि पाकिस्तान में या भारत में कुछ सौ या कुछ हजार लोग मार डाले गये। यदि इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ जारी रहीं तो मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध सदा के लिए विषाक्त हो जायेंगे; इन प्रवृत्तियों से शिष्टता और दया और पड़ोसियों के प्रति सद्व्यवहार के गुण नष्ट हो जायेंगे; इन प्रवृत्तियों से संस्कृति तथा सभ्यता के आधारभूत मूल्यों का हनन हो जायेगा। हम लोग, जो दूसरों को पढ़ाते हैं और शिक्षा देते हैं और बेहतर जीवन के लिए संघर्ष करते हैं, इस परिस्थिति को सहन नहीं कर सकते और यह हमारा कर्त्तव्य और विशेषाधिकार

है कि हम सभ्य व्यवहार की रक्षा के लिए इस भीषण संघर्ष में जान की बाजी लगाकर कूद पड़ें। मुझे विश्वास है कि कोई भी इस संघर्ष से अलग रहने का साहस नहीं करेगा क्योंकि जैसा कि कुरान शरीफ़ में कहा गया है, हमें चाहिए कि हम। "उस महाविनाश से सावधान रहें, क्योंकि जब वह प्रलयंकरी क्षण आयेगा उस समय वह केवल उन लोगों तक ही सीमित नहीं रहेगा जो विशेष रूप से पापी रहे हैं (बल्कि वह सबको अपनी लपेट में ले लेगा)।"

१३

लोकतांत्रिक नागरिकता के लिए प्रौढ़ लोगों की शिक्षा[1]

आज अपने देश में हम एक गंभीर परिस्थिति का सामना कर रहे हैं और हमें अपने समस्त विचार तथा अपनी सारी शक्ति इस चुनौती का मुकाबला करने में लगा देनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में जो कुछ भी हुआ है—अच्छा भी और बुरा भी—उसने प्रौढ़ा-शिक्षा की समस्या को एक बिलकुल ही नया रूप दे दिया है और अपने देश के भावी कल्याण में दिलचस्पी रखनेवाले हम सभी लोगों को उन नयी तात्कालिक समस्याओं को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जो अब हमारे अध्यापकों तथा शिक्षाशास्त्रियों के सामने स्पष्ट रूप से उभरकर आ गयी हैं। पिछले कुछ वर्षों से हम सभी लोग मोटे-मोटे तौर पर प्रौढ़-शिक्षा के महत्त्व को समझते रहे हैं। हमने इस बात को महसूस किया कि जब तक प्रौढ़ों को शिक्षित करने का राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम न आरम्भ किया जाये तब तक एक स्वतन्त्र तथा प्रगतिशील राज्य का निर्माण करना या जनता की आर्थिक तथा सामाजिक दशा में सुधार करना असंभव है और हम सबने इस बात पर बहुत शोर-गुल भी मचाया कि सरकार तथा अन्य गैर-सरकारी संस्थाएँ भी यह काम पूरा करने में असमर्थ रही हैं। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं—और ये घटनाएँ इतनी अचानक और ऐसे प्रबल वेग के साथ हुई हैं जैसे कोई भूकम्प आता है या ज्वालामुखी फूटता है—जिन्होंने हमारे काम को बिल्कुल ही नयी दिशा प्रदान कर दी है। यह कोई सतही उपमा नहीं है बल्कि मैंने इसका प्रयोग इन परिवर्तनों के स्वरूप तथा उनकी उत्पत्ति को स्पष्ट कर देने के लिए किया है। असावधान तथा नासमझ लोगों के लिए ज्वालामुखी का विस्फोट अथवा भूकम्प प्रकृति की एक ऐसी अप्रत्याशित घटना होती है जिसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता और जिसके लिए वे कभी भी तैयार नहीं रहते। निश्चिंत भाव से अनजान रहकर वे शांत ज्वालामुखी के

---

१. पाँचवें अखिल-भारतीय प्रौढ़-शिक्षा सम्मेलन में दिये गये भाषण से।

निकट अपना काम करते रहते हैं, वे उसके मुस्कराते हुए शांत चेहरे को देखकर धोखा खा जाते हैं और उसके अन्दर छुपी हुई विनाशकारी शक्तियों की ओर ध्यान नहीं देते जो अन्दर ही अन्दर बड़ी निर्ममता के साथ विस्फोट की तैयारियाँ करती रहती हैं। पृथ्वी के गर्भ में अत्यधिक गर्मी पैदा होगी; पृथ्वी के अन्दर छुपी हुई चट्टानें, पत्थर और धातुएँ पिघला हुआ लावा बन जायेंगी; पानी भाप बन जायेगा; ऊपर की परत कमजोर हो जायेगी और ज्यों ही भौतिक परिस्थितियों का संतुलन अनुकूल होगा धुआँ और लावा और दहकते हुए पत्थर फूट निकलेंगे और समस्त नर-नारियों और बच्चों को और मनुष्य की गौरवशाली संस्कृति की समस्त रचनाओं तथा उल्लेखनीय कृतियों को चुन-चुनकर निर्ममतापूर्वक नष्ट कर देंगे। और मूर्ख लोग यह शिकायत करेंगे कि उन्हें इस महाविनाश की पहले से कोई सूचना नहीं थी—मानो प्रकृति के प्रकोप विधानसभा में पूछे जानेवाले प्रश्न हों जिनके लिए पहले से बड़ी शिष्ट भाषा में सुनियमित ढंगसे सूचना देना आवश्यक हो !

आमूल परिवर्तन की नीति की आवश्यकता

भारत में पिछले कुछ वर्षों में यही हुआ है। सबसे पहले तो हमने स्वतन्त्रता प्राप्त की है, परन्तु यह स्वतन्त्रता किन्हीं ऐसे कामोंके फलस्वरूप नहीं मिली है जो हमने पिछले कुछ वर्षों में किये हों, बल्कि यह स्वतन्त्रता एक लम्बे राजनीतिक संघर्ष का परिणाम है जो पिछले ६० से अधिक वर्षों से चलाया जा रहा था और जिसने पहले महायुद्ध के बाद से विशेष रूप से जोर पकड़ा था। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं ने निस्सन्देह इस प्रक्रिया को गति तथा सुविधा प्रदान की—बहुत कुछ उसी प्रकार जैसे विस्फोट से पहले ज्वालामुखी की ऊपरी परत नरम पड़ जाती है। लेकिन बुनियादी तौर पर हमें अपनी स्वतन्त्रता अचानक या अप्रत्याशित ढंग से नहीं मिल गयी है, बल्कि वह दीर्घ काल तथा राजनीतिक तथा मानवीय शक्तियों की क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त हुई है। परन्तु इस स्वतन्त्रता के साथ जो नये महान् उत्तरदायित्व हमारे सामने आये हैं उनका भार सँभालने के लिए हम नैतिक तथा बौद्धिक रूप से तैयार नहीं हैं। हमने अपनी राजनीतिक सरगर्मियों के जरिये बहुत काफी राजनीतिक शिक्षा प्राप्त की परन्तु वह बुनियादी तौर पर रणकौशल की शिक्षा थी—हालाँकि यह रणकौशल मुख्यतः अहिंसात्मक लड़ाईका कौशल था। परन्तु सत्ता जनताके हाथ में आ जाने से और जो कुछ बुरा तथा प्रतिक्रियावादी तथा सामाजिक दृष्टिसे अनुचित था उसकी केवल आलोचना करने के बजाय अच्छी तथा सामाजिक दृष्टि से

वांछनीय चीजोंका निर्माण करने की जो चुनौती हमें दी गयी है उसके कारण हमारे सामने नयी आवश्यकताएँ तथा नयी समस्याएँ उपस्थित हो गयी हैं और हमारे लिए अपने अन्दर नये गुण तथा नयी प्रवृत्तियाँ पैदा करना आवश्यक हो गया है। यदि इस महान् तथा प्राचीन देश को, जो अभी हाल ही में एक स्वतन्त्र राज्य बना है, जीवित रहना है—और क्रूर काल किसी की सुख-सुविधा की प्रतीक्षा नहीं करता !—तो उचित बौद्धिक तथा भावनात्मक वातावरण पैदा करने के लिए और उचित सामाजिक तथा नैतिक रवैये पैदा करने के लिए हमें बहुत साहसपूर्ण, द्रुतगामी तथा आमूल परिवर्तन करनेवाली नीतियाँ अपनानी होंगी। जन-साधारण के विचारों को नये साँचे में ढालने के लिए शिक्षा निस्सन्देह एक शक्तिशाली उद्देश्यपूर्ण साधन है, परन्तु यदि हम स्कूलों तथा कालेजों में बच्चों और नवयुवकों तथा नवयुवतियों को दी जानेवाली औपचारिक शिक्षा की साधारण प्रक्रियाओं पर ही भरोसा किये बैठे रहें—और यह शिक्षा सचमुच प्रभावक तथा सुनिर्देशित हो—तो बहुत समय बीत जाने के बाद ही, कम-से-पूरी एक पीढ़ी के बाद, कोई फल प्राप्त हो सकेंगे।

प्रौढ़-शिक्षा—जीवन और मृत्यु का प्रश्न

तो फिर हम क्या करें ? स्पष्टतः यह परिस्थिति प्रौढ़-शिक्षा को—व्यापकतम तथा उदारतम अर्थ में प्रौढ़-शिक्षा को—राष्ट्र की विचारधारा निर्धारित करने और राष्ट्र के चरित्र का निर्माण करने में योग देने का बहुत अच्छा अवसर प्रदान करती है। निजी तौर पर मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मुझे राष्ट्रीय जीवन में प्रौढ़-शिक्षा के महत्त्व का तो काफी स्पष्ट रूप से आभास रहा है, परन्तु उसकी तात्कालिक आवश्यकता का मुझे पहले कभी उतना गहरा आभास नहीं हुआ था जितना पिछले कुछ वर्षों में हुआ है। पहले तो यह चीज केवल वांछनीय तथा आवश्यक प्रतीत होती थी और हम जानते थे कि 'जन-साधारण' के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर को बहुत काफी ऊँचा उठाये बिना हम किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकते; परन्तु मुझमें यह आभास निरन्तर बढ़ता रहा है कि अब यह हमारे लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न बन गया है, जिसकी उपेक्षा करके या जिसे स्थगित करके हम अपने लिए बहुत बड़ा खतरा मोल ले लेंगे। यदि हम एक ऐसी व्यावहारिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें बहुमत की तर्कसंगत इच्छा को ही प्रधानता प्राप्त रहे तो क्या इस बात का आश्वासन कर लेना आवश्यक नहीं है कि यह इच्छा विवेकपूर्ण हो और अपकारी उद्देश्यों तथा लक्ष्यों पर आधारित न होकर उपकारी उद्देश्यों तथा

लक्ष्यों द्वारा प्रेरित हो। देश के विभाजन से पहले और उसके बाद जो घटनाएँ हुईं और उसके बाद अभी हाल में ही विशेष रूप से भाषा-सम्बन्धी झगड़ों के प्रसंग में जो कुछ हुआ है उससे यह खतरा हमारे सामने बिलकुल स्पष्ट हो गया है। अशिक्षित लोगों का लोकतन्त्र, जो अंधी भावनाओं और पूर्वाग्रहों के प्रवाह में बह जाते हैं और सहज ही स्वार्थी लफ्फाजों की तिकड़मों का शिकार हो जाते हों, शान्ति, सुरक्षा तथा सुखी जीवन के लिए किसी भी दूसरी शासन-पद्धति की अपेक्षा अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकता है। यह बात कहना लोकतन्त्र की निन्दा करना नहीं बल्कि उसके सामाजिक, नैतिक तथा बौद्धिक सार-तत्त्व को दूषित होने से बचाना है।

लोकतन्त्र के लिए शिक्षा

किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के शिक्षाशास्त्री का बुनियादी लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह दो गम्भीर खतरों के खिलाफ बौद्धिक तथा नैतिक बचाव की व्यवस्था को मजबूत करे। पहला खतरा है कि बिना छान-बीन किये आँख मूँदकर प्रचार की हर बात को सत्य समझ लेना और दूसरा है सामाजिक एक-बद्धता का भंग हो जाना जिसके फलस्वरूप विभिन्न हितों में स्वार्थपूर्ण टकराव होता है और विभिन्न साम्प्रदायिक, संकीर्ण तथा भौगोलिक समूहों के बीच आत्मघातक संघर्ष होते हैं। हमारे देश में राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा लोकतान्त्रिक संस्थाओं के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप अपनी विशेष स्थिति के कारण जनता का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। राजनीतिक प्रभाव तथा ताकत प्राप्त करने के लिए महत्त्वाकांक्षी तथा कुटिल लोगों को—और अच्छे लोगों को भी—वोट हासिल करने पड़ते हैं। जनता का समर्थन प्राप्त करने और उसे अपने साथ लाने के दो तरीके हो सकते हैं—या तो धैर्यपूर्वक लगन के साथ उसकी सेवा करके या फिर उनके अज्ञान और उससे सम्बन्धित पूर्वाग्रहोंका अनुचित लाभ उठाकर। पहला मार्ग कठिन और दुर्गम है जिसे केवल उच्च नैतिक गुणोंवाले लोग अपनाते हैं—वे लोग जो कुछ देने के लिए उत्सुक रहते हैं हड़पने के लिए नहीं। दूसरा मार्ग आसान और सुगम है जिसमें हम ढलान से नीचे उतरते समय की मनोबल को नष्ट करनेवाली गति-वृद्धि की सहायता पर भरोसा कर सकते हैं। स्वाभाविक रूप से यह मार्ग महत्त्वाकांक्षी तथा धाँधली से काम निकालनेवाले लोगों को पसन्द आता है जो अपनी शक्ति सेवा में लगाने के बजाय अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए लोगों और चीजों को हड़पने के लिए ज्यादा उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार इन दो प्रकार के लोगों में मुख्य अन्तर यह है कि पहली किस्म के लोग जनता को

स्वतः एक लक्ष्य समझते हैं जिसका जनता होने के नाते ही सम्मान किया जाना चाहिए और जिसका बड़े स्नेह तथा ध्यान के साथ 'अच्छे जीवन' की ओर पथ-प्रदर्शन किया जाना चाहिए। बादवाली किस्म के लोग जनता को अपनी राजनीतिक शक्ति तथा प्रभाव बढ़ाने का साधन मात्र समझते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में इन दोनों प्रकार के लोगों में हमेशा संघर्ष चलता रहता है और इस झगड़े का फैसला इस बात पर निर्भर करता है कि उनमें से किसका पल्ड़ा भारी बैठता है और कौन जनता का विश्वास तथा समर्थन प्राप्त कर लेता है।

जनता के बीच प्रचार के माध्यमों की भूमिका

प्रौढ़ लोगों के लिए सामाजिक तथा नागरिक शिक्षा का एक बुनियादी उद्देश्य यह होना चाहिए कि आम लोगों की आलोचनात्मक दृष्टि पैनी बनायी जाये ताकि वे अपना उल्लू सीधा करनेवालों और सच्चे समाज-सेवकों में अन्तर कर सकें; हमारी निम्नतर भावनाओं पर आसानी से प्रभाव डालनेवाले उन्माद के उकसावों और शिष्टता तथा सत्य के आधार पर हमारी श्रेष्ठतर भावनाओं को जाग्रत करने तथा उन्हें उच्चतम शिखर पर पहुँचाने की कोशिशों के बीच अन्तर कर सकें। यह आज प्रौढ़-शिक्षा की एक मुख्य समस्या बन गयी है क्योंकि जनता के बीच संचार के नये तथा शक्तिशाली माध्यमों की वजह से विचार तथा विवेक की स्वतन्त्रता के कुचल जाने का खतरा पैदा हो गया है और शक्तिशाली तथा प्रभावशाली स्वार्थी गुटों के लिए करोड़ों लोगों को आचार-विचार के एक ही बँधे हुए ढर्रे पर ले आना सम्भव हो गया है। वास्तव में शिक्षा तथा विज्ञान से जो भी नया कौशल या युक्ति हमें मिलती है उसमें अपना एक खास खतरा भी छुपा होता है। प्रौढ़-शिक्षा का लक्ष्य होता है लोगों को पढ़ना सिखाना, अर्थात् कुछ लिखित चिह्नों को उनकी ध्वनि तथा अर्थ के रूप में पहचानना सिखाना। परन्तु ज्यों ही कोई आदमी यह क्षमता प्राप्त कर लेता है वह अखबारों तथा पत्रिकाओं की बटमारी का शिकार हो जाता है, क्योंकि बहुत-सी पत्र-पत्रिकाओं को सत्य और बन्धुत्व की भावनाओं का प्रचार करने की अपेक्षा घृणा तथा असत्य का प्रचार करने में ज्यादा दिलचस्पी होती है। पढ़ना सीखकर वह पुस्तकों की दुनिया में तो पहुँच जाता है पर आवश्यक रूप से इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह ज्ञान के राज्य में भी पहुँच गया है और यह हो सकता है कि वह अपना बहुत-सा खाली समय कला तथा विचारों की गहराई की दृष्टि से बहुत ही घटिया किस्म की चीजें पढ़ने में व्यतीत करे—जैसा कि ज्यादातर

पुस्तकें पढ़नेवाले साक्षर लोग करते हैं। विज्ञान ने हमें रेडियो और फिल्म जैसे बहुमूल्य साधन प्रदान किये हैं जो अभूतपूर्व पैमाने पर सारी दुनिया में लाखों लोगों के मानस-पट पर दृश्यों तथा ध्वनियों द्वारा लगातार असंख्य चित्र अंकित करते रहते हैं। हमारी चेतनाओं पर निरन्तर भाषणों, गीतों, कहानियों, नाटकों, हास्य-चित्रों तथा सूचनाप्रद कार्यक्रमों की बौछार होती रहती है। फिर भी इनमें से बहुत थोड़े ही कार्यक्रम ऐसे होते हैं जो हमारी अनुभूति तथा समझ को सचमुच गहरा बना सकते हों या हमारी भावनाओं को ऊँचा उठा सकते हों या हमारी कलात्मक रुचियों तथा मानदण्डों को बेहतर बना सकते हों! इनमें से अधिकांश कार्यक्रम निम्नतम स्तर पर लोगों का मनोरंजन करने के लिए होते हैं ताकि इनके निर्माता जल्दी और आसानी से पैसा पैदा कर सकें, ऐसा पैसा जो मेरी राय में कलंकित धन होता है। अप्टन सिनक्लेयर ने जनता के बीच प्रचार करने के अमरीकी माध्यमों की तीव्र आलोचना करते हुए कहा है कि उनके सिद्धान्तों में "मानव-स्वभाव के प्रति गहरा अविश्वास व्यक्त होता है; अनास्था ही उनकी आस्था बन गयी है। घृणा की ज्वाला को लोलुपता की हवा देकर भड़काना ही उनका सिद्धान्त है; उनका सिद्धान्त है संसार के कोने-कोने में संगठित, व्यवस्थित तथा फैली हुई व्यापार-पद्धति के रूप में मनुष्य की आत्मा को ढालकर उसके साथ विश्वासघात करना। विनाश के गर्त के किनारे खड़े हुए संसार को यही सहारा दिया जा रहा है!" और इन बलवती शक्तियों का मुकाबला करने के लिए हमारे पास शिक्षा के उपेक्षित, अर्ध-पोषित तथा तिरस्कृत साधन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। फिर भी इस बात का कोई कारण नहीं है कि व्यापक रूप में तथा उदार भाव से आयोजित शिक्षा कम-से-कम कुछ हद तक लोगों को इस बात के लिए प्रशिक्षित न कर सके कि वे अपने आप सोच सकें, सच और झूठ को पहचान सकें, वाणिज्यिक अथवा राजनीतिक प्रचार के दबाव का मुकाबला कर सकें और इस बात को महसूस कर सकें कि मानव-सम्बन्धों की अखण्डता इतनी पुनीत और इतनी महत्त्वपूर्ण चीज है कि उसे किसी भी उपद्रवी व्यक्ति के इशारे पर, वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, भंग नहीं किया जा सकता। यह काम हमारे स्कूलों और हमारे प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों के जरिये किया जा सकता है—बात केवल यह है कि हमने अभी तक इस ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया है। इसका भी कोई कारण नहीं है कि जब शासन की बागडोर एक हितकारी तथा प्रगतिशील राष्ट्रीय सरकार के हाथों में हो तो रेडियो, सिनेमा, नाटक और पत्र-पत्रिकाओं को जनता के जीवन को समृद्ध बनाने और उनके कलात्मक, बौद्धिक, सामाजिक तथा नैतिक मान-

दण्डों को उन्नत करने का साधन न समझा जाये। इसके लिए यह कदापि आवश्यक नहीं है कि सबको एक शिकंजे में जकड़ दिया जाये, या लोगों से उनकी स्वतन्त्रता छीन ली जाये या निरंकुश शासन-सत्ता का सहारा लिया जाये; बल्कि इसके लिए जरूरत इस बात की है कि हम कल्पना-शक्ति और दूरदर्शिता का परिचय दें और हममें इसकी अन्तर्निहित समस्याओं तथा उनके गहरे पारस्परिक सम्बन्ध की सजीव चेतना हो। जब तक हम उन उद्देश्यों की, जिनसे इन सभी साधनों को प्रेरित होना चाहिए, आधारभूत एकता को नहीं समझेंगे और जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि विचारों तथा भावनाओं में इन उद्देश्यों के कारण क्या प्रतिक्रिया होती है तब तक हम इस मूर्खतापूर्ण तथा अपव्ययपूर्ण प्रक्रिया को लाचारी के साथ देखते रहेंगे कि एक संस्था जो कुछ अच्छा काम करती है उसे दूसरी संस्था नष्ट कर देती है। हमारे देश की कोटिसंख्यक जनता पर हर क्षण जो असंख्य प्रभाव पड़ते रहते हैं जब तक समझदारी के साथ उनमें सामंजस्य नहीं स्थापित किया जायेगा और उन्हें समन्वित नहीं किया जायेगा तब तक हम उनके लिए न तो फलप्रद शिक्षा का प्रबन्ध कर सकेंगे और न उनके विचारों तथा भावनाओं की दिशा में कोई बहुत बड़ा या स्थायी परिवर्तन ही कर सकेंगे। यदि हम जल्दी कोई परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं—और जाहिर है हमारे पास न तो नष्ट करने के लिए समय है और न ही हम निश्चिंत होकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रह सकते हैं—तो सरकार को इस परिस्थिति का सामना करने के लिए साहसपूर्ण तथा दूरगामी नीति अपनानी होगी और फिल्मों, रेडियो, नाट्यकला और पत्र-पत्रिकाओं को उस नीरस निरर्थकता से मुक्त कराने के लिए, जो इस समय बहुत बड़ी हद तक उनकी लाक्षणिकता बन चुकी है, और उनमें किसी ध्येय को पूरा करने की भावना और जीवनप्रद गुण का संचार करने के लिए देश के सबसे प्रतिभाशाली लोगों की सहायता लेनी होगी तथा उन्हें प्रोत्साहित करना होगा। मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि हमारे यहाँ के लोगों में आवश्यक प्रतिभा या समाज-सेवा की इच्छा की कमी है। जरूरत केवल इस बात की है कि इन माध्यमों पर संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण वाणिज्यिक हितों या एक पिटे-पिटाये रवैये का जो शिकंजा कसा हुआ है उसे ढीला कर दिया जाये और उन्हें सामाजिक चेतना से सर्वथा रहित नफाखोरों के लिए पैसा बटोरने का साधन न समझकर मुख्यतः जन-शिक्षा का साधन समझा जाये।

हाल की दुर्घटना

पिछले कुछ वर्षों में हमारे जीवन में जो महान् परिवर्तन हुआ है—अर्थात् स्वतन्त्रता की प्राप्ति—उसके केवल एक ही पहलू पर और प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्रमें

उसके कुछ प्रभावों पर ही अब तक मैंने विचार किया है। यदि केवल इतनी ही बात होती तो परिस्थिति बहुत आशाजनक होती—एक महान् तथा प्राचीन राष्ट्र ने सौ वर्ष के राजनीतिक संघर्ष के बाद अपना उचित स्थान प्राप्त किया है और उसका भविष्य उसके हाथों में है कि वह उसे अपनी इच्छा के अनुसार ढाल ले। परन्तु केवल इतनी ही बात नहीं है। स्वतन्त्रता के इस सुप्रभात पर लूट-मार और विध्वंस के ताण्डव की, अमानुषिकता की लज्जाजनक हरकतों की कालिमा छा गयी जिसमें सभी सम्प्रदायों के लोगों ने हिस्सा लिया था। सौभाग्यवश हमारी धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता ने जो नीति अपनायी उसके कारण यह ज्वाला शान्त हो गयी और परिस्थिति में काफी सुधार हो गया। सभी ईमानदार देशभक्तों और समझदार शिक्षाशास्त्रियों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस चिन्ताजनक परिस्थिति के कारणों पर विचार करें और अपनी सारी शक्ति तथा साधन लगाकर इस बात की कोशिश करें कि इस प्रकार के उन्माद के तूफानों को फिर कभी हमारी स्वतन्त्रता की बहुमूल्य उपलब्धियों को खतरे में डालने का मौका न दिया जाये। यदि हम आलोचनात्मक दृष्टि से तथा शान्तचित्त होकर परिस्थिति का विश्लेषण करने की कोशिश करें तो हम देखेंगे कि जिस तरह हमारी स्वतन्त्रता अचानक आकाश से नहीं टपक पड़ी है, उसी प्रकार यह साम्प्रदायिक उत्पात भी कोई आकस्मिक विस्फोट नहीं था। यह उत्पात कई कारणों की एक लम्बी शृंखला का परिणाम था। इससे पहले कई वर्षों से अखबारों को, सार्वजनिक मंचों को, राजनीतिक छीना-झपटी करनेवालों को, निजी स्वार्थ को समाज के हित से बढ़कर और वर्ग तथा जाति को राष्ट्र से बढ़कर समझनेवालों को जनता के सुखी जीवन को तबाह करने की और देश में बसनेवाले विभिन्न वर्गों तथा सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्धों को कलुषित करने की खुली छूट दे रखी गयी थी। मैं यहाँ पर शुद्धतः राजनीतिक समस्याओं पर विचार नहीं कर रहा हूँ और न ही यह पता लगाने की कोशिश कर रहा हूँ कि जो अपराध किये गये उनकी जिम्मेदारी किस पर है। एक शिक्षाशास्त्री होने के नाते मेरे लिए महत्त्व केवल इस बात का है कि ये अपराध हुए और उनके कारण एक ऐसी दूषित परिस्थिति उत्पन्न हुई जिसने हमारे देश के लाखों नर-नारियों की आत्मा पर गहरा घाव कर दिया। इनमें से बहुत-से लोगों का सन्तुलित दृष्टिकोण विचलित हो गया है और उनमें शान्ति, दया तथा मानव-प्रेम के वे सद्‌गुण बाकी नहीं रह गये हैं जिन पर भारत को, और उसमें बसनेवाले सभी धर्मों के नागरिकों को गर्व था, और इस नैतिक दुर्घटना के फलस्वरूप देश का पूरा भविष्य ही खतरे में पड़ गया है।

पिछला महायुद्ध

एक और चीज है जिसने परिस्थिति को और गम्भीर बना दिया है और हमारे शिक्षाशास्त्रियों तथा राजनेताओं दोनों ही को उस पर पूरी तरह विचार करना चाहिए: वह चीज यह है कि इतिहास के सबसे अधिक रक्तपातपूर्ण तथा अमानुषिक युद्ध का संसार के विभिन्न देशों की जनता पर, और हमारे देश की जनता पर क्या प्रभाव पड़ा है। मनुष्य अपने कुकर्मों के फल से नहीं बच सकता और कभी-न-कभी उसे अपने पापों का फल भोगना ही पड़ता है। जो संसार धीरे-धीरे खिंचकर इस प्रकार के युद्ध में फँस जाता हो, जिस संसार में मानव-बुद्धि की अपार प्रतिभा तथा साधनों को सैनिकों तथा नागरिकों दोनों ही के लिए यातनामय मृत्यु तथा तबाही के नये उपाय मालूम करने के लिए इस्तेमाल किया जाता हो, जिस संसार में युद्ध का प्रचार करने के लिए अकूत धन खर्च किया जाता हो, जिस संसार में हिंसा को एक सिद्धान्त का प्रतिष्ठित पद दिया जाता हो और अणु-बम को न्यायोचित ठहराया जाता हो, जो संसार इन तमाम मूर्खताओं तथा अपराधों का दोषी हो वह लड़ाई समाप्त होते ही अपनी साधारण अवस्था में वापस नहीं पहुँच जाता। जिन करोड़ों लोगों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध में भाग लिया है, जिन लोगों को बमबारी का अनुभव हुआ है या जिन्होंने बम बरसाये हैं और अपना कर्त्तव्य समझकर न जाने कितने लोगों को यातनाएँ पहुँचायी हैं, उनके लिए स्वयं अपने और दूसरों के जीवन का कोई मूल्य न समझना स्वाभाविक ही है। वे जिन विभीषिकाओं से होकर गुजरे हैं उन्हें देखते हुए हम उनसे यह आशा तो नहीं कर सकते कि वे असैनिक जीवन की शान्ति तथा सुव्यवस्था का सम्मान करेंगे या दूसरे लोगों को दुःखी और विपदाग्रस्त देखकर उनकी प्रतिक्रिया साधारण लोगों जैसी होगी। इसके विपरीत अधिक सम्भावना इसी बात की है कि वे शान्ति के समय भी जरा-सा उकसावा पाकर हिंसा का मार्ग अपना लें। यह एक विश्वव्यापी समस्या है, और अब निश्चिन्त भाव से युद्ध का प्रचार करनेवाले लोग इस बात को महसूस करके पछता रहे हैं, परन्तु हम भारतवासियों के लिए यह समस्या बहुत कठिन भी है। अपनी प्रौढ़-शिक्षा की योजना बनाते समय हमें एक बहुत बड़े और महत्त्वपूर्ण जन-समूह की ओर, **शरणार्थियों** की ओर विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए जिन्होंने भयानक विपत्तियाँ सही हैं और जो फलस्वरूप बहुत क्षुब्ध तथा जीवन के प्रति कटु हो गये हैं। जिस कार्यक्रम में भी जनसंख्या के इस बहुत बड़े हिस्से की उपेक्षा की जायेगी और उनकी पुनर्शिक्षा का तथा उनके मानसिक घावों को

अच्छा करने का प्रबन्ध नहीं किया जायेगा, वह कार्यक्रम दोषपूर्ण तथा अपूर्ण होगा।

पुनर्शिक्षा का तात्कालिक कार्य

इसलिए आज प्रौढ़-शिक्षा का सबसे तात्कालिक कार्य यह नहीं है कि लोगों को लिखना-पढ़ना सिखा दिया जाये या उनकी जानकारी में वृद्धि की जाये या उनकी सामान्य कार्य-कुशलता में सुधार किया जाये, हालाँकि ये सारे उद्देश्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आज प्रौढ़-शिक्षा का सबसे जरूरी काम यह है कि वह लोगों की सामाजिक तथा नैतिक पुनर्शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित करे, उनमें फिर जीवन के प्रति श्रद्धा की ज्योति जगाये जिसका उपदेश सभी धर्मों में दिया गया है, और उन नैतिक तथा आत्मिक मूल्यों का प्रभुत्व फिर स्थापित करे जो अन्ततः जीवन को सार्थक बनाते हैं। इधर हाल की घटनाओं का लाखों शरणार्थियों के दिमाग पर और उन दूसरे लोगों के दिमाग पर, जिन्होंने दुःख झेले हैं और दूसरों को यातनाएँ दी हैं, जो गहरी छाप पड़ी है उसके महत्त्व को कम करके आँकना खतरनाक होगा। साम्प्रदायिक अनाचारों और प्रतिशोध का जो अन्तहीन क्रम सीमा के दोनों ओर चलता रहा उसमें केवल थोड़े-से लोग ही ऐसे थे जो अपना सन्तुलन, विवेक और न्याय की भावना बाकी रख सके। मुझे यह देखकर बहुत आघात पहुँचा है कि किस प्रकार कष्ट और पीड़ा के कटु अनुभव ने—और कभी-कभी तो उनकी झूठी-सच्ची खबरों तक ने जिन्हें उछालने में अखबारों ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है!—बहुत शरीफ और दयालु लोगों को विवेकहीन धर्मान्धता का शिकार बना दिया है और किस प्रकार वे एक ही भावना को लेकर दीवाने हो गये हैं। ऐसे दसियों हजार लोग होंगे जिन्होंने हत्या, लूटमार और विध्वंस के इस ताण्डव में सक्रिय रूप से भाग लिया होगा। यह बात स्वतः बहुत बुरी है पर इसे तो कुचला जा सकता है, आवश्यकता पड़ने पर इसे कुचलने के लिए निर्ममतापूर्वक बल का प्रयोग भी किया जा सकता है; कोई भी सभ्य राज्य समाज-विरोधी तत्त्वों को हमेशा के लिए शांति तथा सुव्यवस्था को भंग करने की छूट नहीं दे सकता। परन्तु इससे कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि विभिन्न सम्प्रदायों के लाखों लोगों ने अपने सम्प्रदाय के लोगों द्वारा किये गये अमानुषिक अत्याचारों की ओर से तो आँखें मूँदकर सन्तोष कर लिया परन्तु उन्हीं अत्याचारों के लिए दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की बड़े रोष के साथ निन्दा की। हमारे विचारों तथा भावनाओं में धीरे-धीरे इस विष का घुलते जाना प्रौढ़-शिक्षा के सामने सबसे बड़ी समस्या है। यदि किसी

राष्ट्र का अन्तःकरण, उसकी भले और बुरे की परख और निष्पक्ष भाव से चीजों को जाँचने की उसकी क्षमता नष्ट हो जाये तो वह राष्ट्र अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता, न शारीरिक रूप से न नैतिक रूप से। इसलिए हमें प्रौढ़-शिक्षा के प्रबल आन्दोलन द्वारा अपनी भिन्न-भिन्न नैतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना है और उन सभी शक्तियों तथा व्यक्तियों तथा समूहों को हार्दिक समर्थन प्रदान करना है जो सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में शांति, विवेक तथा न्याय के लिए लड़ रहे हैं।

राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान में प्रौढ़-शिक्षा की भूमिका

ऊपर बतायी गयी बातों से पता चलता है कि यदि पहले प्रौढ़-शिक्षा महत्त्वपूर्ण थी तो अब वह जीवन और मृत्यु का प्रश्न बन गयी है। लेकिन अब इस प्रौढ़-शिक्षा की परिभाषा अधिक व्यापक और अधिक सर्वांगीण हो गयी है जिसमें राजनीतिक तथा नागरिक और नैतिक शिक्षा भी शामिल है। जब हम युद्ध और उसके दुष्परिणामों के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली समस्याओं पर विचार करते हैं तो वह प्रौढ़-शिक्षा, जिसकी हम योजनाएँ बनाते रहे हैं और जो हम अपने केन्द्रों में देते रहे हैं वह कितनी अपर्याप्त प्रतीत होती है! यदि हमारी समस्त जनता पढ़ना-लिखना और जोड़-बाकी तथा गुणा-भाग के सवाल सही-सही लगाना सीख भी ले तो उससे उसे क्या फायदा होगा? इससे अखबारों में तथा सार्वजनिक मंच पर लफ्फाजी करनेवालों को उन्हें बेवकूफ बनाने का उतना ही ज्यादा मसाला और मिल जायेगा! इससे न तो उनके मानदण्ड ऊँचे होंगे, न उनकी रुचियों में सुधार होगा और न उनका जीवन समृद्ध बनेगा; उनकी सहानुभूति या समझ या सामाजिक चेतना में कोई गहराई नहीं पैदा होगी। इसलिए हमें इस समस्या को बिलकुल ही दूसरे तथा अधिक व्यापक दृष्टिकोण से देखना चाहिए और अपने आप से यह कहना चाहिये: हमें जनता में चीजों को परखने की क्षमता, आलोचनात्मक शक्ति और सामाजिक भावना का विकास करने में योग देना चाहिए ताकि वे कला के क्षेत्र में उत्कृष्ट तथा निकृष्ट तथा निकृष्ट के बीच, ज्ञान के क्षेत्र में सच और झूठ के बीच और आचरण के क्षेत्र में भले और बुरे के बीच अन्तर कर सकें। जब तक उनके जीवन को इन सभी दिशाओं में काफी उन्नत नहीं बनाया जायेगा तब तक हम उनसे सुसंस्कृत, सामाजिक दृष्टि से न्यायपूर्ण और समृद्ध लोकतांत्रिक व्यवस्था का निर्माण करने में अपनी भूमिका श्रेयस्कर ढंग से निभाने की आशा नहीं कर सकते। निस्संदेह ये लक्ष्य बहुत ऊँचे हैं, परन्तु इन्हें 'ऊँचा'

कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हम उन्हें अव्यावहारिक ठहराकर उनकी निन्दा कर रहे हैं बल्कि इसका तात्पर्य केवल यह है कि हमें इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए इतने ही 'ऊँचे' साधन और तरीके भी अपनाने होंगे। और ये लक्ष्य उन चीजों से ज्यादा ऊँचे नहीं हैं जो संसार के कई ऐसे देशों में प्राप्त की जा चुकी हैं जहाँ जन-साधारण के जीवन को समृद्ध बनाना राष्ट्र का पहला दायित्व समझा गया है और राष्ट्र के साधनों को सबसे पहले इसी काम के लिए खर्च किया गया है। परन्तु हमारे लिए इस बात को याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि गंदे, अनाकर्षक और शब्दशः अन्धकारपूर्ण 'प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों' के जरिये, जिनमें थके हुए और अपर्याप्त योग्यता रखनेवाले कार्यकर्ता जबर्दस्ती उनकी इच्छा के विरुद्ध वहाँ लाये गये प्रौढ़ लोगों को अक्षरों का रहस्य समझाने की कोशिश करते हैं, न तो इन लोगों के भौतिक तथा सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है और न ही उनके लिए 'सुखी जीवन' का मार्ग उन्मुक्त किया जा सकता है। यदि प्रौढ़-शिक्षा को राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान में अपनी उचित भूमिका अदा करनी है तो इन केन्द्रों को गतिवान सामाजिक केन्द्र बनना होगा जो स्थानीय समाज के वास्तविक तथा निहित साधनों को एक स्थानपर केन्द्रित करें, उस समाज के सदस्यों में आत्म-सुधार के प्रति दिलचस्पी पैदा करें और एक ऐसा परिवेश तथा वातावरण पैदा करें जिसमें इस दिलचस्पी को उल्लासपूर्ण सहकारी तथा विकासवान क्रिया-कलाप में परिवर्तित किया जा सके। क्या यह आकाश के तारे तोड़ लाने जैसी बात लगती है? नहीं, यह तो केवल एक ऐसी बात है जो न केवल **वांछनीय** है बल्कि हर उस स्थान में **संभव** भी है जहाँ लगन और सामाजिक हित की भावना रखनेवाले कार्यकर्त्ता मिल सकते हों और कोई समझदारी तथा दूरदर्शिता के साथ उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए मौजूद हो। क्या आप किसी ऐसे समाज की कल्पना कर सकते हैं, उसके सदस्य कितने ही जाहिल और अपनी जीविका कमाने के बोझ के नीचे कितनी ही बुरी तरह दबे हुए क्यों न हों, जो उसके जीवन में ज्योति और उल्लास और भाईचारा पैदा करने की कोशिशों का विरोध करें? क्या इस समाज के सदस्य इस बात का स्वागत नहीं करेंगे कि वे शाम को साथ बैठकर हुक्का पी सकें, गीत गा सकें, छोटे-छोटे नाटक खेल सकें और कहानियाँ, लोक-कथाएँ, भजन तथा धार्मिक काव्य-रचनाएँ सुन सकें? फिर हम इस दिशा में अपना काम क्यों न आरम्भ कर दें और सबसे पहले किसी ऐसी जगह का प्रबन्ध क्यों न कर दें जहाँ सब गाँववाले खुशी के वातावरण में मिल सकें और जहाँ वे धीरे-धीरे स्वयं अपने मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद की

व्यवस्था करने में योग दे सकें ? यदि यह शुरुआत कर दी जाये तो क्या यह अनहोनी बात है कि जो लोग वहाँ एकत्रित हों वे अपनी सबकी समस्याओं के बारे में बातें करना चाहें, अपनी सबकी आवश्यकताओं तथा कठिनाइयों पर विचार करना चाहें ? यह शुरुआत 'वाद-विवाद गोष्ठियाँ' बनाने और उस समाज के सभी सदस्यों की दिलचस्पी के तथा सभी के लिए उपयोगी विषयों के बारे में वार्ताओं तथा व्याख्यानों का 'क्रम' आरम्भ करने का आधार बन सकती है। यदि उस केन्द्र के चलानेवाले शिक्षा-कार्यकर्त्ता में नेतृत्व करने का गुण होगा और यदि उसे प्रौढ़-मनोविज्ञान की कुछ समझ होगी तो वह उस केन्द्र को विचार व्यक्त करने तथा विचारों का आदान-प्रदान करने का, अखबार पढ़ने और उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने का, सामयिक समस्याओं के प्रति उनकी रुचि बढ़ाने का सक्रिय केन्द्र बना देगा। यद्यपि शुरू-शुरू में इसका कार्य-क्षेत्र बहुत छोटा होगा और तात्कालिक स्थानीय समस्याएँ ही दिलचस्पी का केन्द्र होंगी, परन्तु शीघ्र ही वहाँ लोग जिले, प्रान्त, देश और यहाँ तक कि सारी दुनिया की समस्याओं में दिलचस्पी लेने लगेंगे और वह नागरिकता की पाठशाला बन जायेगी। और यहाँ केवल नागरिकता के सिद्धान्तों की ही शिक्षा नहीं मिलेगी। सर्वोपयोगी योजनाओं में मिलकर भाग लेने से वे अपने व्यावहारिक अनुभव द्वारा सहकारिता तथा सामाजिक आदान-प्रदान का पाठ सीखेंगे और इस प्रकार वे गुण पैदा होंगे जो लोकतांत्रिक व्यवस्था को सफलतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। लोक-कला तथा संगीत और सृजनात्मक आत्माभिव्यक्ति के अन्य रूपों के प्रति उनकी रुचि बढ़ जाने से न केवल यह होगा कि उनका जीवन समृद्ध बनेगा और वे विभिन्न चीजों को ज्यादा गहराई से समझ सकेंगे बल्कि इससे यह भी सम्भव हो सकता है कि उन्हें घटिया बाजारू कला तथा संगीत का व्यापार करनेवालों के चंगुल से बचाया जा सके। इस अवस्था में हमें कुछ तो उनमें दिलचस्पी पैदा करने और बढ़ाने के लिए और कुछ उनके विचार-क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए दृश्य तथा श्रव्य शिक्षा के उन विभिन्न साधनों का भी उपयोग करना चाहिए जो विज्ञान ने हमें सौंपे हैं—चित्र, चार्ट, खाके, फिल्म, रेडियो इत्यादि—और जिनका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। मुझे विश्वास है कि यदि इन सभी साधनों का लाभ बुद्धिसंगत तथा समन्वित ढंग से उठाया जाये तो वे जन-साधारण के मस्तिष्क पर अत्यन्त शक्तिशाली रचनात्मक प्रभाव डाल सकते हैं। अखबारों तथा रेडियो के जरिये जो छपे हुए तथा बोले गये शब्द साक्षरों तथा निरक्षरों तक पहुँचते हैं उनका प्रभाव तो बहुत अधिक होता ही है, पर फिल्मों

तथा फिल्मी कहानियों की हमारे मन पर इससे भी गहरी छाप पड़ती है क्योंकि ये हमारी आँखों, हमारे कानों और हमारी कल्पना तीनों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इसलिए यदि प्रौढ़-शिक्षा का तात्पर्य अधिक व्यापक अर्थ में समाज-शिक्षा से लगाया जाये, अर्थात् उसे सांगोपांग पूरे व्यक्तित्व की शिक्षा समझा जाये, जैसा कि सभी प्रगतिशील देशों में समझा जाता है, तो वह हमारे देश तथा उसकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ जनता को संकट से मुक्त कराने में बहुत योग दे सकती है। परन्तु जाहिर है कि यह एक ऐसी जिम्मेदारी है जिसे न शिक्षा-विभाग अकेले पूरा कर सकता है और न पूरी शासन-व्यवस्था ही; इसके लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी संस्थाओं और सद्भावना तथा सामाजिक चेतना रखनेवाले उन सभी व्यक्तियों के बीच, जो भारत का कल्याण चाहते हैं, घनिष्ठतम तथा हार्दिक सहयोग आवश्यक है। अभी हमारे सामने इतना बहुत-सा और इतना विविध प्रकार का काम करने को पड़ा है कि जो भी इस सेवा-दल में शामिल होना चाहे उसके लिए उसमें स्थान है—विद्यार्थी, अध्यापक, घर बैठकर खानेवाले लोग, राजनीतिक कार्यकर्त्ता, लेखक, श्रमिक, दस्तकार, डाक्टर, वकील सभी के लिए। उत्साह और आदर्शवादिता की लहर के सहारे ही महान् उद्देश्यों को पूरा किया जा सकता है। ढीला-ढाला या संकुचित दृष्टिकोणवाला रवैया अपनाने से कोई भी बड़ी सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। इसलिए बहुत-कुछ इस पर निर्भर होगा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के महान् नेता इस समस्या को कैसे हल करते हैं और मैं यही आशा तथा प्रार्थना करता हूँ कि वे दूरदर्शिता और कल्पना-शक्ति का परिचय देंगे।

महात्मा गाँधी—महानतम प्रौढ़-शिक्षाशास्त्री

इस ध्येय की पूर्ति के लिए काम करनेवाला कोई भी व्यक्ति महात्मा गाँधी के प्रति प्रशंसापूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करने में संकोच नहीं कर सकता क्योंकि वह भारत में ही नहीं बल्कि पूरे संसार में प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में इस शताब्दी के सबसे महान् कार्यकर्त्ता थे। सराहनीय साहस और लगन के साथ, चारों ओर भयानक रूप में उमड़ते हुए साम्प्रदायिकता तथा घृणा के तूफान से भी विचलित न होकर उन्होंने पुराने पैगम्बरों की तरह पथभ्रष्ट लोगों का सम्मान और सदाचार और प्रेम के पथ पर वापस लौट आने के लिए आवाहन किया। जबकि उनसे कमजोर लोग जन-उन्माद की लहर में बह गये, वह चट्टान की तरह दृढ़ रहे और सत्य बात कहकर उन्होंने लोगों की गालियाँ सुनीं, अपनी लोकप्रियता को खतरे में डाला और लोगों में उनकी तरफ से गलतफहमियाँ पैदा हुईं, जबकि उनके लिए

यह बहुत आसान था कि वह हिंसा तथा घृणा की जनव्यापी लहर के साथ बहकर बड़ी आसानी से लोगों की प्रशंसा के पात्र बन सकते थे। गाँधीजी के प्रार्थना के बाद के भाषण, जिनमें शब्दाडम्बर छू भी नहीं गया था, बल्कि उनमें व्याकरण की बारीकियों को भी ध्यान में नहीं रखा जाता था, ईसामसीह द्वारा पर्वत-शिखर से दिये गये उपदेशों की भाँति इतिहास में सदा अमर रहेंगे, न केवल इसलिए कि उनका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा है बल्कि इसलिए भी कि उनमें सदाचार के महान् सिद्धान्तों को प्रतिदिन की व्यावहारिक समस्याओं में लागू करने में मनोविज्ञान की गहरी समझ-बूझ का परिचय मिलता है। शिक्षा के दृष्टिकोण से गाँधीजी ने अपने जीवन के अन्तिम कुछ महीनों में जो कुछ किया वह उनके पूरे जीवन की बहुमुखी सफलताओं से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, हालाँकि उनका जीवन अनेक विलक्षण सफलताओं से परिपूर्ण था। कारण यह कि वह न केवल दूसरों के दोष को देख सकते थे (सो तो कोई भी अन्धा मूर्ख देख सकता है!) बल्कि अपने दोषों को भी देख सकते थे (जिसके लिए सच्चे द्रष्टा की अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है) और उन्होंने करोड़ों लोगों के एक पूरे राष्ट्र को नैतिक पतन के गर्त्त में गिरने से रोक लिया। गाँधीजी के इस रवैये को सबसे अच्छी तरह महाकवि इकबाल के इन अविस्मरणीय तथा सजीव शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—

हवा है गो तुन्द-ओ-तेज़ लेकिन चराग़ अपना जला रहा है,
वो मर्दे-दर्वेश जिसको हक़ ने दिये हैं अन्दाज़े-खुसरवाना।

प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं के लिए सबसे उपयोगी काम यही है कि वे गाँधीजी के सन्देश को फैलायें, जिसकी पूर्ति पर ही एक राष्ट्र के रूप में हमारा नैतिक अस्तित्व निर्भर करता है।

१४

अच्छी नागरिकता की शिक्षा

(शिविरों तथा भ्रमण द्वारा)

'नागरिकता की शिक्षा' की चर्चा हमारे यहाँ बहुत समय से हो रही है, परन्तु अभी कुछ समय पहले तक इस प्रकार की बहुत-सी चर्चाओं में अवास्तविकता का एक पुट रहा है, मानो यह व्यावहारिक महत्त्व का न होकर केवल विद्वत्तापूर्ण वाद-विवाद का ही विषय हो। हमारा देश स्वतन्त्र नहीं था, लेकिन मैं सारी खराबियों को इसी एक बात के मत्थे नहीं मढ़ देना चाहता जैसा कि आजकल चलन हो गया है, फिर भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य होते हैं जो राजनीतिक पराधीनता की परिस्थितियों में उत्साहपूर्वक नहीं किये जा सकते। हमें बहुत-से अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो वस्तुगत स्थिति के तकाजे होते हैं, वस्तुगत स्थिति का वह रूप जिस रूप में सरकार उसे देखती है जिसके पास सारी अधिकार-सत्ता और सारे साधन होते हैं; और दूसरी ओर वे आदेश तथा उद्देश्य होते हैं जिनसे प्रेरित होकर यह काम किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, सृजनात्मक नागरिकता का अर्थ यह है कि अच्छे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोग मिलकर काम करें, उनमें आलोचनात्मक ढंग से सोचने की क्षमता हो, उन्हें अपना दृष्टिकोण बुद्धिसंगत ढंग से तथा बिना किसी भय के अपने साथियों के सामने रखने की स्वतन्त्रता हो और वे समाज के हित के लिए अपने निजी स्वार्थ की बलि देने को तैयार रहें। विदेशी शासन द्वारा उत्पन्न की गयी अस्वाभाविक परिस्थितियों में आलोचनात्मक ढंग से सोचनेवाले पर नाक-भौं सिकोड़ने की प्रवृत्ति होती है, अपने विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहित नहीं किया जाता और सामाजिक हित की सप्राण भावना के बजाय अपने स्वार्थ को ही आगे बढ़ाने की इच्छा पैदा होती है। इस प्रकार यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि अध्यापकों, राजनीतिज्ञों और लम्बी-चौड़ी बातें करनेवाले समाज-सुधारकों के जोशीले आवाहनों तथा अच्छी-

अच्छी बातों और कुछ स्कूलों द्वारा इस क्षेत्र में किये गये थोड़े-बहुत उपयोगी व्यावहारिक काम के बावजूद 'नागरिकता की शिक्षा' हमारी शिक्षा-पद्धति का सप्राण तत्त्व नहीं बन पायी। अब परिस्थिति बदल गयी है और कुछ वर्ष पहले जो चीजें परिस्थिति का मूल्यांकन करनेवाले व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार असम्भव या अनावश्यक बौद्धिक विलासप्रियता की सूचक प्रतीत होती थीं वे आज तात्कालिक समस्याएँ बन गयी हैं। हमने जो स्वतन्त्रता प्राप्त की है उसे हम उस समय तक न तो सुदृढ़ बना सकते हैं न उसमें वह सामाजिक-आर्थिक तत्त्व डाल सकते हैं जिनके होने से ही स्वतन्त्रता का कोई वास्तविक महत्त्व होता है, जब तक कि हम अपने वर्तमान तथा भावी नागरिकों को अपने नये तथा कष्टसाध्य कर्त्तव्यों को समझने तथा उचित ढंग से निभाने की शिक्षा न दें। ये कर्त्तव्य कई प्रकार के हैं और उन सबको नागरिक-प्रशिक्षण की परिधि में नहीं शामिल किया जा सकता। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि नागरिकता की शिक्षा में इनमें से कई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य शामिल हैं। और यदि हमारे स्कूल उचित नागरिक मानदण्ड तथा प्रवृत्तियाँ पैदा करनेवाला वातावरण तथा क्रियाकलाप उपलब्ध करने में असफल रहे तो हमारी शिक्षा सतही और निरर्थक बनी रहेगी और वह जीवन पर कोई गहरी छाप नहीं डाल सकेगी।

यहाँ पर मेरा उद्देश्य नागरिकता के प्रशिक्षण की आम समस्या पर विचार करना नहीं है बल्कि मैं केवल यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वांछित लक्ष्यों को पूरा करने में स्कूलों द्वारा आयोजित शिविरों तथा भ्रमण के कार्यक्रमों की क्या विशेष भूमिका हो सकती है। परन्तु इस समस्या विशेष पर विचार करने से पहले संक्षेप में यह बता देना आवश्यक है कि मेरे विचार में वे कौन-से सामान्य उद्देश्य हैं जिनकी पूर्ति के लिए शिविरों आदि को साधन बनाया जा सकता है। मैं उस आदमी को अच्छा नागरिक समझता हूँ जो बुद्धिमानी के साथ और सुचारु रूप से निजी स्वार्थों तथा अपने समाज के हितों के बीच सन्तुलन स्थापित कर सकता हो और बुद्धिसंगत तथा द्वेषहीन ढंग से उन्हें एक-दूसरेके अनुकूल बना सकता हो। मैं इस बात को और स्पष्ट कर दूँ। वह पैसा कमाना चाहता है; वह अपने परिवार की भलाई के लिए उत्सुक रहता है और यात्रा करते समय वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर जल्दीसे जल्दी पहुँच जाना चाहता है। मैंने वैयक्तिक उद्देश्यों अथवा इच्छाओं के ये तीन उदाहरण बिना किसी विशेष कारण के चुन लिये हैं और ये तीनों ही बातें अपने आपमें बहुत अच्छी हैं। परन्तु इन उद्देश्यों अथवा इच्छाओं को पूरा करने की कोशिश में उसे एक सामाजिक प्रसंगमें काम

करना पड़ता है और अनेक प्रकार से दूसरे स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आना पड़ता है और वह जो कुछ करता है उसका उन पर भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। तो इन उद्देश्यों को पूरा करने में वह कौन-सी चीज है जो अच्छे नागरिक और बुरे नागरिक के अन्तर की सूचक है? बात को स्पष्ट कर देने के लिए मैं बहुत साफ-साफ शब्दों में यह अन्तर बताऊँगा। अच्छा नागरिक भी पैसा पैदा करने की कोशिश करेगा पर वह ऐसा करने के लिए नफाखोरी, चोर-बाजारी और व्यापार की दूसरी चालबाजियोंसे बचने की कोशिश करेगा क्योंकि वह जानता है कि इन सब तरीकों से उसे भले ही कोई हानि न पहुँचे पर दूसरों को नुकसान होता है। बुरे नागरिक को कोई भी तरीका अपनाने में संकोच नहीं होगा और वह अच्छे और बुरे तरीकों में कोई अन्तर नहीं करेगा। वह सिर्फ पैसा पैदा करना चाहता है और जल्दी पैसा पैदा करना चाहता है और यदि अपना यह लक्ष्य पूरा करने के लिए उसे उन लोगों को जो कमजोर हैं, या कम समझ-दार हैं या ज्यादा ईमानदार हैं, पैरों तले कुचल देना पड़े तो उसे कोई संकोच न होगा। दूसरे, अच्छा नागरिक अपने परिवार को सुखी बनाने के लिए पूरी कोशिश करेगा पर वह इस बात का ध्यान रखेगा कि ऐसा करने में वह दूसरों के साथ कोई अन्याय न करे। समाज के अधिक व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए वह सिफारिश, रिश्वत और पक्षपात को बहुत ही अनुचित और अवांछनीय बातें समझेगा—और हमारे देश में अभी तक इन बातों का कितना जोर है! दूसरी ओर बुरा नागरिक इन्हीं चीजों का सहारा लेकर अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरा करेगा। तीसरे उदाहरण में अच्छा नागरिक बस पर चढ़नेके लिए दूसरों को धक्का देकर लाइन तोड़ने की कोशिश नहीं करेगा बल्कि वह स्वयं कानून का पालन करेगा और दूसरोंसे भी इसकी आशा रखेगा तथा कानून का पालन करने में उनकी सहायता करेगा। इसके विपरीत बुरा नागरिक—और बुरे नागरिकों की कोई कमी नहीं है!—लाइन लगाने को एक झंझट समझेगा और वह हमेशा लाइन तोड़ने की कोशिश करेगा। इन सब बातों से यही नतीजा निकलता है कि हमें कुछ पुराने तथा सीधे-सादे परन्तु नीति और सदाचार की दृष्टि से बुनियादी सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए: जैसे यह कि यदि किसी अच्छे उद्देश्य को पूरा करने के लिए बुरे साधनों का सहारा लिया जाय तो वे साधन भी अच्छे नहीं बन जाते; निजी स्वार्थ को हमेशा दूसरों के हित से बढ़कर नहीं समझा जा सकता; हमें दूसरों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे व्यवहार की हम उनसे आशा करते हैं।

इन शर्तों के अलावा अच्छी नागरिकता के लिए यह भी जरूरी है कि हर

नागरिक काम करने के लिए तैयार रहे और जो काम वह करे उसे भली-भाँति पूरा करे। इस प्रसंग में मैं जिस बात पर विशेष रूप से जोर देना चाहता हूँ वह यह कि हर मर्द और औरत में, हर लड़के और लड़की में उपयोगी उत्पादनशील काम करने की तत्परता तथा संकल्प पैदा करना आवश्यक है—यह काम चाहे मानसिक हो अथवा शारीरिक—ताकि वह दूसरों पर बोझ न बना रहे बल्कि समाज से उसे जो सुविधाएँ मिलती हैं (या मिलनी चाहिए!) उसके बदले में वह भी समाज की कुछ सेवा करे। इसके अतिरिक्त, महत्त्व इस बात का नहीं है कि किसी तरह उल्टा-सीधा काम पूरा कर दिया जाय, बल्कि महत्त्व उसी काम का होता है जो कुशल ढंग से, लगन के साथ और पूरी योग्यता तथा शक्ति के साथ किया जाय। अनमनेपन से, उल्टे-सीधे ढङ्ग से या लापरवाही से किया गया काम समाज के प्रति एक अपराध है और इससे उस काम को करनेवाले का मनोबल टूटता है। तो नागरिकता की शिक्षा का अर्थ है काम तथा अनुशासन की उचित विधियों की शिक्षा देना और ऐसी भावनाओं को जन्म देना जिनके फलस्वरूप नागरिक न केवल इन सिद्धान्तों को सही माने बल्कि उन्हें अपनी स्थायी आदत और अपने आचरण का लक्ष्य बना ले।

अच्छी नागरिकता के ये कुछ गुण पैदा करने के लिए स्कूल शिविरों तथा भ्रमण के कार्यक्रमों द्वारा क्या कर सकते हैं? यह दावा करना तो स्पष्टतः गलत होगा कि ये शिविर स्वयं नागरिकता के पूरे स्कूल बन सकते हैं पर मैं यह जरूर कहूँगा कि यदि उन्हें उचित ढंग से संगठित किया जाये—और यह जरूरी शर्त है—तो इस उद्देश्य को पूरा करने में वे बहुत योग दे सकते हैं। मैं यहाँ पर कुछ ऐसी शिक्षाप्रद बातें गिना दूँ जिनके लिए इन शिविरों द्वारा अवसर मिलता है। पहली बात तो यह कि जब बच्चे और अध्यापक शिविर के अधिक स्वतन्त्र तथा अधिक अनौपचारिक वातावरण में साथ रहते हैं तो उनमें एक नये प्रकार का सामाजिक संबन्ध स्थापित होता है और वे एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगते हैं। कक्षा में आम तौर पर अध्यापक और उसके छात्रों के बीच एक खिंचाव और दूरी की भावना रहती है जिसकी वजह से सामाजिक सम्पर्क के स्वाभाविक समृद्धिकारी प्रभाव नष्ट हो जाते हैं—हालाँकि कुछ योग्य अध्यापक अपने व्यक्तित्व के जादू से इस खिंचाव और दूरी को खत्म कर देते हैं इसी प्रकार कक्षा में बच्चे अनुशासन के कृत्रिम मानदण्डों के बन्धन में जकड़े रहते हैं। और आम तौर पर काम के जो तरीके अपनाये जाते हैं उनकी वजह से उनके वैयक्तिक सम्बन्धों में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत शिविर में बन्धुत्व की उस भावना के लिए एक स्वाभाविक वातावरण मिलता है जो टोली बनाकर उन्मुक्त भाव से काम करने

और मिलकर खेलने-कूदने से पैदा होती है। वह एक छोटा-सा स्वशासित समुदाय होता है जिसे संगठित करने की जिम्मेदारी बच्चों पर होती है और जिसे उचित ढंग से चलाने के लिए उन्हें समझदारी के साथ आपस में काम बाँटना, अपने काम को अनुशासित ढंग से पूरा करना और स्वतन्त्रतापूर्वक चुने गये अपने नेताओं की आज्ञा का पालन करना सीखना पड़ता है। इस प्रकार शिविर के जीवन से काम को बाँटने तथा उचित रूप से समन्वित करने की क्षमता, सामूहिक योजनाओं को पूरा करने में मिलकर काम करने की योग्यता, अनुशासन और नेतृत्व के गुण पैदा होते हैं, और ये सभी अच्छी नागरिकता के लिए जरूरी हैं। इसके अतिरिक्त आदान-प्रदान के उस उन्मुक्त वातावरण में परिस्थिति की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए निरन्तर अपने आचरण को एक-दूसरे की सुविधा के अनुकूल ढालने की जरूरत पड़ती है। इस प्रक्रिया में हमारे बहुत-से दोष दूर हो जाते हैं और हमारे आचरण में एक सुथरापन आ जाता है। उदाहरण के लिए, शिविर में कोई भी बच्चा आसानी से किसी दूसरे की अकड़ को, काहिली को या जान-बूझकर काम बिगाड़ने की प्रवृत्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वे हर काम और उसके परिणाम के प्रत्यक्ष सम्बन्ध को समझने लगते हैं क्योंकि हर काम का फल फौरन प्राप्त हो जाता है और उसे केवल एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि पूरा समुदाय अनुभव करता है। उदाहरण के लिए, अगर किसी बच्चे को या बच्चों की किसी टोली को लकड़ियाँ बटोरने का काम सौंपा जाये और वह अपना काम न करे तो नाश्ता या खाना नहीं मिलेगा; अगर तम्बू मजबूती से नहीं गाड़े जायेंगे और उन्हें गाड़ते समय आवश्यक सावधानी नहीं बरती जायेगी तो तेज हवा चलने पर वे सब गिर जायेंगे और अगर अचानक वर्षा हो गयी तो सब बिस्तर भीग जायेंगे! शिविर में रहने की परिस्थितियाँ यदि कुछ आदिम ढंग की हों तो वह बहुत शिक्षाप्रद होता है क्योंकि उससे शिविर में रहनेवाले आदमी सूझ-बूझ का परिचय देना और अपने ऊपर भरोसा करना सीखते हैं और उनमें अचानक पैदा हो जानेवाली कठिनाइयों का सामना करने के साधन जुटाने की क्षमता पैदा होती है। परम्परागत ढर्रे पर चलाये जानेवाले साधारण स्कूल बहुधा बच्चे को परावलम्बी तथा निस्सहाय बना देते हैं और उसमें सूझ-बूझ नहीं रहती। शिविर में ये सारे दोष दूर हो जाते हैं और जो लोग अच्छे शिविरों में अकसर भाग ले चुके होते हैं उनके लिए इस बात का खतरा बहुत कम रहता है कि आगे चलकर अपने जीवन में वे केवल किसी हाकिम के इशारों पर नाचनेवाली मशीनें बने रहें और अगर रखवाली करनेवाले कुत्ते का भोंकना उन्हें न सुनाई दे या चरवाहे की लाठी अपना

काम करना बन्द कर दे तो उनकी दशा भटकी हुई भेड़ों जैसी हो जाये। उनके लिए इस बात की सम्भावना अधिक रहती है कि वे सक्रिय तथा सूझ-बूझवाले नागरिक बन सकें जो जिम्मेदारी सँभाल सकते हों और आवश्यकता पड़ने पर सूझ-बूझ का परिचय दे सकते हों। उनमें नियमों का पालन करने की स्वस्थ भावना भी जाग्रत होगी, जो उन्होंने शिविरों में स्वयं बनाये होंगे या कम से कम जिन्हें उन्होंने अपनी इच्छा से स्वीकार किया होगा और वे आसानी से किसी कानून को केवल इसलिए तोड़ना नहीं चाहेंगे कि उसके कारण उनके क्षणिक सुख या किसी तात्कालिक इच्छा की पूर्ति में बाधा पड़ती है। उनमें मिलकर काम करने की गहरी भावना पैदा होगी और वे यह उपयोगी सबक सीखेंगे कि आवश्यकता पड़ने पर हर व्यक्ति को पूरे समाज के हित के लिए अपने निजी स्वार्थ की बलि देने को तैयार रहना चाहिए।

एक बात जिसका मैं पहले भी किसी प्रसंग में उल्लेख कर चुका हूँ उस पर मैं दुबारा जोर देना चाहता हूँ। यह सोचना भूल होगी—और मैं उसका सुझाव कदापि नहीं रख रहा हूँ—कि कैम्प कोई जादू की गुफा होती है जिसमें जो भी जाता है उसका कायापलट हो जाता है। समय और मेहनत बचानेवाले किसी भी छोटे रास्ते को अपनाकर कोई भी बड़ा तथा स्थायी मानसिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता और नागरिकता की शिक्षा भी इस नियम का अपवाद नहीं है। कोई भी उपयोगी परिणाम प्राप्त करने के लिए न केवल यह आवश्यक है कि स्कूल के पूरे काम और उसके पूरे रवैये को एक नयी दिशा प्रदान की जाये बल्कि हमें अपने प्रौढ़ सामाजिक आचरण तथा परम्पराओं को भी बदलकर स्वस्थ बनाने की कोशिश करनी चाहिए और उनमें यह परिवर्तन लाना चाहिए। जब स्कूल और समाज की दिशाएँ एक-दूसरे के विपरीत या एक-दूसरे से अलग होती हैं तो बच्चा या तो बौखला जाता है या उसमें इनके प्रति कोई उत्साह जाग्रत नहीं होता। यदि स्कूल में अनुशासन हो और स्कूल से बाहर अनुशासन का सर्वथा अभाव हो—जैसे बड़े लोग लाइन तोड़ते हों और अपना कूड़ा-करकट (जिसमें केले के छिल्के और पान का पीक भी शामिल है!) सड़क पर और सड़क के किनारे की पटरियों पर फेंकते हों और सार्वजनिक सम्पत्ति को तोड़ते-फोड़ते हों—और नागरिक शिष्ट आचरण के साधारण नियमों की ओर कोई ध्यान न दिया जाता हो तो शिक्षा के किये-धरे पर पानी फेर देनेवाली इन परिस्थितियों के जबर्दस्त दबाव के खिलाफ स्कूल से कोई सफलता प्राप्त करने की आशा कैसे की जा सकती है? शिविरों का उपयोगी सिद्ध होना या न होना उनकी अपनी एक आन्तरिक विशेषता पर निर्भर करता है और वह यह है कि शिविर का

संगठन ठोस शैक्षणिक आधार पर किया गया है कि नहीं। यहाँ पर इस समस्या की ब्योरे की बातों पर विचार करने की कोई जरूरत नहीं है पर उन बातों की ओर संकेत कर देना उचित होगा जिन्हें शिविर के सुसंगठन के आधारभूत सिद्धान्त कहा जा सकता है।

जो लोग शिविर का संगठन करें उन्हें किशोर-मनोविज्ञान की अच्छी समझ-बूझ होनी चाहिए और उनमें शिविर में भाग लेनेवालों के साथ हार्दिक तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता होनी चाहिए। उनमें नवयुवकों के प्रति आस्था होनी चाहिए और उन्हें इन नवयुवकों को जिम्मेदारी सौंपने के लिए और उन्हें इन जिम्मेदारियों को निभाने की और आवश्यक हो तो गल्तियाँ करने की भी स्वतन्त्रता देने के लिए तैयार रहना चाहिए। शिविर का कार्यक्रम मुख्यतः उसमें भाग लेनेवालों को स्वयं बनाना चाहिए, पर कार्यक्रम बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसमें आवश्यकतानुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने की गुंजाइश हो और उसमें विविधता हो ताकि विभिन्न प्रतिभाओं तथा योग्यताओंवाले विद्यार्थियों को आत्माभिव्यक्ति के लिए कुछ-न-कुछ अवसर अथवा क्षेत्र अवश्य मिल जाये। इसीलिए मैं इस विचार को अधिक पसन्द करूँगा कि नवयुवकों की अलग-अलग श्रेणियों के लिए विभिन्न प्रकार के शिविर संगठित किये जायें—प्राकृतिक वातावरण में स्वास्थ्यप्रद विश्राम तथा 'प्रकृति के अध्ययन' के लिए शिविर; स्काउटों के प्रशिक्षण के लिए शिविर; सामाजिक श्रम-सेवा के शिविर; नेशनल कैडेट कोर अथवा आक्जिलरी कैडेट कोर के शिविरों जैसे विशेष शिविर या अन्तर्राष्ट्रीय स्वैच्छिक शान्ति-सेवा के शिविर जिनमें विभिन्न जातियों के युवक-युवतियाँ विभिन्न देशों में कई सप्ताह या कई महीने तक साथ मिलकर युद्ध-ध्वस्त अथवा बाढ़-पीड़ित अथवा रोगग्रस्त गाँवों का पुनर्निर्माण करने, स्कूलों की इमारतें या सड़कें या पुल या अस्पताल बनाने के लिए काम करती हैं या अन्य प्रकार का व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी शारीरिक श्रम करती हैं। मेरे कहने का मतलब यह कदापि नहीं है कि एक ही शिविर में इनमें से एक से अधिक प्रकार के कार्यों का समावेश नहीं हो सकता लेकिन इस बात को ध्यान में रखना अच्छा है कि जीवन में और काम में नौजवानों के बीच बन्धुत्व की भावना कई उपायों से और कई उद्देश्यों के लिए स्थापित की जा सकती है। परन्तु इस बात को याद रखिये कि सफल तथा उल्लासमय शिविर का रहस्य इस बात में है कि उसमें भाग लेनेवाला हर व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह सामाजिक प्रसंग में वैयक्तिक रूप से उपयोगी है, अर्थात् सीधे-सादे शब्दों में, हर व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह कोई उपयोगी काम कर

रहा है जो उसके साथियों के लिए आवश्यक है तथा उसके साथी उसके काम की कद्र करते हैं। इसके अतिरिक्त शिविर से उनकी रोमांचकारी तथा साहसपूर्ण कार्य करने की भावना और घूमने-फिरने की इच्छा की तृप्ति होनी चाहिए ताकि वे अपनी उत्साहपूर्ण शक्ति को श्रेयस्कर कामों में लगा सकें और यह बहुत बड़ी हद तक इस पर निर्भर करता है कि शिविर के लिए उपयुक्त स्थान तथा उचित क्रियाकलाप चुना जाये। सन्तुलित विचार तथा सृजनात्मक प्रवृत्ति और अनेक रुचियाँ तथा अनेक प्रकार के कामों की क्षमता रखनेवाला व्यक्ति—जिसकी रुचियों तथा क्षमताओं को शिविर के जीवन द्वारा विकसित किया जा सकता है—न केवल स्वयं सुखी रहता है बल्कि वह समाज के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि उसमें शिकायत और निराशा की वह भावना नहीं होती जो सामाजिक असन्तोष तथा समाज-विरोधी आचरण का सबसे बड़ा कारण होती है।

शायद इस बात की ओर संकेत कर देना उपयोगी होगा कि विभिन्न शिक्षा-विभाग अध्यापकों तथा विद्यार्थियों दोनों के ही बीच शिविरों में भाग लेने के विचार को प्रोत्साहन देने की ओर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान देने लगे हैं। केन्द्रीय सरकार की श्रम-सेवा शिविरों तथा समाज-सेवा शिविरों की योजना से लोग भली-भाँति परिचित हैं; इस प्रकार के शिविर देश के विभिन्न भागों में बहुत बड़े पैमाने पर संगठित किये जा रहे हैं। बम्बईमें एक और दिलचस्प योजना चलाई जा रही है। महाबलेश्वर में पुराने गवर्नमेण्ट हाउस को विद्यार्थियों के शिविरों के लिए और अध्यापकों के शिविरों तथा अध्यापकों के विश्रामगृहों के लिए दे दिया गया है और यहाँ प्रतिवर्ष ये शिविर संगठित भी किये जाते हैं। बम्बई का शिक्षा-विभाग हर जिले में शिविरों के लिए किसी रमणीक तथा स्वास्थ्यप्रद स्थान में कम से कम एक ऐसी जगह चुनने की कोशिश कर रहा है जहाँ स्कूलों के बच्चे न केवल छुट्टियों में बल्कि यदि सम्भव हो तो पढ़ाई के दिनों में भी अपने शिविर स्थापित कर सकें। इस उद्देश्य से वहाँ आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं ताकि उत्साही अध्यापकों के पथ-प्रदर्शन में विद्यार्थीगण इस नई शैक्षणिक सुविधा का अधिकाधिक लाभ उठा सकें। अध्यापकों के लिए इस बात को ध्यान में रखना उचित होगा कि ये शिविर नागरिक शिक्षा के सप्राण केन्द्र बन सकते हैं और यदि सहानुभूति तथा समझदारी के साथ उन्हें चलाया जाय तो प्रति वर्ष उनमें भाग लेनेवाले हजारों विद्यार्थियों में अध्यवसाय, अनुशासन, सहकारिता तथा नेतृत्व के बहुमूल्य गुण पैदा हो सकते हैं।

१६

मानवोचित शिक्षा-प्रशासन

हम अपने स्कूलों में जिस "नयी शिक्षा" की नींव रखने को उत्सुक हैं उनके लिए न केवल अध्यापकों के लिए बल्कि हेड मास्टरों, इन्सपेक्टरों और शिक्षा-सम्बन्धी अन्य प्रशासकों के लिए भी एक नया रवैया अपनाना जरूरी है। भारत में 'प्रशासन-व्यवस्था' का सोचने और काम करने का एक ऐसा ढर्रा बँध गया है कि उसकी वजह से राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारी काम करने की रफ्तार और कार्य-कुशलता बहुत घट गयी है। यों तो यह चीज किसी भी क्षेत्र में अवांछनीय है पर शिक्षा के क्षेत्र में तो यह विशेष रूप से अवांछनीय है क्योंकि इस क्षेत्र में नौकरशाही रवैया अपनाने से काम नहीं चलता। स्वतंत्र भारत की नयी परिस्थितियोंमें, जहाँ हमें नयी परम्पराओं का निर्माण करना है, यह विशेष रूप से आवश्यक है कि हम यथाशीघ्र अपने प्रशासन को **मानवोचित बनायें**। शायद मुझे अपने साथ के अन्य 'प्रशासकों' की अपेक्षा इस आवश्यकताका ज्यादा गहरा आभास है क्योंकि जब मैंने यह काम आरम्भ किया तो शैक्षणिक अनुभव की मेरी पृष्ठभूमि उनसे कुछ भिन्न थी। मैंने अपने जीवन के कई वर्ष एक विश्वविद्यालय तथा एक ट्रेनिंग कालेज में अध्यापक के रूप में व्यतीत किये थे और काफी बाद में जाकर मैंने अपने आपको प्रशासन के काम में संलग्न पाया जिसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। इस प्रकार कुछ घूम-फिरकर यहाँ तक पहुँचना मेरे लिए कई तरीकों से लाभदायक ही सिद्ध हुआ है। कई वर्ष तक व्यक्तियों तथा विचारों के सम्पर्क में रह चुकने के कारण मैं कभी भी लालफीताशाही और फाइलों के प्रति तथा प्रशासन-व्यवस्था की मशीन के छोटे-बड़े पहियों के प्रति सम्मान की वह भावना अपने अन्दर नहीं पैदा कर सका हूँ जो कि नौकरशाही ढंग के प्रशासकों में बहुधा कूट-कूटकर भरी होती है। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि यदि हम फाइलों और रिपोर्टों और गश्ती चिट्ठियों की तरफ कम ध्यान दें और अध्यापकों तथा बच्चों और वास्तविक व्यावहारिक काम की ओर ज्यादा तो दुनिया ठप नहीं हो जायेगी। शिक्षा-विभागों में पत्र-

व्यवहार, टिप्पण और 'फाइलें निवटाने' का इतना ज्यादा काम होता है कि इस व्यर्थ सामग्री के ढेर से वह बच्चा, जिसे हमारी नयी शिक्षा-पद्धति ने चित्र का केन्द्रीय पात्र बनाने की कोशिश की है, आँख से बिलकुल ओझल ही हो जाता है—उसका हम बहुत ही धुँधला और दूर का चित्र देख पाते हैं। और केवल बच्चा ही नहीं बल्कि वे मानवीय तथा सांस्कृतिक समस्याएँ जिनको हल करने की शिक्षाशास्त्रियों से आशा की जाती है और वे विधियाँ, पाठ्यचर्याएँ, सृजनात्मक विचार तथा प्रयोग भी, जिनकी ओर उन्हें बुनियादी तौर पर ध्यान देना चाहिए, इन 'फाइलों' के नीचे दबकर रह जाते हैं। इसीलिए मैं नयी शिक्षा के नामपर प्रशासन में एक ऐसा नया वातावरण पैदा करने का अनुरोध करता हूँ जिसमें बच्चों तथा अध्यापकों और अध्यापकों तथा शिक्षा-प्रशासकों के पारस्परिक सम्बन्ध 'मानवोचित' बन सकें। मेरे दिमाग में जो विचार है उसके लिए मैं 'मानवोचित बनाने' के शब्द इसलिए इस्तेमाल कर रहा हूँ क्योंकि उस विचार को व्यक्त करने के लिए मुझे इससे अच्छे कोई शब्द नहीं मिल सके हैं; मेरा विचार यह है कि शैक्षणिक कार्य की हर मंजिल में और उसके हर पहलू में हमारा रवैया बुनियादी तौर पर मानवोचित होना चाहिए—जैसे कि मनुष्य के प्रति मनुष्य का, व्यक्ति के प्रति व्यक्ति का रवैया होता है, वह रवैया नहीं जो फाइल के प्रति फाइल का, रिपोर्ट के प्रति रिपोर्ट का या छोटे कर्मचारी के प्रति बड़े अफसर का होता है! यह कोई छोटी-सी बात नहीं बल्कि बहुत बड़ी समस्या है, क्योंकि इसके लिए अध्यापकों, निरीक्षण पदाधिकारियों तथा प्रशासकों का पूरा दृष्टिकोण बदलना जरूरी है। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में इस प्रकार की नौकरशाही तथा लालफीताशाही की मनोवृत्ति भारत की अपेक्षा बहुत कम है। इंगलैण्ड या स्काटलैण्ड में निरीक्षक का काम विभाग और व्यावहारिक कार्य-कर्त्ताओं के बीच सम्पर्क स्थापित करनेवाले मैत्रीपूर्ण पदाधिकारी का होता है, वह बिखरे हुए शैक्षणिक अनुभवों तथा प्रयोगों को समन्वित करनेवाले माध्यम का काम करता है; हमारे देश के बारे में यह बात इस हद तक सच नहीं है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह कोई संयोग की बात नहीं है कि इंगलैण्ड के बहुत-से स्कूलों में नयी शिक्षा की भावना का संचार होने के साथ ही अध्यापकों तथा उनके काम के प्रति निरीक्षण करनेवाले पदाधिकारियों का रवैया भी बदल गया है। क्या इस प्रकार का परिवर्तन करना आसान है? नहीं, पर कोई भी ऐसा काम जो सचमुच करने योग्य होता है, आसान नहीं होता! जब तक स्कूलों के साधारण अध्यापकों और उच्च निरीक्षण पदाधिकारियों के सामाजिक पद तथा आर्थिक स्थिति में इतना ज्यादा अन्तर रहेगा तब तक यह विश्वास करना कठिन

है कि वे सामाजिक अथवा बौद्धिक समानता के स्तर पर एक-दूसरे से मिल सकेंगे। यही कारण है कि समय-समय पर अध्यापकों के वेतन में वृद्धि करने और उन्हें भावी उन्नति के अवसर प्रदान करने की जो कोशिशें की जाती हैं उनका हमें स्वागत करना चाहिए क्योंकि इनमें अध्यापकों के पेशे को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा का प्रमाण मिलता है। अब तक इन चीजों को भावुकता के धुँधले प्रकाश में देखने की प्रवृत्ति रही है जिसमें अध्यापक या तो निम्न कोटि के समाजसेवक प्रतीत होते हैं या फिर ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसे असाधारण नैतिक स्तर के लोग हैं जिन्हें भौतिक उन्नति में कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह भी नितान्त आवश्यक है कि अध्यापक बच्चों के माता-पिता तथा जन-साधारण के साथ प्रकृत, मैत्रीपूर्ण तथा हितकर सम्पर्क स्थापित करें ताकि वे समाज के सक्रिय, कार्यकुशल, सम्मानित तथा उपयोगी सदस्य बन सकें। यह न केवल उनके वैयक्तिक हित में होगा बल्कि इससे शिक्षा को समाज-व्यवस्था में उसका उचित स्थान दिलाने में भी सहायता मिलेगी। जब तक अध्यापक समाज के जीवन में गतिवान भूमिका नहीं अपनायेंगे तब तक शिक्षा को जन-साधारण सामाजिक जीवन को उच्चस्तर पर स्थापित करने तथा उसमें सुधार करने का अनिवार्य तथा महत्त्वपूर्ण साधन नहीं समझेंगे। परन्तु यह तभी हो सकता है जब शिक्षा का पूरा संगठन अब तक की अपेक्षा अधिक उदार तथा अधिक व्यापक दृष्टिकोण द्वारा प्रेरित हो और उसके बारे में यह न समझा जाय कि उसका उद्देश्य इस शब्द के साधारण अर्थ में केवल शिक्षा देना है, बल्कि उन सारे बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा मनोरंजन-सम्बन्धी कामों को प्रोत्साहन देना भी उसका उद्देश्य है जिनसे जीवन अधिक समृद्ध बनता है। मैं यह सुझाव रखने का साहस करूँगा कि हमारे शिक्षा-विभागों को शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालयों में परिवर्तित कर दिया जाय जिन पर देश में सांस्कृतिक जीवन के स्तरों को ऊँचा उठाने के लिए हर प्रकार की तथा हर स्तर की शिक्षा देने, स्वस्थ आंदोलन आरम्भ करने, स्वैच्छिक प्रयासों को प्रोत्साहन देने और जनव्यापी प्रचार के सभी आधुनिक साधनों का पूरा उपयोग करने की जिम्मेदारी हो। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद इस बात का प्रमाण मिलने लगा है कि यह आभास पैदा होता जा रहा है और शिक्षा मंत्रालयों में इस बात की चेतना बढ़ती जा रही है कि कला तथा संस्कृति को प्रोत्साहन देने की भी उन पर उतनी ही बड़ी जिम्मेदारी है जितनी कि स्कूलों तथा कालेजों में बच्चों तथा किशोरवयस्क बालक-बालिकाओं को शिक्षा देने की। आशा है कि अधिक धन उपलब्ध होने पर यह प्रवृत्ति और मजबूत होगी और इस प्रकार के सभी श्रेयस्कर तथा उपयोगी कामों

में शिक्षा को राज्यसत्ता का बहुमूल्य साथी समझा जाने लगेगा।

अध्यापक के काम में और कई दूसरे प्राविधिक तथा व्यावसायिक कार्यकर्ताओं के काम में बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है और इस अन्तर को हमें ध्यान में रखना चाहिए। किसी इंजीनियर या वैज्ञानिक या शिल्पकार के काम को काफी विश्वास के साथ परखा जा सकता है और यदि उसने कामचोरी की होगी या काम ढीले-ढाले ढंग से किया होगा तो उसकी गलती फौरन पकड़ी जा सकती है। पर शिक्षा के सर्वोत्कृष्ट परिणाम साकार नहीं होते और उनका इस प्रकार का वस्तुगत परीक्षण सम्भव नहीं है। काम के प्रति बच्चे की लगन, उसकी सामाजिक संवेदनशीलता, नैतिक मानदण्डों के प्रति उसकी जागरूकता, नेतृत्व तथा अनुशासनबद्ध प्रयास की उसकी क्षमता—इन गुणों को किसी तराज़ू पर नहीं तौला जा सकता। इसलिए केवल एक ही उपाय है जिसके द्वारा इस बात का आश्वासन हो सकता है कि अध्यापक बच्चों को शिक्षा देने में अपनी समस्त क्षमताओं का पूरा उपयोग करें और वह उपाय यह है कि बन्धुत्व की ऐसी भावना तथा ऐसा वातावरण पैदा किया जाये जिससे उनके सारे सचमुच उपयोगी गुण क्रियाशील हो उठें। एकाधिकारी सत्ता के अधीन, जिसमें सम्बन्धों का आधार किसी-न-किसी प्रकार के भय पर होता है, बहुधा कुछ बँधे-बँधाये काम कुशल ढंग से पूरे कर लेना सम्भव होता है। परन्तु ऐसी परिस्थितियों में अध्यापक के व्यक्तित्व के श्रेष्ठतम तत्त्वों और बच्चे के व्यक्तित्व के श्रेष्ठतम तत्त्वों के बीच सच्चा सामंजस्य स्थापित करना असम्भव हो जाता है और इस प्रकार शिक्षा का सबसे बड़ा रचनात्मक प्रभाव नष्ट हो जाता है। मैं जानता हूँ कि बहुत-से प्रशासक—और इस श्रेणीमें मैं हेडमास्टरों को भी शामिल करता हूँ!—समझते हैं कि ज्यादातर अध्यापकों से काम लेने का उचित तरीका यही है कि उनसे डण्डे के जोर से काम लिया जाये, जिस तरह हवलदार रंगरूटों से कवायद कराता है! परन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि उनका यह मत गलत है। उन्होंने दूसरा तरीका नहीं आजमाया है जो आसान नहीं बल्कि कष्टसाध्य तरीका है जिसके लिए बहुत होशियारी और बुद्धिमानी और समझ-बूझ की जरूरत होती है। कोई मूर्ख-से-मूर्ख अध्यापक—आप मुझे अध्यापक के लिए इस शब्द का प्रयोग करने के लिए क्षमा करें—अपनी कक्षा के बच्चों को डण्डे के जोर पर अनुशासन में रख सकता है; परन्तु सुव्यवस्थित आत्मानुशासन के वातावरण में बच्चों का विकास करने के लिए कल्पना-शक्ति और सहानुभूतिपूर्ण अन्तर्दृष्टिवाले अध्यापक की जरूरत होती है। इसी प्रकार हीनता की भावना से ग्रस्त कोई भी मूर्ख हेडमास्टर—इस शब्द का प्रयोग करने के लिए मैं हेडमास्टरों से भी क्षमा चाहूँगा—

रोब दिखाकर स्कूल के अध्यापकों से अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकता है। परन्तु अपने अध्यापकों के साथ मानवोचित समानता का व्यवहार करते हुए भी अपना शैक्षणिक नेतृत्व का पद बनाये रखने के लिए बहुत गुणसम्पन्न तथा मानव-भावनाओं से परिपूर्ण हेडमास्टर की जरूरत होती है जिसे अपने ऊपर विश्वास हो और जो फलस्वरूप दूसरों के व्यक्तित्व का भी सम्मान कर सकता हो। क्या आप यह जानना चाहेंगे कि मैं मनुष्य के वास्तविक गुण की कसौटी किस चीज को समझता हूँ? सचमुच महान् व्यक्तित्व—अर्थात् ऐसा व्यक्ति जिसका दिल और दिमाग बड़ा होता है—अपने सम्पर्क में आनेवाले हर व्यक्ति को बड़ी आसानी से उन्नत स्तर पर पहुँचा देता है; वह उनमें यह चेतना पैदा करता है कि उनमें अच्छाई और महानता की क्या सम्भावनाएँ निहित हैं। और जो आदमी छोटा होता है, संसार में उसका पद कितना ही ऊँचा क्यों न हो, वह दूसरों को नीचा दिखाने की कोशिश करता है ताकि वह स्वयं सुरक्षित तथा निश्चिन्त रह सके। मेरी समझ में अच्छा हेडमास्टर वही है जो अपने साथ काम करनेवालों को दबाये बिना उनमें प्रेरणा और उत्साह पैदा कर सके। मैं हेडमास्टरों को सलाह दूँगा कि वे अपने और अध्यापकों के पारस्परिक सम्बन्ध में एक क्रान्ति पैदा करें और इस सम्बन्ध को मानव-समानता के आधार पर स्थापित करें। मेरा कहने का मतलब यह कदापि नहीं है कि इस तरह के स्कूल हैं ही नहीं जहाँ हेडमास्टरों तथा अध्यापकों के बीच इस तरह के सम्बन्ध न हों; वास्तव में चूँकि मैंने इस तरह के स्कूल देखे हैं इसीलिए मैं विश्वास के साथ इस तरह के अच्छे सम्बन्धों की स्थापना का अनुरोध करता हूँ। मैंने ऐसे स्कूल देखे हैं जहाँ हेडमास्टर अपने अध्यापकों के साथ मित्रों और साथियों जैसा व्यवहार करते हैं, जहाँ वे सारी अच्छाइयों का श्रेय अध्यापकों को देते हैं और स्वयं किसी चीज का श्रेय नहीं लेते, जहाँ वे अपनी ओर से उनकी निजी तकलीफों, चिन्ताओं तथा समस्याओं में शरीक होते हैं और जब तक उनकी सहायता करने के लिए यथाशक्ति कोशिश नहीं कर लेते तब तक चैन नहीं लेते।...और मैंने ऐसे स्कूल भी देखे हैं जहाँ अपने अध्यापकों की तरफ हेडमास्टरों का रवैया फैक्ट्री के मजदूरों की तरफ एक बुरे फोरमैन के रवैये से बेहतर नहीं होता। शायद यह कहना अनुचित न होगा कि ज्यादातर हेडमास्टर इसी प्रकार के हैं। यदि हम इन खराबियों को सुधारना चाहते हैं और एक नयी शिक्षा-व्यवस्था की नींव रखना चाहते हैं तो हमें परिस्थितियों को बदलना होगा और अध्यापकों का विश्वास, उनकी सद्भावना तथा उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त करने के लिए साहस के साथ कदम उठाना होगा। मैं इस मानव-चमत्कार की माँग केवल इसलिए नहीं कर

रहा हूँ कि वह अध्यापकों तथा हेडमास्टरों के हित में है बल्कि इसलिए कर रहा हूँ कि उसमें दृष्टिकोण का एक ऐसा बुनियादी परिवर्तन निहित है जिससे शिक्षा-व्यवस्था का पूरा वातावरण ही बदल सकता है। इस समय प्रशासक और निरीक्षण-अधिकारी और प्रबन्ध-समितियों के सदस्य हेडमास्टरों के साथ 'बड़े साहब' की तरह व्यवहार करते हैं और उनके प्रति वह शिष्टता तथा सम्मान नहीं दिखाते जो दिखाया जाना चाहिये। जब हेडमास्टरों का दाँव चलता है, तो वे अध्यापकों से 'सारी कसर निकालते' हैं और अन्त में अध्यापक जान-बूझकर या अनजाने में बच्चों से बदला लेते हैं। और चूँकि बच्चे पलट कर इसका कोई जवाब नहीं दे सकते इसलिए उनकी भावनाओं में अनेक विकार पैदा हो जाते हैं जिसकी वजह से स्कूलों में अध्यापकों के लिए और घर पर माता-पिता के लिए समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं और आगे चलकर जब ये बच्चे बड़े होते हैं तो पूरे समाज के लिए समस्याएँ पैदा कर देते हैं। क्योंकि जब उन्हें मौका मिलता है तो वे भी वैसा ही दुर्व्यवहार करते हैं जैसा कि उनके साथ बचपन और युवावस्था में किया गया था। सचमुच यह भी एक अजीब अन्तहीन क्रम है! मैं इस बात के पक्ष में हूँ कि निरंकुशता के इस अन्तहीन क्रम के स्थान पर एक मानवोचित तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्था कायम की जाये। चूँकि इस समय मैं हेडमास्टरों की बात कर रहा हूँ इसलिए मैं इस बात पर विचार नहीं करूँगा कि दूसरे लोग इस सम्बन्ध में क्या कर सकते हैं लेकिन मैं हेडमास्टरों से यह अनुरोध अवश्य करूँगा कि वे इस अन्तहीन क्रम को भंग करें और अपनी भावनाओं तथा विचारों में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा करें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह परिवर्तन सचमुच क्रांतिकारी होगा। मनुष्य के हृदय में और सृजनात्मक रूप से उन्मुक्त उसके व्यक्तित्व में जितनी चीजें और जितनी सम्भावनाएँ निहित होती हैं उतनी तो सारी सृष्टि में भी नहीं हैं और यदि हम अपने अध्यापकों की इन निहित सम्भावनाओं को उन्मुक्त करने की कला जानते हों और अध्यापकगण अपने शिष्यों की निहित क्षमताओं को जाग्रत कर सकते हों तो कौन-सा ऐसा काम है जो नहीं किया जा सकता? यह न तो कोरी कल्पना है, न कोई असाधारण दावा। संसार के सैकड़ों अच्छे स्कूलों में जहाँ प्रेम और सहानुभूति और बन्धुत्व द्वारा सृजनात्मक शक्ति तथा मनुष्य की श्रेष्ठतम भावनाओं के स्रोत उन्मुक्त कर दिये गये हैं—जाहिर है यह काम करने के लिए बड़ी समझदारी की जरूरत होती है—वहाँ सचमुच आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त किये गये हैं। ज्ञान, विज्ञान, समाज-सेवा, कला, संगीत तथा आम तौर पर आत्माभिव्यक्ति के सभी क्षेत्रों में बच्चों ने ऐसे काम कर दिखाये हैं जो युगों पुराने बँधे हुए ढर्रे

पर चलनेवाले दकियानूस अध्यापकों की दृष्टि में असम्भव होते। मैं हेडमास्टरों से अनुरोध करूँगा कि वे अपने पिछले अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकालने की कोशिश न करें कि क्या करना सम्भव है क्योंकि उनके उस अनुभव में निरर्थकता की भावना व्याप्त होगी जो कि राजनीतिक तथा मानसिक दासता के वातावरण में किये जानेवाले हर काम पर छायी रहती है। क्रियाहीन बना देनेवाले इस विचार को अपने मन से निकाल दीजिये कि इस देश में 'कुछ नहीं हो सकता'। यदि हम सर्वथा रक्तहीन क्रान्ति द्वारा चालीस करोड़ लोगों के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं तो इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि हम एक बेहतर शिक्षा-व्यवस्था का निर्माण क्यों नहीं कर सकते। निस्सन्देह यह दूसरे ढंग का काम है पर कोई भी गम्भीरता-पूर्वक यह नहीं कह सकता कि यह ज्यादा कठिन या ज्यादा महत्त्वाकांक्षापूर्ण काम है! याद रखिये कि मनोबल का ह्रास पराजय का एक मुख्य कारण होता है और सफलता प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करने के संकल्प से बढ़कर किसी दूसरी चीज से सहायता नहीं मिलती। यदि हम उसी लगन और उतने ही दृढ़ संकल्प और आदर्शवाद तथा त्याग की उसी भावना के साथ यह काम भी करें तो हम निश्चय ही अपनी शिक्षा-व्यवस्था को सन्तोषजनक ढंग से नये साँचे में ढाल सकते हैं।

मैं यहाँ पर शिक्षा के पूरे क्षेत्र पर विचार नहीं कर सकता; मैं संक्षेप में कुछ ऐसी प्रमुख शक्तियों की ओर संकेत करने तक ही अपने आपको सीमित रखूँगा जिनसे हमारी शिक्षा-व्यवस्था का रूप निर्धारित होता है, क्योंकि हमें इन्हीं शक्तियों को ध्यान में रखते हुए अपना काम संगठित करना है। इस शताब्दी में पूरे संसार में शिक्षा पर दो शक्तियों का गहरा असर पड़ता रहा है और यद्यपि भारत में अब तक उनका असर सीमित हद तक ही पड़ा है फिर भी शिक्षा के पुनर्गठन की सभी योजनाओं में इन शक्तियों को दृष्टिगत रखा जाना चाहिए। एक ओर तो पिछले पचास वर्षों से एक आन्दोलन बढ़ता रहा है जिसमें स्वतन्त्रता, वैयक्तिक प्रतिभा, आत्माभिव्यक्ति तथा बच्चों के सृजनात्मक आवेगों को उन्मुक्त करने के विचारों पर जोर दिया गया है। यह आन्दोलन बन्धनों में जकड़ी हुई, दमनकारी तथा घिसे-पिटे ढंग की उस शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध, जो उस समय सभी स्कूलों में प्रचलित थी, असन्तोष प्रकट करने के लिए चलाया गया था और 'नयी शिक्षा' के नाम से यह आन्दोलन बड़ी तेजी से बढ़ा और उसने सभी देशों में अपना प्रभाव फैला दिया—विशेष रूप से पहले महायुद्ध के बाद। दो-एक दशाब्दी बाद जब लोकतान्त्रिक व्यवस्था को

एकाधिकारी शासन की चुनौती का तथा उसके इस दावे का सामना करना पड़ा कि वह जीवन की अधिक कार्य-कुशल तथा सफल पद्धति है, तब शिक्षा के सामाजिक पहलू को सबसे अधिक प्रमुखता प्राप्त हुई। लोकतन्त्र को न केवल सदाचार तथा नैतिकता की दृष्टि से अपनी सार्थकता सिद्ध करनी थी बल्कि उसे यह भी सिद्ध करना था कि वह सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन का एक व्यावहारिक तथा कारगर रूप है और फलस्वरूप स्कूलों के सामने 'सामाजिक व्यक्ति' को शिक्षित करने की तात्कालिक समस्या उठ खड़ी हुई, अर्थात् ऐसे व्यक्ति को जिसकी पूर्णतः विकसित वैयक्तिक प्रतिभा स्वतन्त्रता के तकाजों को समझकर उन्हें पूरा कर सके और साथ ही सामाजिक जीवन की आम व्यवस्था के साथ उचित रूप से एकाकार हो सके, और जिस व्यक्ति में अच्छे नागरिक की जिम्मेदारियों को निभाने की योग्यता हो तथा वह इन्हें निभाने के लिए तत्पर हो। पश्चिमी जगत् में शिक्षा का पिछली कुछ दशाब्दियों का इतिहास इन्हीं दोनों शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रगति तथा ह्रास, संघर्ष तथा संश्लेषण का इतिहास रहा है। मैं यहाँ पर इस बात का उल्लेख यह स्पष्ट करने के लिए कर रहा हूँ कि इस समय भारत में हम इन दोनों शक्तियों का प्रभाव एक साथ अनुभव कर रहे हैं और इसी वजह से हमारे शिक्षा के क्षेत्र में पायी जानेवाली परिस्थिति को उसका विशेष महत्त्व भी प्राप्त हुआ है और इसी वजह से वह परिस्थिति इतनी उग्र भी हो गयी है। अबसे पहले हमारे स्कूलों पर सीमित उद्देश्यों, अध्यापन तथा अनुशासन की रूढ़िबद्ध विधियों और संकुचित तथा औपचारिक पाठ्यचर्याओं का प्रभुत्व रहा है। उन्होंने ऐसे विद्वान् पैदा किये जिनके विचारों में जाग्रति पैदा नहीं हुई और जिनके व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं हो पाया, जिन्होंने उन्मुक्त क्रियाकलाप द्वारा आत्माभिव्यक्ति का रोमांच अनुभव नहीं किया। उन्होंने आम तौर पर ज्ञानोपार्जन तथा अनुशासन की दमनपूर्ण विधियों का सहारा लिया और उन पर उस सर्वाधिक अनैतिक भावना का प्रभुत्व रहा जिसे हम भय कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने बच्चों के स्वभाव और उनके प्रकृत विकास की सम्भावना को अपार क्षति पहुँचायी; इन स्कूलों को जितनी जल्दी बदल दिया जाये या खत्म कर दिया जाये उतना ही अच्छा है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे स्कूल सच्चे शैक्षणिक केन्द्र बन जायें तो यह आवश्यक है कि उनमें स्वतन्त्रता की भावना का संचार किया जाये, उनकी विधियों तथा पाठ्यचर्याओं को और उनके उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को गलत परम्पराओं के बन्धन से मुक्त किया जाये।

परन्तु यह चित्र का केवल एक पहलू है। किसी भी परिस्थिति में और किसी

भी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्कूलों का काम अपने विद्यार्थियों की योग्यताओं तथा क्षमताओं का स्वतन्त्र विकास करना होना चाहिए। गत दो दशाब्दियों से भारत में शिक्षा के बारे में जाग्रत विचार रखनेवाले लोग तथा अच्छे स्कूल इस समस्याकी ओर वास्तवमें काफी ध्यान दे रहे हैं। परन्तु हमारे देश के स्वतन्त्र हो जानेके फलस्वरूप और इस देश में सामाजिक न्याय के आदर्श का पालन करनेवाली धर्म-निरपेक्ष तथा लोकतान्त्रिक राज्य-व्यवस्था स्थापित करने की हमारी कोशिश के फलस्वरूप इस परिस्थिति में हाल ही में एक नये तथा शक्तिशाली तत्त्व का समावेश हो गया है। किसी भी देश की जनता को इस महान् आदर्श तथा इस महान् उत्तरदायित्व के योग्य बनाने की शिक्षा देने का काम सचमुच बहुत कठिन है। परन्तु जब हम इस काम को निकट तथा सुदूर अतीत की पृष्ठभूमि में देखते हैं तो इसकी कठिनाइयाँ चिन्ताजनक हद तक स्पष्ट हो उठती हैं। कई शताब्दियों के एकतान्त्रिक शासन के बाद, जिनमेंसे पिछले १५० वर्ष विदेशी शासन के वर्ष थे, हमें अपने देशवासियों को लोकतान्त्रिक आचरण तथा मनोवृत्ति की शिक्षा देनी है। इस काल के दौरान में विदेशी शासन को हमारे देशवासियों में स्वतन्त्र लोगोंवाले गुण पैदा करने में कोई दिलचस्पी नहीं थी; उस शासन-व्यवस्था के सभी अंगों को, जिनमें शिक्षा भी शामिल थी, आम तौर पर ऐसे ढीले-ढाले और दब्बू किस्म के लोग पैदा करने में दिलचस्पी थी जो आँख मूँदकर हर चीज को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लें और ऊपर से थोपी गयी व्यवस्था के हाथों के खिलौने बने रहें। यह सच है कि मनुष्य के मस्तिष्क में काम करनेवाली अज्ञेय शक्तियों ने इसी शासन के अन्तर्गत ऐसे स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया जो स्वतन्त्रता को सर्वोपरि मानते थे और ऐसी लगन के साथ उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे जैसी कि सच्चे प्रेमी में अपनी प्रेमिका को पाने के लिए होती है। परन्तु यह भी सच है कि अधिकांश लोगों ने अपनी इस पराधीनता को स्वीकार कर लिया था और उनमें कोई दूसरे गुण भले ही पैदा हुए हों पर साहस, पहलकदमी, सहकारिता और त्याग के गुण बिलकुल नहीं पैदा हो सके जो लोकतान्त्रिक संस्थाओं को सफलतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। अब जबकि हम सहसा स्वतन्त्र हो गये हैं—वैसे ही जैसे गर्मी में प्रातःकाल देखते-देखते धूप निकल आती है, तो हम देखते हैं कि हम उसके लिए तैयार नहीं हैं, न बौद्धिक दृष्टि से न नैतिक दृष्टि से। शिक्षा को यह कमी जल्दी और बहुत कार्य-कुशल ढंग से पूरी करनी होगी और स्कूलों तथा समाज-शिक्षा केन्द्रों के जरिए एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण करना होगा जो इस काम को पूरा कर सके। उसे अतीत के अभिशापों के खिलाफ लड़ना होगा और

निष्क्रिय दृष्टिकोण के स्थान पर सक्रिय दृष्टिकोण और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण के स्थान पर सामाजिक चेतना से परिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा। यह एक ऐसा काम है जिसे दूसरे देशों में करने की कोशिश की गयी है और कई दशाब्दियों के बाद भी, कहीं-कहीं तो कई शताब्दियों के बाद भी, इस काम को पूरा नहीं किया जा सका है—शायद यह काम पूर्णतः कभी समाप्त होगा भी नहीं! अपने देश में और असाधारण वेग से होनेवाले परिवर्तनों की इस शताब्दी में हमें शीघ्रतर सफलता प्राप्त करने के लिए बहुत तेजी से और जुटकर काम करना होगा।

परन्तु हमारे यहाँ एक और बात भी है जिसकी वजह से राजनीतिक पराधीनता से स्वाधीनता में और सामाजिक पद के कारण तथा उत्तराधिकार में मिलनेवाले विशेषाधिकारों पर आधारित समाज से लोकतन्त्र तथा न्याय पर आधारित समाज में संक्रमण में कुछ जटिलता पैदा हो गयी है। हमारी स्वतन्त्रता का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ उनकी यही विशिष्टता है—देश का विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे, मारकाट और रक्तपात, लाखों लोगों का नैतिक तथा भौगोलिक रूप से अपनी जड़ से कट जाना और युद्ध के अन्न की कमी और मुद्रा-प्रसार जैसे अनेक दुष्परिणाम जिनकी वजह से जन-साधारण का जीवन एक लम्बी परीक्षा बन गया है। साधारण परिस्थितियों में स्वतन्त्रता का चिरपोषित स्वप्न पूरा हो जाने पर सृजन तथा सहकार्य की शक्तियों के स्रोत उन्मुक्त हो जाते और जन-साधारण अपनी नयी प्राप्त की हुई तथा नयी-नयी आजमायी हुई समस्त शक्ति बटोरकर अपने देश को एक महान् राष्ट्र बनाने में जुट जाते। परन्तु इन परिस्थितियों में स्वतन्त्रता का मीठा फल भी बहुतों के लिए कड़ुवा बन गया और सफलता के उल्लास के बजाय वे निरीह, हतोत्साह और निराश हो गये। शिक्षा को अपने जिम्मे यह कष्टसाध्य तथा श्रेयस्कर काम लेना है कि इन दुःखद घटनाओं के कारण आत्मा पर जो अनेक घाव लगे हैं उन्हें अच्छा करे, हमारे मन तथा मस्तिष्क में अपने चिरपोषित आदर्शों के प्रति फिर आस्था उत्पन्न करे, हमारे मन में अधिक सुखी जीवन की आशा फिर जाग्रत करे और शिथिल तथा निरुत्साह स्त्री-पुरुषों को इस जीवन के लिए संघर्ष करने की इच्छा, संकल्प तथा क्षमता प्रदान करे। उसे साम्प्रदायिकता के उस उन्माद के खिलाफ लड़ना है जिसकी लपटें देश के विभाजन के बाद की घटनाओं के कारण भड़क उठी थीं; उसे प्रान्तीय, प्रादेशिक तथा संकुचित स्वार्थों पर आधारित पार्थक्य की भावना के खिलाफ लड़ना है जो अपना मनहूस सर उठा रही है और सबसे बढ़कर शिक्षा को सहिष्णुता, उदारता तथा दया के गुण पैदा करने हैं जिनके बिना मानव-जीवन तथा मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत

नहीं हो सकती। जब तक हम शिक्षा के लक्ष्य की कल्पना इस रूप में नहीं करेंगे—जिसका अर्थ यह है कि यदि हम और हमारे जैसे हजारों लोग ऐसा करने में असमर्थ रहेंगे—तो शिक्षा हमेशा निरर्थक ही रहेगी।

मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि हममें से बहुत-से लोग अपने स्कूलों में अध्यापन तथा प्रशिक्षण के स्तर में सुधार करने और राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण में उनकी भूमिका को श्रेयस्कर बनाने के लिए उत्सुक हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए हमें बहुत-से काम करने होंगे जिन सबको यहाँ गिनाना मेरे लिए सम्भव नहीं है पर मैं अपने हेडमास्टरों तथा निरीक्षण-अधिकारियों के सामने यह सुझाव अवश्य रखूँगा कि वे इन कामों को उन शक्तियों तथा मानदण्डों को दृष्टिगत रखकर पूरा करने की कोशिश करें जिनका मैं उल्लेख कर चुका हूँ। उन्हें अध्यापकों के साथ सक्रिय घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए, थोड़े-थोड़े समय बाद उनके सम्मेलन करने चाहिए, फिर उनके सामने अपने अवलोकन के अनुसार तथ्य और अपनी कल्पना के अनुसार मानदण्ड प्रस्तुत करने चाहिए, उनसे अपने विचार व्यक्त करने तथा आलोचना करने को कहना चाहिए और फिर उनसे कुछ इस ढंग की बात कहनी चाहिए :

"हम अपने देश के इतिहास के और विश्व के इतिहास के एक बहुत संकटमय काल में शैक्षणिक कार्य करने में संलग्न हैं। निस्सन्देह इस काम में अनेक कठिनाइयाँ हैं—जिनमें वे आर्थिक कठिनाइयाँ तथा बाधाएँ भी शामिल हैं जिनका हमें सामना करना पड़ता है—परन्तु साथ ही यह एक बहुत ही साहसपूर्ण अभियान है : आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला एक ऐसा साहसपूर्ण अभियान जिसमें अपार सम्भावनाएँ निहित हैं। हमारे देश के सामने अनेक दुःसाध्य तथा हृदय-विदारक समस्याएँ हैं और जिस संसार में हम रह रहे हैं उस पर विपदा और युद्ध और विनाश और अणु-बम की बदलियाँ घिरी हुई हैं। हम व्यापकतम अर्थ में शिक्षा द्वारा, अपने क्षीण परन्तु सच्चे प्रयासों द्वारा, अपने दुर्बल परन्तु दृढ़ हाथों द्वारा संसार में जिस हद तक दुबारा समझदारी और न्याय का वातावरण पैदा कर सकेंगे और जिस हद तक हम सृजनात्मक शान्तिपूर्ण कार्य का उल्लास पैदा कर सकेंगे उसी हद तक हम अपने देश को तथा पूरे विश्व को इन खतरों से बचा सकेंगे और उसी हद तक दुष्टता की शक्तियों के प्रहार से बचने की आशा हो सकेगी। हमें यह लड़ाई हर घर में और हर स्कूल में, हर बढ़ते हुए बच्चे के हृदय और आत्मा में लड़नी होगी। हमें यह लड़ाई उस पिशाच के खिलाफ लड़नी होगी जो अपनी गद्दी पर बैठकर अपने अकूत कलंकित धन से—भय और लोलुपता और पूर्वाग्रह

और सत्ता की लिप्सा और विलासप्रियता के सिक्कों से--मनुष्य की आत्मा को खरीदता है। हमें इस बात की कोशिश करनी है कि हमारे बच्चे और नवयुवक इन सिक्कों को टीकरों के बराबर समझें ताकि जब वे बड़े हों तो वे खरे और खोटे को पहचान सकें, ताकि जब परीक्षा की घड़ी आये तो उनके मानदण्ड सही हों। उस समय तक वे स्वार्थपूर्ण प्रतिस्पर्धा की तुलना में सहकारी प्रयास को, धन-दौलत जुटाने से प्राप्त होनेवाले सुख की तुलना में सृजनात्मक कार्य से प्राप्त होनेवाले उल्लास को, किसी पर अपना प्रभुत्व रखने की तुलना में दया के गुण को और साम्प्रदायिकता के उन्माद की तुलना में सहिष्णुता के गुण को बढ़कर समझना सीख चुके होंगे।"

यदि हम अपने अन्दर और अपने साथ काम करनेवालों के अन्दर यह विश्वास पैदा कर सकें कि यह रवैया और यह दृष्टिकोण सही है, तो इससे हमारी सब समस्याएँ तो नहीं हल हो जायँगी पर इस बात का आश्वासन जरूर हो जायेगा कि हम उनका हल खोजने के लिए सही दिशा में आगे बढ़ेंगे। हमें पढ़ना पड़ेगा और विचार-विनिमय करना पड़ेगा और सोचना पड़ेगा और नये-नये प्रयोग करने पड़ेंगे—दुर्भाग्यवश हममें से बहुत थोड़े लोग ही ऐसा करते हैं। हमें न केवल अपने ज्ञान में वृद्धि करनी होगी बल्कि इन मानदण्डों के प्रसंग में अपने पूरे जीवन को एक नयी दिशा में मोड़ना होगा और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को समृद्ध बनाना होगा क्योंकि व्यक्तित्व ही तो शिक्षक का सबसे बड़ा धन होता है। इस प्रकार अपने साथ काम करनेवालों को एक महान् साहसपूर्ण मानव-प्रयास में अपना साझेदार बनाकर हम धैर्य तथा साहस तथा विवेक की सहायता से अपने स्कूलों को नवयुवकों के उन्मुक्त तथा सहकार्य की भावना से परिपूर्ण समाज का रूप दे सकते हैं, जिसमें उनकी वैयक्तिक प्रतिभा का दमन नहीं किया जायेगा बल्कि उसे उन्मुक्त किया जायेगा और जहाँ वे दूसरों के साथ रहकर यह सीखेंगे कि वैयक्तिक प्रतिभा का पूर्णतम विकास अलग रहने या दूसरों का शोषण करने से **नहीं** बल्कि सेवा करने और श्रेयस्कर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर काम करने से होता है। इस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग बहुत लम्बा और कष्टसाध्य तथा दुर्गम है और जितनी ही जल्दी हम इस दिशा में अग्रसर हों उतना ही अच्छा है। समय निर्ममतापूर्वक आगे बढ़ता जाता है और क्रूर नियति किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। मेरी यही कामना है कि हमारी पीढ़ी के अध्यापक बन्धुत्व की भावना लेकर इस पुनीत यात्रा को आरम्भ कर सकें।

भाग तीन

अध्यापकों की शिक्षा

१६

व्यवसाय का चुनाव

कोई भी आदमी अपना व्यवसाय किसी एक ही निश्चित कारण से नहीं चुनता। इस महत्त्वपूर्ण फैसले के पीछे अनेक कारण काम करते रहते हैं— निजि प्रवृत्ति, आर्थिक परिस्थितियाँ, सामाजिक दबाव और बहुधा संयोग भी। उदाहरण के लिए, यदि इंगलैंड के एक विश्वविद्यालय में शिक्षण की विशेष शिक्षा प्राप्त करने का अवसर एक विशेष रूप से उपयुक्त घड़ी में मेरे सामने न आया होता तो यह सम्भव है कि मैं आज किसी दूसरे काम में लगा होता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि जब हम किसी व्यवसाय को अपने स्वभाव के अनुकूल पाते हैं तो उस काम में ही कोई ऐसी बात होती होगी जो हमारी भावनाओं तथा विचारों के अनुकूल हो। शिक्षा-क्षेत्र के रूप में मुझे एक ऐसा कार्य-क्षेत्र मिल गया जो निस्सन्देह मेरे स्वभाव के अनुकूल था और मैं अपने साथ के दूसरे अध्यापकों के सामने इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहूँगा कि मुझमें इस काम के प्रति संतोष की यह भावना क्यों है।

मानसिक दृष्टि से लोग कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जिन्हें मुख्यतः विचारों में दिलचस्पी होती है, कुछ को प्रत्यक्ष व्यावहारिक कामों में या किसी काम को पूरा कर दिखाने में दिलचस्पी होती है और कुछ लोगों को अपने साथ के मनुष्यों में दिलचस्पी होती है। पहली श्रेणी के लोगों में से दार्शनिक, वैज्ञानिक, अनुसन्धान-कार्य करनेवाले लोग और कुछ सनकी लोग पैदा होते हैं; दूसरी श्रेणी में प्रशासक, अन्वेषक तथा व्यावहारिक कार्यों में व्यस्त रहनेवाले लोग होते हैं और तीसरी श्रेणी में समाज-सेवक, अध्यापक, राजनीतिक कार्यकर्ता और संसार के दुःखों का भार उठानेवाले ऐसे अन्य लोग होते हैं जिन्हें न्यूनाधिक रूप में बर्दाश्त किया जा सकता है। मैं यह समझता हूँ कि पहली दो कोटियों की अपेक्षा तीसरी कोटि से मेरा सम्बन्ध अधिक गहरा है और कोई भी ऐसा काम, जिसमें समाज-सेवा की गुंजाइश न हो, मेरी क्षमताओं को पूरी

तरह क्रियाशील नहीं कर सकता। शिक्षण-कार्य को अपनी जीवन-वृत्ति के रूप में चुनते समय मेरे मन में यह विचार था कि मुझे मुख्यतः प्रतिदिन के काम की फाइलों, आँकड़ों और हिसाब-किताब में या अपराध की समस्याओं में या कानूनी बारीकियों में सर नहीं खपाना पड़ेगा—हालाँकि मुझे अपना बहुत ज्यादा समय इन बातों में लगाना पड़ा है। मैंने सोचा था कि इसके बजाय मुझे विशेष रूप से रोचक तथा फलप्रद वातावरण में मनुष्य तथा समाज की समस्याओं को सुलझाना पड़ेगा। मैंने सोचा था कि मेरे काम का सम्बन्ध सुनियोजित परन्तु उन्मुक्त शैक्षणिक वातावरण और अध्यापक के व्यक्तित्व के मार्गदर्शक प्रभाव के अधीन बच्चों तथा किशोरवयस्क बालक-बालिकाओं के क्रमशः विकसित होते हुए जीवन के साथ होगा। कल्पनापूर्ण दृष्टि रखनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए इससे बढ़कर प्रेरणाप्रद तथा रोमांचकारी कौन-सा काम हो सकता है कि वह शुरू-शुरू में शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से लाचार दिखाई देनेवाले बच्चे को लड़खड़ाते हुए कदमों से चलकर अपनी शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं के पूर्ण विकास की मंजिल तक पहुँचते देखे और इस लक्ष्य को प्राप्त करने में उसका पथ-प्रदर्शन करे? इस आभास से बढ़कर सन्तोष और किस चीज में मिल सकता है कि हम समझदारी और सहानुभूति के साथ किसी तुतलाते हुए बच्चे को प्रवाहमय भाषण देनेवाला वक्ता या वार्तालाप करने की कला में निपुण बना दें, या किसी होनहार बच्चे की निहित कलात्मक क्षमताओं तथा उसकी रसानुभूति की शक्ति को जाग्रत कर दें या किसी पथभ्रष्ट व्यक्ति में भले और बुरे और न्याय तथा अन्याय के बीच अन्तर करने की शक्ति पैदा कर दें? हर सच्चा अध्यापक अपने अनुभव में बर्नार्ड शा के प्रख्यात नाटक पिगमेलियन की कहानी को ही कुछ हद तक दोहराता है; वह एक भोंडे पत्थर को काटकर उसमेंसे एक सुन्दर, सुडौल और सन्तुलित आकृति तैयार करता है और फिर उसमें प्राण फूँकता है। मैं सच्चा अध्यापक इसलिए कहता हूँ कि क्योंकि मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि दूसरे पेशों की तरह ही इस पेशे में भी कामचोर होते हैं जो इस सृजनात्मक कला की साधना में कूपमण्डूकों जैसी दृष्टि और भैंसे जैसी मानसिक सजगता से काम लेते हैं! ऐसे अध्यापकों को अपने काम में निश्चय ही कोई सुख नहीं मिल सकता। सुख का वरदान तो उन्हीं लोगों को मिलता है जो अपनी सारी योग्यता तथा शक्ति बच्चों की शिक्षा को अर्पित कर देते हैं और उनके जीवन को अधिक परिपूर्ण, समृद्ध तथा रुचिपूर्ण बना देने को ही अपना पुरस्कार समझते हैं।

मैं समझता हूँ कि एक और कारण था जिसकी वजह से मैं शिक्षण-वृत्ति की ओर आकर्षित हुआ। मुझे केवल इन्सानों में ही नहीं बल्कि इससे शायद

कुछ कम हद तक विचारों के जगत् में भी दिलचस्पी है। मुझे विचारों का अध्ययन तथा मूल्यांकन करने में और सृजनात्मक, गतिशील तथा जीवनप्रद विचारों का प्रचार करने में दिलचस्पी है। मेरा विश्वास है कि संसार उस समय तक कोई प्रगति नहीं कर सकता जब तक कि न केवल हमारी संस्कृति में गहराई से जमे हुए विचारों का निरन्तर प्रचार तथा मूल्यांकन किया जाये बल्कि हम नये विचारों को ग्रहण करने को भी तत्पर हों। इस बात का सौभाग्य भी अध्यापकों को ही मिलता है कि वे उदीयमान पीढ़ी के लोगों में अपनी संस्कृति के श्रेष्ठतम तत्वों को समझने की क्षमता पैदा करें और उन्हें नयी विचारधाराओं के प्रति संवेदनशील बनायें। पहले महायुद्ध के दौरान में आक्सफर्ड के किसी प्रोफेसर से अपने ही को सब-कुछ समझनेवाले एक बहुत बड़े फौजी अफसर ने पूछा : "इस समय जब कि सभी अच्छे और सच्चे अंग्रेज अपने देश की खातिर जान की बाजी लगाकर लड़ रहे हैं, आप यहाँ विश्वविद्यालय में क्या कर रहे हैं?" प्रोफेसर ने शान्त भाव से उत्तर दिया : "मैं? कुछ भी नहीं। मैं तो बस उस संस्कृति के सृजन में सहायता देता हूँ जिसकी रक्षा के लिए शायद आप लड़ रहे हैं।" मैं कोई बहुत लम्बा-चौड़ा दावा तो नहीं करता पर इतना जरूर महसूस करता हूँ कि जिस हद तक हम अपने आदर्शों के प्रति सच्चे रहते हैं और अपने वैयक्तिक जीवन तथा कार्य में श्रेयस्कर तथा अश्रेयस्कर के बीच, महत्त्वपूर्ण और तुच्छ के बीच अन्तर करते हैं उस हद तक हम अपनी संस्कृति तथा अपने आत्मिक जीवन की रक्षा तथा उसका पुनर्निर्माण करने में यथाशक्ति योग देते हैं। यह तो सच है कि यदि संकुचित दृष्टि से देखा जाये तो हमारा काम केवल यह होता है कि हम अपने शिष्यों को कुछ निश्चित विषय पढ़ा दें और उनके प्रतिदिन के आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखें। पर वास्तव में क्या इतना ही हमारा काम है? क्या हममें से कोई भी उस संघर्ष के प्रति उदासीन रह सकता है जो हमारे चारों ओर चल रहा है, अर्थात् जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध करने का संघर्ष जिनमें हम अपने शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों को पूरा कर सकें, उन नैतिक मूल्यों की रक्षा करने का संघर्ष जिसे हर युग के श्रेष्ठतम विचारकों ने पवित्र माना है, जैसे सामाजिक न्याय, सहिष्णुता, स्वाधीनता, विचार-स्वातन्त्र्य और मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान? यदि ये चीजें सचमुच इस योग्य हैं कि उन्हें प्राप्त करने की कोशिश की जाये तो हमें न केवल नागरिकों की हैसियत से बल्कि अध्यापकों की हैसियत से भी उनके प्रति निष्ठा रखनी चाहिए। नागरिकों की हैसियत से हमें इन मूल्यों को सुरक्षित रखने से सम्बन्धित कार्य तथा उत्तरदायित्व में अपना हिस्सा पूरा करना होगा। परन्तु अध्यापकों की हैसियत

से यह विशेष रूप से हमारा कर्तव्य है कि हम अपने अध्यापन-कार्य तथा अपने वैयक्तिक जीवन को इन लक्ष्यों के अनुकूल ढालें ताकि हमारे पढ़ाये हुए जो नवयुवक तथा नवयुतियाँ संसार में प्रवेश करें उनमें सहिष्णुता हो, उनका दृष्टि-कोण व्यापक हो, उनमें मानव-प्रेम की भावना हो, वे सामाजिक न्याय के प्रति आस्था रखते हों और इतने काफी समझदार हों कि वे जातीय, राष्ट्रीय तथा साम्प्रदायिक पार्थक्य तथा वैमनस्य के प्रचार का शिकार न हो जायें। यदि मुझे यह विश्वास न होता कि एक अध्यापक की हैसियत से मैं इस महान् ध्येय में अपना तुच्छ योग दे सकता हूँ तो मैंने अध्यापक का पेशा कभी चुना ही न होता। कारण यह कि बुनियादी तौर पर पढ़ना-लिखना सिखा देने का महत्त्व बढ़ईगीरी या साइकिल चलाने जैसा कोई कौशल सिखा देने से अधिक नहीं है—शायद कुछ कम ही हो—और छोटे-छोटे बच्चों को भूगोल या गणित के कुछ तथ्य सिखा देने का महत्त्व किसी दफ्तर में बैठकर बड़ी-बड़ी संख्याएँ जोड़ने या छोटी-मोटी दुकानदारी करने से अधिक नहीं है।

अध्यापकों के काम में एक और बहुत बड़ी सुविधा है। इसमें अवकाश बहुत मिलता है, पढ़ाई के दिनों में तो उतना अधिक नहीं जितना वार्षिक छुट्टियों के दिनों में जब हम अपनी खास दिलचस्पियों और रुचियों में समय लगा सकते हैं और इच्छा होने पर कुछ दिन तक जीवन के बँधे हुए ढर्रे से हटकर जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यह अलग बात है कि भारत के अध्यापक किस हद तक इस सुअवसर का लाभ उठाते हैं या उठा सकते हैं। परन्तु मेरी दृढ़ भावना है कि यदि हम अवकाश के इस सुअवसर का समुचित उपयोग करें तो हम न केवल अधिक अच्छे अध्यापक बल्कि अधिक सुखी मनुष्य भी बन सकते हैं। अध्यापकों को जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनकी वजह से ये आदर्श और इन्हें पूरा करने के संभावित अवसर केवल एक ढोंग बनकर रह गये हैं। परन्तु मेरा हमेशा यह विश्वास रहा है कि हम जीवन को शर्तों का पाबन्द नहीं बना सकते; हम यह नहीं कह सकते कि जब तक समाज हमारे साथ अच्छा व्यवहार नहीं करेगा तब तक अध्यापकों के रूप में अपनी पूरी योग्यता और पूरी शक्ति के साथ काम नहीं करेंगे। आर्थिक कठिनाइयों के कारण चिन्तित और संकटग्रस्त रहना यों भी काफी बुरा होता है। परन्तु यदि इसके साथ ही हम यह भी महसूस करें कि हम शिल्पकारों और समाज-सेवकों के रूप में असफल रहे हैं और न केवल हमारी जेबें खाली हैं बल्कि हमारा अन्तःकरण भी शुद्ध नहीं है, तो यह और भी बुरा होगा। कम-से-कम क्या यह नहीं हो सकता कि ईमानदारी और कार्य-कुशलता का स्तर ऊँचा रखने के कारण ही अध्यापकों का सामाजिक तथा आर्थिक स्तर ऊँचा माना जाने लगे?

१७

समाज में अध्यापकों का स्थान

विज्ञान के इस युग में, जिसमें मनुष्यों और मानव-समूहों की पारस्परिक निर्भरता निरन्तर बढ़ती जा रही है, मनुष्य के हर कार्य-क्षेत्र के सफलता-पूर्वक काम करने के लिए बौद्धिक तथा सामाजिक सम्पर्क, सहकारी प्रयास और उद्देश्य के प्रति लगन नितान्त आवश्यक हो गये हैं। यदि ये चीजें न हों तो आधुनिक जीवन का जटिल संगठन ठीक से काम करना बन्द कर दे। यह बात शिक्षा की महान् राष्ट्रीय सेवा के लिए विशेष रूप से तात्कालिक महत्त्व रखती है क्योंकि इस क्षेत्र में जब तक प्राथमिक स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक के अध्यापक समझदारी के साथ तथा सचेतन रूप से 'मिलकर काम' नहीं करेंगे तब तक कोई स्थायी सुधार सम्भव नहीं है। जब तक उनके बीच पारस्परिक सम्पर्क नहीं बढ़ाये जायेंगे और सुधारों में शीघ्रता लाने तथा व्यावसायिक एक-बद्धता को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक अनुभवों तथा विचारों के आदान-प्रदान को प्रोत्साहन नहीं दिया जायेगा तब तक इस बात का खतरा बना रहेगा कि शिक्षा का पथ-प्रदर्शन तथा निर्देशन स्वयं अध्यापकों के बीच से उत्पन्न होने और शिक्षा के क्षेत्र में मजबूती से जड़ पकड़ लेने के बजाय बाहर से प्राप्त किया जायेगा और सतही रहेगा। आगे चलकर सफलता अधिकाधिक इस पर निर्भर करेगी कि अध्यापकों में स्वयं कितनी सृजनात्मक क्षमता है और वे अपने अन्दर काफी सप्राण शक्ति, व्यावसायिक कार्य-कुशलता तथा बहुत बड़ी हद तक एक असंतुष्ट 'सेवा' को एक स्वनिर्देशित स्वतंत्र राष्ट्रीय कार्य में परिवर्तित कर देने की चेतना पैदा कर पाये हैं कि नहीं। सचमुच राष्ट्रीय तथा सप्राण शिक्षा-पद्धति बाहर से यंत्रवत् थोपी गयी शिक्षा-पद्धति से इस बात में भिन्न होती है कि वह राष्ट्रीय जीवन की तूफानी शक्तियों में से उत्पन्न होती है और उन्हीं शक्तियों के निर्देशन में आगे बढ़ती है और राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा आदर्शों को पूरा करने की कोशिश करती है, जब कि बाहर से यंत्रवत् थोपी

गयी शिक्षा-पद्धति एक बनी-बनायी योजना होती है जो बाहर से प्रतिपादित कुछ उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तैयार की जाती है। इस परिस्थिति से एक अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि राष्ट्रीय शिक्षा की किसी भी बुनियादी योजना में अध्यापकों तथा समाज के अन्य सभी सदस्यों को शैक्षणिक तथा तत्सम्बन्धी सामाजिक समस्याओं तथा प्रयासों में दिलचस्पी होती है और इनकी ओर ध्यान देना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। इस दृष्टि से वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति अध्यापकों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है क्योंकि बुनियादी तौर पर उनकी जाग्रतिपूर्ण लगन और कर्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा से ही न केवल शिक्षा के क्षेत्र का बल्कि पूरे राष्ट्रीय जीवन का पुनरुत्थान हो सकता है।

किसी समाज के जीवन में अध्यापकों के स्थान के बारे में मेरे मन में अनेक बार जो विचार उठते रहते हैं उन्हें मैं आपके सामने रख देना चाहूँगा। यदि आप किसी देश की जनता के सांस्कृतिक स्तर को नापना चाहते हैं कि किसी समाज-विशेष में किन मूल्यों को मान्यता दी जाती है तो उसका एक अच्छा तरीका यह है कि आप मालूम करें कि उस समाज में अध्यापकों का सामाजिक पद क्या है और उन्हें कितनी प्रतिष्ठा प्राप्त है? या इसी प्रश्न को हम अधिक व्यापक रूप में इस प्रकार भी पूछ सकते हैं कि सामाजिक हितों तथा उद्देश्यों के सोपान में शिक्षा तथा शैक्षणिक कार्य को क्या स्थान प्राप्त है? क्या उन्हें समस्त राष्ट्रीय गतिविधियों में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा बहुमूल्य कार्य के रूप में सम्मान का पद दिया गया है या उन्हें केवल गौण महत्त्व की सजावटी चीज या, इससे भी बदतर, वास्तविक जीवन के क्षेत्र में केवल एक दासी की तरह समझा जाता है? मेरा यह मत है कि किसी भी देश की महानता बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश के रहनेवाले शिक्षा-सम्बन्धी कामों को, जिनसे उनके बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जीवन को पोषण मिलता है, कितना महत्त्व देते हैं। कुछ लोगों को इस आश्चर्यजनक "अध्यापकीय" मानदण्ड से मतभेद होगा और वे कहेंगे कि किसी राष्ट्र की महानता को परखने की अधिक उपयुक्त कसौटी उसकी सम्पदा, या वहाँ के उद्योग अथवा राजनीतिक सत्ता अथवा सैन्य-बल या कला के क्षेत्र में प्राप्त की गयी सफलता हो सकती है। यह एक ऐसा मतभेद है जिसे कोई भी समझदार आदमी अनावश्यक अथवा महत्त्वहीन कहकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता और अध्यापक तो बिल्कुल ही नहीं कर सकते क्योंकि यह इस सवाल के बारे में कुछ बुनियादी मतभेदों का द्योतक है कि जीवन में किन उद्देश्यों अथवा मानदण्डों को बहुमूल्य तथा संतोषजनक समझा जाना

चाहिए। इसका फैसला अन्त में जाकर इस पर निर्भर करता है कि जीवन में किन चीजों को हम आवश्यक या अनावश्यक समझते हैं या किन चीजों को हम अधिक महत्त्व देते हैं और किन चीजों को कम : सारांश यह कि इसका फैसला उन मानदण्डों की समस्या पर निर्भर करता है जिनकी रक्षा करना शिक्षा का प्रमुखतम लक्ष्य है। अपने मानदण्डों के अनुसार व्यक्ति भी और समूह भी कुछ ऐसे उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को चुन लेते हैं जिन्हें वे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण समझते हैं और जिन हितों को वे कम महत्त्वपूर्ण समझते हैं उन्हें त्यागकर वे अपने चुने हुए उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को पूरा करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति या समूह धन-दौलत या ताकत हासिल करने को अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य समझता है वह जान लड़ाकर इस उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश करेगा और इसकी वेदी पर सहर्ष अन्य सभी चीजों को—शारीरिक सुख, मानसिक शान्ति, यहाँ तक कि सत्य और न्याय को भी—बलि चढ़ा देगा। दूसरी ओर जो व्यक्ति या समूह सत्य या न्याय या सुन्दरता की खोज में जीवन का उल्लास प्राप्त करता है और इन्हीं चीजों को जीवन का सार-तत्त्व समझता है वह खुशी-खुशी सांसारिक सुख-सुविधाके बहुत-से प्रलोभनों को त्याग देगा, जिनके लिए दूसरे लोग शायद अपनी आत्मा भी बेच देने को तैयार हो जायें। मानव-जाति का पूरा इतिहास मानदण्डों की इसी इसी समस्या की ओर जन-साधारण की प्रतिक्रिया का व्यावहारिक प्रदर्शन है। प्राचीनकाल के यूनानवासी ललित-कलाओं के क्षेत्र में अपनी सफलताओं—अनुपम सौन्दर्यवाली अपनी कलाकृतियों—और अपने उन्मुक्त, आलोचनात्मक तथा दार्शनिक विचारों के कारण ही सांस्कृतिक दृष्टि से अमर हैं। मानव-प्रगति के इतिहास में रोमवासियों का सम्मान विधि तथा प्रशासन के क्षेत्र में उनके योगदान की वजह से ही किया जाता है। परन्तु इन दोनों में से कोई भी अपने-अपने समाज में सामाजिक अथवा आर्थिक न्याय की व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सका। प्राचीन हिन्दू-संस्कृति जिस समय अपने गौरव के शिखर पर थी उस समय वह नैतिक तथा दार्शनिक मानदण्डों और मोक्ष की समस्याओं से सम्बन्धित विवेचनों की दृष्टि से बहुत समृद्ध थी। परन्तु यह संस्कृति भी किसी ऐसी समाज-व्यवस्था का आयोजन न कर सकी जो जात-पाँत तथा वर्ग के बन्धनों से मुक्त होती। इसलाम ने सामाजिक लोकतन्त्र तथा मनुष्य की समानता पर आधारित समाज के पक्ष में एक शक्तिशाली आन्दोलन छेड़ा और जात-पाँत, धर्म तथा वर्ण के भेदों को मिटाने का लक्ष्य अपने सामने रखा। पिछले दो सौ वर्षों से अनेक पश्चिमी राष्ट्र बड़ी लगन और उल्लेखनीय सफलता के साथ

वाणिज्यिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व के दोहरे उद्देश्य का पालन करते आये हैं और उन्होंने कई दूसरे मानदण्डों को इस केन्द्रीय लक्ष्य के तकाजों के अधीन कर दिया है और अपने राष्ट्रीय चरित्र की कई विशेषताओं को इन तकाजों के अनुकूल ढाल लिया है। इस तरह के और उदाहरण गिनाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वयं अपने युग में और अपनी आँखों के सामने हमने जर्मनी, इटली, रूस तथा तुर्की जैसे कई राष्ट्रों का कायापलट होते देखा है जिन्होंने अपने अतीत की बहुत-सी बुरी और बहुत-सी अच्छी परम्पराओं से एक झटके में नाता तोड़ लिया क्योंकि उन्होंने कुछ प्रमुख, बल्कि कहना चाहिए शक्तिशाली राष्ट्रीय, जातीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्य अपने सामने रखे थे। यह सच है कि हर राष्ट्र और देश में हमेशा कुछ असाधारण व्यक्ति तथा समूह ऐसे होते हैं जो अपने विचार-स्वातन्त्र्य को इतना महत्त्व देते हैं कि वे किसी भी सामाजिक अथवा राजनीतिक दण्ड से भयभीत होकर उसे त्यागने को तैयार नहीं होते। परन्तु हम देखते हैं कि हर देश के साधारण स्त्री-पुरुषों के जीवन पर कुछ प्रमुख मानदण्डों का प्रभुत्व रहता है और इन्हीं मानदण्डों द्वारा उनके आचार-विचार तथा उनकी भले-बुरे की परख का निर्धारण होता है। जब भी इन मानदण्डों के अन्तर्गत स्वार्थ की भावना को लेकर निजी तथा राष्ट्रीय लाभ के लिए प्रयत्नशील रहने पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है और फलस्वरूप बल-प्रयोग की उपासना की गयी है—जैसा कि दुर्भाग्यवश आज अधिकांश राष्ट्रों में हो रहा है—तब हमेशा इसका परिणाम यही हुआ कि लड़ाई-झगड़े और रक्तपात का एक अन्तहीन क्रम चलता रहा है और निरंकुश अत्याचार पर आधारित शासन-व्यवस्थाओं की स्थापना हुई है। इसीलिए हमें अध्यापकों की हैसियत से उन लोगों से अपना नाता बिलकुल तोड़ लेना चाहिए जो वैयक्तिक अथवा सामूहिक स्तर पर निजी स्वार्थ के पीछे ही पागल रहने को प्रोत्साहन देते हैं और हमें निरन्तर शान्तिपूर्ण तथा सहकारी सांस्कृतिक कार्यों की प्रधानता तथा महत्त्व पर जोर देते रहना चाहिए क्योंकि ऐसे ही प्रयासों में मानवता ने सच्ची आत्माभि-व्यक्ति तथा सच्चा सुख पाया है।

मानव-जाति के अधिकांश बड़े-बड़े विचारकों तथा सुधारकों का यह मत रहा है कि इस प्रकार के कार्यों में सच्चे ज्ञान के प्रसार तथा अच्छी शिक्षा को हमेशा एक गौरवशाली स्थान प्राप्त रहा है। इस मत का कारण यह है कि ज्ञान वह शक्ति है जिसकी सहायता से मनुष्य अपने परिवेश की शक्तियों को समझता तथा उन पर नियन्त्रण रखता है; यही वह ज्योति है जिसकी सहायता से वह आत्मा तथा परमात्मा की सच्ची खोज का मार्ग ढूँढ़ निकालता है। शिक्षा वह

साधन है जो मनुष्य-जाति ने अपनी सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा करने और अतीत के वरदानों की सहायता से भविष्य को समृद्धिशाली बनाने के लिए तैयार किया है; शिक्षा की सहायता से मनुष्य अन्धविश्वास, दकियानूसी सिद्धान्तों और अज्ञान के बन्धनों से मुक्त होता है और शिक्षा ही उसे स्पष्ट रूप में निर्धारित लक्ष्यों की दिशा में अपने आपको निर्देशित की शक्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि उन राष्ट्रों का जीवन आशामय तथा भविष्य उज्ज्वल है जो शिक्षा और ज्ञानोपार्जन को अपना सर्वोपरि लक्ष्य मानते हैं जो ज्ञान की खोज में 'चीन तक' जाने को तैयार रहते हैं। परन्तु जो राष्ट्र इन उद्देश्यों की उपेक्षा करता है और इन्हें अपने काम में सबसे प्रमुख स्थान नहीं देता उसका विनाश अवश्यम्भावी है। धन-सम्पदा या शासन-सत्ता की अपनी परम्पराओं के बल पर वह कुछ समय के लिए तो उन्नति कर सकता है पर उसके अस्तित्व की गहराइयों में कोई दम नहीं होता, उनमें जीवन-शक्ति नहीं होती। विशेष रूप से आजकल की तेजी से बदलती हुई दुनिया में, जिसमें प्रतिक्षण सक्रिय रूप से मानसिक प्रवृत्तियों को बदलने और सामाजिक पुनर्निर्माण करने की जरूरत पड़ती है, यदि कोई राष्ट्र बौद्धिक गतिरोध में फँस जाये जो उसका विनाश निश्चित है—कम-से-कम संसार में एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उसकी कोई साख बाकी नहीं रह जायेगी। अंग्रेजों की राजनीतिक तथा मानसिक पराधीनता में आने के समय से स्वयं हमारे देश का इतिहास इस ऐतिहासिक नियम का एक बहुत अच्छा दृष्टान्त है।

अपने दृष्टिकोण के समर्थन में इतना कहकर मैं फिर उसी प्रश्न पर आता हूँ जिससे हमने शुरुआत की थी: हमारे समाज के जीवन में शिक्षा को क्या महत्त्व दिया गया है और हमारे वर्तमान समाज में अध्यापकों का क्या स्थान है। परिस्थिति का मूल्यांकन करने का एक तर्कसंगत तरीका यह होगा कि हम यह देखें कि शिक्षा पर कितना पैसा खर्च किया जाता है और हमारे अध्यापकों का सामाजिक तथा आर्थिक पद कितना ऊँचा है। हमारे देश में शिक्षा का बजट बहुत ही शोचनीय चित्र प्रस्तुत करता है। इस विशाल और प्रधानतः निरक्षर देश में—पिछले दस वर्षों में हुई वृद्धि के बावजूद—आज भी शिक्षा पर जो रकम खर्च की जाती है वह हमारे कुल राष्ट्रीय बजट के १३% से भी कम है जबकि सेना पर उसका लगभग ३०% भाग खर्च किया जाता है! निश्चय ही साधारण परिस्थितियों में महत्त्व की दृष्टि से मानदण्डों का जो क्रम होना चाहिए उसे इस परिस्थिति में बिल्कुल ही उलट दिया गया है। इस असाधारण परिस्थिति का दोष मुख्यतः हमारे ऊपर नहीं है और कुछ हद तक हम आम अन्तर्राष्ट्रीय

परिस्थिति के शिकार हैं। परन्तु जो लोग रचना तथा सृजन के मोर्चे पर "शान्ति की विजयों' के लिए बिना कुछ कहे और बिना किसी दिखावे के लड़ते हैं उन्हें यह माँग करने का अधिकार है कि उन्हें अधिक संरक्षण प्रदान किया जाये। बहुत-से लोगों को यह अरुचिकर बात जानकार आश्चर्य होगा कि कुछ वर्ष पहले तक लगभग ३५ करोड़ की आबादीवाले हमारे देश में शिक्षा पर सभी स्रोतों से कुल मिलाकर लगभग उतनी ही रकम खर्च की जाती थी जितनी कि अकेले लन्दन की शैक्षणिक संस्थाओं पर। यदि अध्यापकों के वेतन को कसौटी बनाया जाये तो परिस्थिति कुछ कम निराशाजनक नहीं है क्योंकि प्राथमिक स्कूल का औसत अध्यापक बहुधा गाँव के पटवारी या पुलिस कान्स्टेबल या चपरासी तक से कम वेतन पाता है और वह 'बनाता' तो और भी कम रकम है। कुछ प्रान्तों में ऐसे स्कूल मिल जाना कोई असाधारण बात नहीं है जिनमें ग्रेजुएट तथा प्रशिक्षित अध्यापकों को ४०-५० रुपये मासिक वेतन मिलता है। (इधर हाल में उनके वेतन और मँहगाई भत्ते में जो वृद्धि हुई है उससे कहीं ज्यादा वृद्धि चीजों की कीमतों में हुई है।) अध्यापक समाज की जो सेवा करते हैं उसके बदले में हम उन्हें यह मूल्य चुकाते हैं, उस सेवा के बदले में जिस पर राष्ट्र की संस्कृति तथा प्रगति का क्रम कायम रहना निर्भर करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह बिलकुल ही बेतुकी बात है कि किसी व्यक्ति का मूल्य इस आधार पर आँका जाये कि वह कितना पैसा पैदा करता है; परन्तु इस वाणिज्यिक युग में जब हर चीज को इसी कसौटी पर परखा जाता है, अध्यापकों की आर्थिक स्थिति हमारे सांस्कृतिक मानदण्डों के लिए एक कलंक की बात है।

जब से शिक्षा के केन्द्रीय परामर्श-मण्डल की रिपोर्ट में अध्यापकों का पद ऊँचा उठाने की आवश्यकता का जोरदार ढंग से समर्थन किया गया है तब से परिस्थिति में कुछ थोड़ा-सा सुधार हुआ है—कम-से-कम इस आवश्यकता को सिद्धान्ततः स्वीकार करने के मामले में। परन्तु आज भी यह कोई असाधारण बात नहीं है कि सरकारी तथा गैर-सरकारी शिक्षा-संस्थाएँ अध्यापकों के निम्न वेतन की सफाई में 'बाजार भाव' के कठोर नियम का हवाला देती हैं—मानो सांस्कृतिक सेवाएँ भी गाजर-मूली की तरह बिकती हों। इस अनुचित व्यवहार की जिम्मेदारी सम्बन्धित अधिकारियों के मत्थे मढ़कर आम जनता के लोग निश्चिन्त होकर बैठ रहते हैं। परन्तु उनसे यह अरुचिकर प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि समाज में अध्यापकों का पद क्या है और समाज में उन्हें कितनी प्रतिष्ठा प्राप्त है ? और यह चीज सरकार की आर्थिक स्थिति पर उस हद तक निर्भर नहीं करती जितनी कि जनमत पर ? क्या हम अपने सामाजिक सम्बन्धों

में अध्यापकों को उचित सम्मान प्रदान करके उनकी दशा में सुधार करने की कोशिश करते हैं ? ईमानदारी की बात तो यह है कि सर्वसाधारण शिक्षा के क्षेत्र में समाज की सेवा करनेवाले लोगों की अपेक्षा पैसेवाले और ऊँचे ओहदेवाले लोगों का सम्मान करने को अधिक तत्पर रहते हैं; वे लोगों के नैतिक अथवा मानवीय गुणोंकी ओर ध्यान नहीं देते। यह बात कुछ अजीब तो जरूर है पर सभी इससे परिचित हैं कि लोग ऐसे लोगों का ज्यादा सम्मान करते हैं जो उन्हें कोई हानि पहुँचा सकते हों। पटवारी तथा पुलिस कान्स्टेबल से लेकर ऊपर तक के किसी भी अफसर को झुककर सलाम करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी पर उन लोगों की ओर वे कोई ध्यान भी नहीं देते जिनका काम ही इस ढंग का होता है कि वे चुपचाप रचनात्मक सेवा करते रहते हैं। स्कूल को थोड़ी-सी फीस या अध्यापक को थोड़ा-सा वेतन देकर आम तौरपर बच्चों के माता-पिता यह समझने लगते हैं कि सच्ची लगन के साथ काम करनेवाले अध्यापक का पूरे समाज पर जो अपार ऋण होता है उसे उन्होंने सूद समेत चुका दिया है। क्या यह विचित्र बात नहीं है कि यूरोपीय देशों में—जिन्हें हम बुनियादी तौर पर वाणिज्यिक तथा भौतिकवादी देश समझते हैं—समाज में अध्यापकों को दूसरे उच्च सरकारी अफसरों से कम सम्मान नहीं प्रदान किया जाता, जब कि भारत में—जो हमेशा सांस्कृतिक तथा आत्मिक मूल्यों पर जोर देता रहा है—अध्यापकों को उनकी आर्थिक दशा के कारण समाज में तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है ? यह बात इसलिए और भी खेदजनक है कि भारत में प्राचीनकाल से विद्वानों तथा अध्यापकों को बहुत सम्मानित पद देने की परम्परा रही है, हालाँकि उनके पास न बहुत धन-दौलत होती थी और न वह शक्ति ही जो व्यावसायिक संगठन बनाने से प्राप्त होती है।

यह बता सकना तो कठिन है कि अध्यापकों के सामाजिक पद में यह अवनति क्यों हुई, पर इस अवनति को न्यायोचित तो किसी प्रकार भी नहीं ठहराया जा सकता। प्राचीनकाल में यद्यपि शिक्षा का क्षेत्र बहुत संकुचित था फिर भी लोगों में उसके प्रति आस्था तथा निष्ठा बनी रहती थी क्योंकि धर्म और राष्ट्रीय संस्कृति के साथ उसका गहरा सम्बन्ध माना जाता था और अध्यापकों के बारे में यह समझा जाता था कि वे आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं। परन्तु जब से अंग्रेजी शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ यह सम्बन्ध धीरे-धीरे क्षीण होता गया और अन्त में बिलकुल समाप्त हो गया और शिक्षा को केवल सरकारी नौकरी पाने का साधन समझा जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि है कि अध्यापकों पर भी सचेतन अथवा अचेतन रूप से

'अधिकतम लाभ, अधिकतम श्रम'वाले व्यापारिक सिद्धान्त का असर पड़ा है और इस प्रकार इस समृद्ध सृजनात्मक कार्य को गिराकर साधारण दूकानदारी के स्तर पर पहुँचा दिया गया है और उसकी विलक्षणता और आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले उसके गूढ़कर तत्त्वों को नष्ट कर दिया गया है। इन कारणों से और बहुत-सी दूसरी बातों की वजह से शिक्षा और शिक्षकों दोनों ही की साख घट गयी है।

परन्तु सारी बात इतनी ही नहीं है। वर्तमान परिस्थिति का उचित मूल्यांकन करने की कोशिश करते समय हम अध्यापकगण अपने उत्तरदायित्व की ओर से आँखें नहीं मूँद सकते; ऐसा करना अपने दोष को न देखना और दूसरे के छोटे-से-छोटे दोष को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखना होगा! क्या हम ईमानदारी के साथ यह कह सकते हैं कि समाज में हमारा पद नीचा होने का एकमात्र कारण यह है कि सरकार और आम लोग हमारे उचित महत्त्व को नहीं समझते और यह कि अपने काम में स्वयं हमारी अयोग्यता और कर्तव्यपरायणता की अपर्याप्त भावना का इसमें कोई हाथ नहीं है? आम सामाजिक तथा सांस्कृतिक विघटन की जो प्रक्रिया हमारे पूरे समाज को बहुत समय से दूषित करती रही है उसने हमारा मनोबल भी नष्ट कर दिया है। हमने अपने सच्चे उद्देश्यों को दृष्टि से ओझल कर दिया है और इसीलिए हमारे अन्दर वह प्रेरणा और अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठा की वह भावना नहीं रह गयी है जिसके बिना कोई भी बड़ा काम नहीं किया जा सकता। हमारे बीच बहुत-से लोग ऐसे हैं जिनमें बौद्धिक योग्यता, काम के प्रति लगन और कर्तव्यपरायणता की भावना बहुत कम है। मुझे तो डर है कि हममें से अधिकांश इस बात को नहीं समझते कि वर्तमान युग ने समझ तथा सद्भावना रखनेवाले सभी लोगों को जो चुनौती दी है उसका मुकाबला करने में हमें कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी; यह चुनौती हम अध्यापकों को खास तौर पर दी गयी है जिनके ऊपर न केवल शिक्षा द्वारा बेहतर स्त्री-पुरुषों को तैयार करने की जिम्मेदारी है बल्कि जिन्हें एक बेहतर समाज-व्यवस्था का निर्माण करने के लिए भी सजग रूप से काम करना है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, हमारे वर्तमान युग में बहुत शानदार सम्भावनाएँ निहित हैं। विज्ञान ने मनुष्य के हाथों में ऐसी कल्पनातीत शक्ति सौंप दी है जो उचित सामाजिक तथा नैतिक पथ-प्रदर्शन की सहायता से विपत्तियों में फँसी हुई हमारी इस दुनिया को सचमुच एक सुथरी जगह बना सकती है जिसमें हर व्यक्ति और हर समूह अपनी समस्त निहित क्षमताओं का पूरा-पूरा उपयोग कर सकता है। दूसरी ओर इसके साथ ही यह

ऐसा युग भी है जिसमें अज्ञान, दरिद्रता, रोग तथा नाना प्रकार के सामाजिक तथा आर्थिक अन्यायों ने मानव-जाति के बहुत बड़े-बड़े हिस्सों के जीवन को कटु तथा विषाक्त बना दिया है, जिसमें वैज्ञानिक कौशल की सारी प्रबल शक्तियों को मुख्यतः शोषण, विनाश तथा आत्मघातक संघर्ष के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। यह युग जन-साधारण के विशाल बहुमत को सांस्कृतिक निधियों तक पहुँचने का अवसर नहीं देता; इन सांस्कृतिक निधियों से पूरी तरह लाभान्वित होने के लिए न केवल उचित शिक्षा की आवश्यकता है बल्कि यह भी जरूरी है कि हमारे पास कुछ खाली समय हो और हमें अपने जीवन के भौतिक साधन जुटाने के क्रूर संघर्ष से कुछ समय के लिए छुट्टी मिले। इस प्रकार हमारे अध्यापकों को आरम्भ से ही बाधाओं का सामना करना पड़ता है और बाद में चलकर बड़ी मेहनत से किये गये उनके सारे काम पर पानी फिर जाता है क्योंकि लोगों के लिए श्रेयस्कर उद्देश्यों तथा रुचियों में अपना समय देना असम्भव हो जाता है। क्या अध्यापकों की हैसियत से हम न्याय और अन्याय, सहयोग और शोषण, मानवता और बर्बरता के बीच चलनेवाले इस महान् और युगांतरकारी संघर्ष को हाथ पर हाथ धरे देखते रहेंगे? या हम उत्साह के साथ उन विचारों तथा आन्दोलनों के समर्थन में अपनी सारी शक्ति लगा देंगे जो मनुष्यों के बीच पारस्परिक न्याय की भावना उत्पन्न करने और ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की कोशिश करते हैं जिनमें व्यक्ति उपयोगी ढंग से अपनी क्षमताओं को व्यक्त करने के लिए उन्मुक्त हो? सच पूछा जाये तो इस प्रश्न में स्वयं इसका उत्तर निहित है क्योंकि अध्यापकों के सामने कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं। जो भी अध्यापक सचमुच अध्यापक कहलाने योग्य है उसे न्याय और प्रगति की शक्तियों की ओर रहना ही पड़ेगा। केवल इसी प्रकार वह अपने अस्तित्व को सामाजिक तथा नये जीवन का संचार करनेवाली शक्ति के रूप में स्वीकार करा सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शिक्षण एक उदात्त व्यवसाय है और मानव-इतिहास की महानतम तथा श्रेष्ठतम विभूतियों ने इस व्यवसाय को अपनाया था क्योंकि सभी युगों के समस्त महान् धार्मिक नेता तथा सुधारक—बुद्ध, कनफ्यूशियस, सुकरात, ईसा, मुहम्मद, गांधी—इस शब्द के सच्चे अर्थ में मानव-जाति के शिक्षक थे। उन्होंने अपने समय के जन-साधारण के जीवन में स्वीकार किये जानेवाले मानदण्डों का ईमानदारी और साहस के साथ विश्लेषण किया और उनको बेहतर तथा उच्चतर जीवन की कल्पना तथा आदर्श से परिचित कराया। उनकी महानता इस बात में है कि वे अपनी इस कल्पना को साकार करने में तन-मन से जुटे रहे और

उस काम में विलीन होकर उन्होंने स्वयं अपने अस्तित्व की गहराइयों में लोकोत्तर शक्तियाँ खोज निकालीं। हमारे इस युग के अध्यापक भी इन महात्माओं के पद-चिह्नों का अनुसरण करके अपनी जाति के लिए अधिक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकते हैं और तुच्छ तथा स्वार्थपूर्ण हितों पर अपना ध्यान केंद्रित न करके अपने से बढ़कर किसी ध्येय को करके सुख की स्थापना करने की कोशिश कर सकते हैं। जिस तरह के मनुष्यों के बीच और जिस प्रकार की समाज-व्यवस्था में उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया है उससे ज्यादा अच्छे मनुष्य और उससे ज्यादा अच्छी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना उनका ध्येय होना चाहिए। क्या हमारे अध्यापक इस चुनौती को स्वीकार करने और अपने अन्दर इस महान् कार्य को पूरा करने को तैयार हैं? वे और दूसरे देशों में उनके साथी इस प्रश्न का जो उत्तर देंगे उसी पर मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का भविष्य निर्भर करता है।

१८

अध्यापकों की शिक्षा के बारे में एक नयी विचारधारा

शिक्षा-सम्बन्धी कार्य को देखने का मुझे जितना अधिक अवसर मिलता है—अच्छे काम को भी और बुरे काम को भी—उतनी ही गहराई से मैं यह महसूस करता हूँ कि किसी भी शिक्षा-पद्धति में अध्यापक का जितना महत्त्व होता है उतना अन्य सभी शिक्षा-सम्बन्धी उपकरणों का मिलाकर भी नहीं होता—जैसे पाठ्यचर्या, पाठ्य-पुस्तकें, सामग्री तथा इमारत इत्यादि। यदि हम ऐसे अध्यापक नहीं ढूँढ़ सकते जो बहुत समझदार हों और जिनमें उच्च स्तर की कर्तव्य-परायणता की भावना तथा अपने काम के प्रति लगन हो और यदि उन्हें अपने काम से काफी सन्तोष नहीं प्राप्त हो सकता तो शिक्षा की किसी भी योजना के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। शायद इसीलिए हमारे देश में शिक्षा को पुनर्रचना की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना में यही लक्ष्य रखा गया है कि अध्यापकों की योग्यता, उनके पद और उनकी भावी सम्भावनाओं में सुधार किया जाये क्योंकि इस समय तो इनका स्तर शोचनीय हद तक नीचा है। यदि देश अध्यापकों की वर्तमान अवस्था को और अधिक समय तक सहन करने को तैयार है तो उसे शिक्षा के स्तर में किसी प्रकार का सुधार होने या शिक्षा का प्रसार करने की अपनी योजनाओं में कोई सफलता प्राप्त करने की आशा करने का कोई अधिकार नहीं है। बहुत पहले १९३७ में ही जब केन्द्रीय शिक्षा परामर्श-मण्डल ने युद्धोत्तर शैक्षणिक विकास की अपनी योजना प्रकाशित की थी तब उसमें उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि भविष्य में जो अध्यापक भरती किये जायें उन्हें कम से कम कितना वेतन मिले, उनके वेतन में किस हिसाब से वृद्धि हो और उनमें कम से कम कितनी योग्यता हो। ये दोनों चीजें अभिन्न रूप से एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं—यदि अध्यापकों के वेतन में उचित सुधार नहीं किया जायेगा तो अध्यापकों का काम करने के लिए पर्याप्त योग्यता रखनेवाले लोग काफी संख्या में नहीं मिल सकेंगे।

परन्तु यह केवल पहली ही शर्त है कि जो लोग यह काम करना चाहते हों उनके सामने एक उज्ज्वल भविष्य का आकर्षण हो। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि हर आदमी जो अध्यापक बनना चाहता है इस काम के योग्य नहीं होता। इसमें एक विशेष ढंग से कष्टसाध्य काम करना पड़ता है जिसके लिए कुछ सामाजिक तथा नैतिक गुण कम से कम उतने ही आवश्यक होते हैं जितनी कि विद्वत्ता और बौद्धिक क्षमता। इसलिए प्रशिक्षण-संस्थाओं का काम तो भावी अध्यापकों के व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त करना आरम्भ करने से पहले ही शुरू हो जाता है। उचित लोगों को चुनने की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा कठिन समस्या भी उनके काम का एक अंग है। यह तो आवश्यक है ही कि प्रशिक्षण की विधि को प्रभावशाली बनाया जाये, परन्तु यदि प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले ही अच्छे न हों या अनुपयुक्त हों तो अच्छे प्रशिक्षण से क्या हो सकता है? इसलिए जिन शिक्षा-शास्त्रियों पर भारत में अध्यापकों के प्रशिक्षण का काम संगठित करने की जिम्मेदारी है उनके सामने सबसे पहली समस्या यह है कि वे ऐसे उचित लोगों को चुनने का कोई व्यावहारिक तथा सफल उपाय मालूम करें जो आगे चलकर अच्छे अध्यापक बन सकते हों। मैं यहाँ पर इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक तो विचार नहीं कर सकता, परन्तु यह बात बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होती है कि यदि हम चाहते हैं कि अध्यापकों के पेशे के बारे में यह न समझा जाये कि जो लोग दूसरे पेशों में स्वीकार नहीं किये जाते या उनके लिए अनुपयुक्त समझे जाते हैं वे इस व्यवसाय की शरण ले सकते हैं तो हमें कुछ काम करने होंगे। उचित लोगों को चुनने में सुविधा प्रदान करने के लिए हमें माध्यमिक तथा सीनियर बेसिक स्कूलों से निकलनेवाले हर विद्यार्थी की प्रगति का काफी विस्तृत ब्योरा रखना होगा। इस ब्योरे में न केवल पढ़ाई-लिखाई में उनकी प्रगति का स्पष्ट तथा सही-सही चित्रण किया जायेगा बल्कि उनकी सामाजिक रुचियों, उनकी व्यावहारिक क्षमताओं, उनकी अवकाशकालीन रुचियों, अनुशासन तथा नेतृत्व से सम्बन्धित उनकी योग्यता और काम के प्रति तथा अपने साथ के दूसरे विद्यार्थियों के प्रति उनके आम रवैये का भी पूरा विवरण होगा। मनुष्य के व्यक्तित्व का ताना-बाना इन्हीं प्रवृत्तियों तथा रुझानों से मिलकर बनता है। यदि किसी शिक्षाशास्त्री को यह न मालूम हो कि किसी लड़के में कितनी सामाजिक चेतना है या उसमें चीजों को उनके सही प्रसंग में समझने की कितनी क्षमता है या किस हद तक वह दूसरों के साथ मिलकर काम कर सकता है तब तक यह जानने से उसे कोई लाभ नहीं हो सकता कि उसे गणित में या भाषा में कितने नम्बर मिले थे। अध्यापक बनने की इच्छा रखने-

वाले हर विद्यार्थी का यह 'व्यक्तित्व-विवरण', जिसमें उसकी स्कूल की पूरी पढ़ाई की प्रगति का चित्र दिया होगा, उसका मूल्यांकन करने के लिए बहुत अच्छे आधार का काम दे सकता है, लेकिन इस शर्त पर कि अध्यापकों को भी यह विवरण समझदारी तथा ईमानदारी के साथ रखने की शिक्षा दी जा चुकी हो। फिर इसके बाद इन विवरणों के अतिरिक्त उनकी बुद्धि तथा रुचि को जाँचने के लिए कुछ ऐसे परीक्षणों की आवश्यकता होगी जो विशेष रूप से होनहार अध्यापक चुनने के उद्देश्य से आयोजित किये गये हों। मैं समझता हूँ कि इस उद्देश्य से विदेशों में जो परीक्षण प्रचलित हैं वे उन्हीं रूपों में हमारे लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। अच्छे और अनुभवी अध्यापकों को खोजकर उन्हें मनोवैज्ञानिकों के रूप में प्रशिक्षित करना आवश्यक होगा ताकि वे अपने निजी अनुभव और अपने प्राविधिक ज्ञान के आधार पर अलग-अलग स्थानीय परि-स्थितियों के लिए उपयुक्त परीक्षण निर्धारित कर सकें। परन्तु यह भी काफी नहीं है। परीक्षणों और प्रगति-विवरणों के बारे में यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनमें कोई गलती होगी ही नहीं या उनसे कोई गलत निष्कर्ष निकाले ही नहीं जा सकते: क्षमता तथा व्यक्तित्व की सबसे खरी कसौटी व्यवहार की कसौटी है, अर्थात् यह कि जो आदमी अध्यापक बनने की प्रशिक्षा ले रहा है वह कक्षा में कैसे प्रगति करता है और बच्चों के साथ इन्सानों जैसा व्यवहार करने में वह कहाँ तक सफल है? अपने काम के दौरान में वह व्यक्तित्व के अनिवार्य गुणों का—सहानुभूति, सूझ-बूझ, शील-स्वभाव और अनुशासन-शक्ति के गुणों का—परिचय देता है या नहीं? इस बात का पता केवल व्यवहार की कसौटी पर परखने से, वास्तविक अनुभव की कसौटी पर परखने से चल सकता है। इसलिए मेरा तो यह विचार है कि अध्यापकों की हर प्रशिक्षण-संस्था के प्रधान को—जिसे उसकी प्रखर बुद्धि तथा लगन के कारण इस पद के लिए चुना जाता है—इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह अपने विद्यार्थियों में से कुछ ऐसे विद्यार्थियों को छाँटकर निकाल दे जो स्वभाव से ही अच्छे अध्यापक बनने की योग्यता न रखते हों। इसमें इस बात का भी खतरा है कि कभी किसी को इस प्रकार निकाल देने से उसके साथ अन्याय हो; हो सकता है कि इसमें कुछ धन का अपव्यय भी हो। परन्तु ऐसा न करने से जो दूसरा खतरा पैदा हो सकता है उसके सामने यह खतरा नगण्य है; वह दूसरा बड़ा खतरा यह है कि हम अध्यापकों के पेशे पर, और फलस्वरूप बच्चों की आनेवाली कई पीढ़ियों पर, कुछ ऐसे अध्यापक थोप दें जो किसी कारण अच्छे शिक्षक न बन सकते हों।

अध्यापकों के प्रशिक्षण-कार्य को जिस नयी विचारधारा से प्रेरणा लेनी चाहिए उसके साथ उचित व्यक्तियों को चुनने के इस प्रश्न का क्या सम्बन्ध है ? यदि हम अध्यापक बनने का प्रशिक्षण देने के लिए उचित लोगों को चुनने में असफल रहें तो फिर किसी फलप्रद तथा सृजनात्मक विचारधारा की बात करना बिल्कुल व्यर्थ है । इस पेशे से अपनी जीविका कमानेवाले अधिकांश अभागे लोगों ने यह वृत्ति इसलिए नहीं अपनायी कि उन्हें इस काम से कोई लगाव था बल्कि केवल आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ही उन्होंने यह मार्ग अपनाया । हर असंगठित, स्वार्थी तथा प्रतिस्पर्द्धापूर्ण समाज में हमेशा बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी रुचि के अनुसार काम नहीं मिल पाता । इसलिए जो भी काम उनके हाथ लगता है उसे वे पकड़ लेते हैं और इसी प्रकार बहुत-से लोग अपनी तरफ से इस काम को पसन्द किये बिना ही अध्यापक बन जाते हैं, ऐसे अध्यापक जिन्हें बहुत कम वेतन मिलता है और जो सदा असंतुष्ट रहते हैं ! ऐसे लोगों में किसी दूरदर्शितापूर्ण विचारधारा का संचार करने की कोशिश करना बिलकुल व्यर्थ होगा; यदि उनके पूरे वातावरण को बदल कर उनके दृष्टिकोण तथा रवैये में आमूल परिवर्तन कर दिया जाये तो बात दूसरी है । परन्तु यदि उचित लोगों को चुनकर और उन्हें पर्याप्त वेतन देकर हम प्रशिक्षण के लिए बेहतर किस्म के लोगों को भरती कर सकें तो उनमें उचित शिक्षा-सम्बन्धी विचारधारा पैदा करने तथा विकसित करने के लिए परिस्थिति बहुत अनुकूल होगी । इस प्रकार की विचारधारा एक महीने या एक वर्ष में तो पैदा नहीं हो सकती बल्कि वह तो एक ऐसी प्रक्रिया होगी जो जीवन-भर चलती रहेगी और उसके बीज उसी समय पड़ चुके होंगे जब वे प्रशिक्षण-स्कूलों तथा कालेजों में शिक्षा प्राप्त कर रहे होंगे । इस मामले में ये संस्थाएँ क्या कर सकती हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम इस बात पर दृष्टि डाल लें कि हमारी शैक्षणिक योजनाओं द्वारा किन लक्ष्यों को पूरा करने की कोशिश की जा रही है, क्योंकि तभी हम अध्यापकों की प्रशिक्षण संस्थाओं की भूमिका को उसके सही प्रसंग में देख सकेंगे । हमारी योजना का लक्ष्य केवल यहीं नहीं है कि वर्तमान शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं को इतना व्यापक बना दिया जाये जितनी कि इससे पहले कभी कोशिश भी नहीं की गयी थी, बल्कि उसका उद्देश्य यह भी है कि हमारी शिक्षा का लक्ष्य और उसकी दिशा बिलकुल नयी हो । प्राथमिक शिक्षा अब लोगों को साक्षर बनाने का कोई अस्थिर प्रयत्न नहीं है (क्योंकि यह साक्षरता जितने समय में प्राप्त की जाती है उससे भी जल्दी भुला दी जाती है !)

बल्कि बुनियादी शिक्षा की योजना की कल्पना के अनुसार प्राथमिक शिक्षा उत्पादनशील कार्य तथा विभिन्न कौशलों के साथ और बच्चे के आम सामाजिक-आर्थिक वातावरण के साथ स्कूल का घनिष्ठ तथा विवेकपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम है। बच्चे को किसी औपचारिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए शिक्षा नहीं दी जायेगी बल्कि उसे एक सुनियोजित पाठ्यचर्या तथा कार्य के माध्यम से नागरिक बनने के लिए प्रशिक्षित किया जायेगा। इसके अतिरिक्त यह शिक्षा बहुत थोड़े-से लोगों तक सीमित न रहकर सार्विक, निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा होगी और ७ या ८ वर्ष तक जारी रहेगी। माध्यमिक अवस्था में पहुँचकर सभी विद्यार्थियों के लिए एक बँधे हुए पाठ्यक्रम के अनुसार एक जैसी शिक्षा पाना और यन्त्रवत् निर्धारित की गयी किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक नहीं होगा, बल्कि माध्यमिक शिक्षा के लिए ऐसे बहु-प्रयोजन स्कूलों की एक व्यापक व्यवस्था की जायेगी जिनके क्षेत्र में विविध व्यावसायिक विषय भी आ जायें और इन विषयों को व्यावहारिक रुचि रखनेवाले विद्यार्थियों की शिक्षा का सफल माध्यम बनाया जायेगा। इस प्रकार, यह पुनर्गठित माध्यमिक शिक्षा एक ओर तो स्कूल को जीवन की वास्तविकताओं के अधिक निकट लायेगी—जिनमें केवल अफसर और क्लर्क और वकील लोग ही नहीं हैं बल्कि खेती-बारी, कारखानों का काम, हस्तशिल्प तथा शारीरिक श्रम जैसे काम भी शामिल हैं—और दूसरी ओर यह शिक्षा विभिन्न कोटियों के विद्यार्थियों की रुचि के अनुकूल हो जायेगी और उनकी लाक्षणिक प्रतिभाएँ ज्यादा अच्छी तरह उभरकर सामने आयेंगी। इस योजना में प्रौढ़-शिक्षा की विशाल समस्या को अब तक की अपेक्षा अधिक समझदारी और साहस के साथ हल करने का लक्ष्य भी सामने रखा गया है। इस बात की पूरी कोशिश की जा रही है कि न केवल निरक्षरता को समूल नष्ट कर दिया जाये बल्कि अज्ञान, उदासीनता और जीवन की उन गलत पद्धतियों के असह्य बोझ को उतार फेंका जाये जिनके कारण जन-साधारण का जीवन घुटकर रह गया है और जिनके कारण समाज-सुधार की हर कोशिश में बाधा पड़ती है। इस क्षेत्र में भी अध्यापकों को ही सबसे आगे रहकर काम करना होगा।

यहाँ पर हम अपने आपको शिक्षा के इन्हीं तीन पहलुओं तक सीमित रखेंगे क्योंकि अध्यापकों की प्रशिक्षण-संस्थाओं को मुख्यतः बुनियादी, माध्यमिक तथा प्रौढ़-शिक्षा से सम्बन्धित अध्यापकों को ही प्रशिक्षित करना होगा। क्या इस पृष्ठभूमि में उस 'नयी विचारधारा' की किन्हीं विशेषताओं का संकेत मिलता है जिसकी प्रेरणा हमारे अध्यापकों के प्रशिक्षण में व्याप्त होनी चाहिए ? मैं तो

समझता हूँ कि इस पृष्ठभूमि में इस नयी विचारधारा की रूपरेखा उतनी ही स्पष्टता के साथ झलक रही है जिस प्रकार कभी-कभी सन्ध्या के समय बादलों के पीछे छुपा हुआ सूरज उन पर रुपहली गोट लगाकर उनकी आकृति को स्पष्ट कर देता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारी प्रशिक्षण-संस्थाएँ और हमारे अध्यापक अपनी इस नयी भूमिका को श्रेयस्कर ढंग से निभायें तो इस विचारधारा की मुख्य विशेषताएँ क्या होनी चाहिए ? पहली बात तो यह कि उन्हें अपने काम की कल्पना इस रूप में नहीं करनी होगी कि वे समाज के एक खास अंग को शिक्षा दे रहे हैं बल्कि उन्हें यह कल्पना करनी होगी कि वे पूरे राष्ट्र को शिक्षा दे रहे हैं। यह अन्तर मात्रा का नहीं बल्कि गुण का है—इससे समस्या का पूरा रूप ही बदल जाता है। यदि आप मुख्यतः कुछ खास वर्गों के बच्चों को पढ़ाते हैं—उदाहरण के लिए, उच्च वर्ग तथा मध्यम वर्ग के बच्चों को जो इस शिक्षा के लिए आसानी से पैसा खर्च कर सकते हैं—तो आपको जान-बूझकर या अनजाने ही उनकी आवश्यकताओं, उनकी समस्याओं, यहाँ तक कि उनके पूर्वाग्रहों को ध्यान में रखकर अपनी बात कहनी पड़ती है। पाठ्य-पुस्तकों के चुनाव, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यचर्या के निर्धारण, स्कूल की गतिविधियों के संगठन और सामाजिक आदतों तथा विचारों के संचार आदि सभी चीजों पर आपके व्यावसायिक कार्य की सामाजिक सीमाओं की बहुत गहरी छाप रहती है, भले ही आपको इसका आभास न रहता हो। परन्तु यदि हम शिक्षा को एक राष्ट्रव्यापी प्रक्रिया समझने लगें—जिसमें लड़के-लड़कियाँ, मर्द-औरतें, बच्चे-बूढ़े, गरीब-अमीर, शहरी-देहाती; वे जिनके पास बेहद फुरसत है और वे जिनके ऊपर काम का बेहद बोझ है सभी तरह के लोग आ जाते हैं—तो समस्या बिलकुल ही दूसरा रूप धारण कर लेती है। तब शिक्षा समाज के किसी एक खास हिस्से के हित की बात नहीं रह जाती, वह पूरे जीवन का एक अभिन्न अंग बन जाती है। खेत और खलिहान, फैक्ट्री और कारखाने, शिल्पकार और मेमार, वैज्ञानिक और कलाकार—वास्तव में हर प्रकार के उत्पादनशील कार्य को, जिससे समाज का भौतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पोषण प्राप्त करता है, उस समृद्ध भण्डार का एक अंग समझा जाता है जिससे स्कूल को उसी प्रकार पोषण प्राप्त करना चाहिए जैसे छपी हुई पुस्तक से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। पहली बात तो यह कि वर्तमान परिस्थितियों में स्पष्टतः इस बात का तो कोई सवाल नहीं उठता कि सबके लिए बिलकुल एक जैसी संकुचित तथा सीमाबद्ध शिक्षा-पद्धति लागू कर दी जाये, क्योंकि इन लाखों बच्चों को जिनमें वैविध्य का गुण है, बहुत बड़ा खतरा मोल लिये बिना एक ही साँचे में नहीं ढाला जा सकता, वह साँचा

कितना ही निर्विकार क्यों न हो। अध्यापक को इन बच्चों की शिक्षा के लिए अधिक वैविध्यपूर्ण सामग्री प्रदान करनी होगी ताकि उनका भरपूर तथा स्वाभाविक विकास सुनिश्चित हो सके। दूसरे, जब तक स्वयं अध्यापक को भी मजबूती से जमी हुई और अति 'सम्मानित' विद्वत्ता की परम्परा से बाहर नहीं निकाला जायेगा—जिस परम्परा के अन्तर्गत ज्ञान और शिक्षा को मौखिक अथवा छपे हुए शब्दों के माध्यम से प्राप्त किये गये किताबी ज्ञान का पर्याय समझा जाता था—तब तक वह अपने इस नये काम को पूरा नहीं कर पायेगा। अध्यापकों के दिमागों को 'नये साँचे में ढालने' के सिलसिले में प्रशिक्षण-संस्थाओं की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होगी। वे अपने छात्रों को स्कूलों में पढ़ाने के कुछ कर्णप्रिय 'सिद्धान्त' तथा 'प्रणालियाँ' सिखाकर या उन्हें कक्षा में पढ़ाते समय उपयोगी सिद्ध होनेवाले कुछ 'गुर' बताकर सन्तोष नहीं कर सकतीं। वास्तव में मेरा अपना खयाल तो यह है कि हम इन प्रणालियों तथा सिद्धान्तों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। वे इस हद तक तो उपयोगी होते हैं कि उनसे नये अध्यापक को मोटी-मोटी गलतियों और भूलों से बचने में सहायता मिल सकती है और वह बाल-मनोविज्ञान के नियमों का उल्लंघन करने के खतरे से बच सकता है। परन्तु ये सिद्धान्त तथा प्रणालियाँ हमेशा थोड़ी-बहुत अस्पष्ट रहेंगी और उनकी कभी भी बिलकुल नपी-तुली परिभाषा नहीं की जा सकेगी। उनकी सहायता से वह केवल अटक-अटककर ही अपना मार्ग ढूँढ़ सकता है और वे ठोस तथा वास्तविक रूप तभी धारण करेंगी जब अध्यापक विवेकपूर्ण तथा आत्म-आलोचनात्मक अनुभव की अग्नि-परीक्षा से गुजर चुका हो। इसलिए अध्यापकों की प्रशिक्षण-संस्थाओं के लिए यह उचित होगा कि वे प्रणाली-निर्धारण की परम्परागत समस्याओं की ओर जितना ध्यान देती हैं उससे कहीं अधिक ध्यान वे शिक्षा की बुनियादी समस्या के प्रति—और उन सामाजिक समस्याओं के प्रति जिनके बीच उनका विकास होता है—अध्यापकों का दृष्टिकोण बदलने की ओर दें। इस प्रकार वाद-विवाद तथा अध्ययन और, यदि सम्भव हो तो, सामाजिक संस्थाओं के साथ वास्तविक सम्पर्क द्वारा अध्यापकों को यह बात अच्छी तरह समझा दी जानी चाहिए कि जिन विद्यार्थियों को शिक्षा देने का भार उन्हें सँभालना है उनसे समाज किन बातों की आशा करेगा—प्राविधिक कार्य-कुशलता तथा योग्यता के सम्बन्ध में भी और वैयक्तिक, सामाजिक तथा नैतिक गुणों के सम्बन्ध में भी—और यह कि स्कूलों में जो शिक्षा उन्हें वस्तुतः मिल रही है वह उनमें किस हद तक इन आशाओं को पूरा करने की योग्यता पैदा कर सकती है। फिर इन

अध्यापकोंको बहुत ही गहरे वैयक्तिक रूपसे यह भी समझना चाहिए कि इन विद्यार्थियों का सम्बन्ध समाज के विभिन्न स्तरों के साथ होता है जो अनेक प्रकार के ऐसे अभावों का शिकार रहते हैं जिनका बहुत गहरा असर उनके पूरे मानसिक दृष्टिकोण तथा रवैयों पर पड़ता है। इससे न केवल यह निष्कर्ष निकलता है कि वे अपनी अध्यापन-प्रणालियों को अलग-अलग विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालें बल्कि इसके लिए इस बात की भी जरूरत है कि वे कोशिश करके सभी उपलब्ध वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक साधनों से सभी विद्यार्थियों में एक ऐसी विचारधारा उत्पन्न करें जो सामाजिक न्याय और उचित व्यवहार के पक्ष में और सामाजिक पार्थक्य तथा अनुचित असमानता के विरुद्ध हो। क्योंकि उन्हें केवल किसी एक प्रभुत्वशाली वर्ग की चिन्ता नहीं करनी है बल्कि पूरे राष्ट्र को शांतिपूर्वक तथा सद्व्यवहारपूर्ण जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देनी है। यह कोई असम्भव या आवश्यकता से अधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण लक्ष्य नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ और नाजी जर्मनी जैसे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न देशों में जो कुछ करके दिखा दिया गया है उसके अनुभव से सिद्ध होता है कि जब शिक्षा-संस्थाओं के पीछे किसी सुस्पष्ट लक्ष्य की प्रेरणा होती है तो वे पूरे-पूरे राष्ट्रों के विचारों तथा भावनाओं पर कितना शक्तिशाली प्रभाव डालकर उन्हें एक नये साँचे में ढाल देती हैं। इसलिए अध्यापकों के प्रशिक्षण और उससे पहले स्कूल तथा कालेज में उनकी पूरी शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिए कि उनकी सामाजिक चेतना तीव्र की जाये, उन बच्चों के प्रति भी जिनकी शिक्षा का भार उन्हें सौंपा जाता है और उस बृहत्तर समाज के प्रति भी जिसके कि वे सदस्य होते हैं। यदि वे इस भावना के साथ और इस विचारधारा से प्रेरणा लेकर अपना काम करेंगे तो उनका समस्त प्राविधिक ज्ञान एक श्रेष्ठतर तथा अधिक मानवीय शिक्षा-पद्धति की सेवा में लगेगा। अन्यथा उद्योग तथा राजनीति की तरह ही शिक्षा के क्षेत्र में भी कार्य-कुशलता को अश्रेयस्कर तथा समाज-विरोधी लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में इस्तेमाल करना हमेशा सम्भव रहा है।

हमें इस बातके परिणामों को भी ध्यान में रखना है कि प्राथमिक शिक्षा का संगठन किसी-न-किसी शिल्प के आधार पर किया जायेगा या कम-से-कम किसी शिल्प-कार्य से उसका सम्बन्ध होगा और माध्यमिक शिक्षा ज्यादातर बहु-प्रयोजन हाई स्कूलों के जरिये दी जायेगी। इस नयी परिस्थिति का सामना करने के लिए नये प्रकार के अध्यापकों की जरूरत होगी, ऐसे अध्यापकों की जो न केवल शारीरिक तथा प्राविधिक कौशल रखते हों बल्कि जो यह भी समझते हों कि

जीवन में शारीरिक श्रम का क्या महत्त्व है। इसके लिए जरूरत इस बातकी है कि अध्यापकों की प्रशिक्षण-संस्थाओं की पाठ्यचर्या को अधिक समृद्ध और उनके आधार को अधिक व्यापक बनाया जाये ताकि उनमें प्रशिक्षण प्राप्त करने-वाले सभी लोग किसी-न-किसी प्रकार के शिल्प में कुछ हद तक निपुणता प्राप्त कर लें। इसमें यह भी आशय निहित है कि हम अपने क्षेत्र को और व्यापक बनायें और इन संस्थाओं में तथा इस पेशे में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों को लायें जो इन अध्यापकों को उनके द्वारा आगे चलकर स्कूलों में किये जानेवाले काम के सम्बन्ध में अपने व्यावहारिक अनुभव से लाभान्वित कर सकें। इसका अर्थ यह होगा कि जब भविष्य में चलकर अध्या-पकों के पेशे का क्षेत्र इस प्रकार बहुत व्यापक हो जायेगा तो वह ऐसी बन्द कोठरी के समान नहीं रह जायेगा जिसमें कोई चीज बाहर से नहीं आ सकती और जिसमें से केवल वे ही 'भाग्यशाली' बन्दी निकलकर भाग सकते हैं जो परीक्षा की प्रतियोगिता में सफल हो जायें या जिन्हें बाहर कोई क्लर्की की नौकरी मिल जाये। विशेष रूप से हमारे माध्यमिक स्कूलों में प्राविधिक कौशल तथा अनुभव रखनेवाले लोगों को जो फैक्ट्रियों में या खेतों में या अन्य प्रकार के उत्पादनशील कार्य-क्षेत्रों में काम कर चुके हों, कुछ समय के लिए इन स्कूलों में पढ़ाने और स्कूल के काम को अधिक सप्राण तथा व्यावहारिक बनाने का अवसर मिलना चाहिए। अध्यापकों के प्रशिक्षण-स्कूलों को भी इन नये ढंग के अध्यापकों का स्वागत करने के लिए तैयार रहना चाहिए और उनके लिए अल्पकालीन पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए। वे ऐसा तभी कर सकते हैं जब वे अपने सोचने का ढंग बदल दें और उसे विद्वत्ता की उन संकुचित सीमाओं से बाहर निकालें जिनमें वह अब तक घिरा रहा है और वे इन विभिन्न प्रकार के अध्यापकों तथा विभिन्न प्रकार के कामों की कल्पना शिक्षा की सर्वां-गीण प्रक्रिया के ही एक अभिन्न अंग के रूप में करें। इसलिए समस्या केवल यह नहीं है कि 'पुराना पाठ दुहराने के लिए' कुछ विशेष 'पाठ्यक्रमों' की व्यवस्था कर दी जाये, बल्कि जरूरत इस बात की है कि शिक्षा-सम्बन्धी कार्य के बारे में एक नयी कल्पना और एक नया दृष्टिकोण पैदा किया जाये।

मैं अध्यापकों के बारे में जो बात कहने की कोशिश कर रहा हूँ वह शायद प्रौढ़-शिक्षा के प्रसंग में अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। अब तक हमारी अध्यापकों की प्रशिक्षण-संस्थाओं ने इस समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया है क्योंकि अभी कुछ समय पहले तक इस समस्या को कुछ झक्की और हवाई किले बनानेवाले लोगों का ही क्षेत्र समझा जाता था। "शिक्षा विभाग या कोई

दूसरी संस्थाएँ इतने करोड़ लोगों की निरक्षरता को कैसे दूर कर सकती हैं ?" परन्तु अब शिक्षाशास्त्रियों तथा प्रशासकों ने न केवल इस समस्या की विशालता को समझ लिया है—यह तो कोई बहुत बड़ा कमाल नहीं है !—बल्कि उन्होंने इस बात को भी समझ लिया है कि इस समस्या को हल करना नितान्त आवश्यक है; उन्होंने इस बात को समझ लिया है कि वास्तव में इसके अलावा कोई चारा ही नहीं है : या तो हमें जन-साधारण को शिक्षित बनाना होगा, नहीं तो हम मिट जायेंगे। तो यह काम कौन करेगा ? इस काम को पूरा करने के लिए हमें सभी सार्वजनिक तथा स्वैच्छिक संस्थाओं की सहायता लेने की कोशिश तो अवश्य करनी चाहिए—और इस बृहद् कार्य में उनका एक निश्चित स्थान है—परन्तु अपने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए हमें बहुत बड़ी हद तक अपने अध्यापकों पर अवलम्बित रहना होगा। और अध्यापक इस काम को उस समय तक नहीं पूरा कर सकते जब तक दो शर्तें न पूरी हो जायें। पहली तो यह कि प्रौढ़-शिक्षा के सम्बन्ध में उन्हें जो अतिरिक्त कार्य करना पड़े उसके लिए उन्हें समुचित पारिश्रमिक दिया जाये। दूसरी यह कि उनके दिमाग में यह बात अच्छी तरह बिठा दी जाये कि यह समस्या क्या है और उसे तत्काल हल करना कितना आवश्यक है और विभिन्न स्तरों पर उसे हल करने का तरीका क्या है। कम-से-कम आंशिक रूप से यह अध्यापकों के उन प्रशिक्षण-स्कूलों तथा कालेजों का काम है, जिनमें इस दृढ़ विश्वास की प्रेरणा होनी चाहिए कि इस काम को जल्दी से जल्दी पूरा करना आवश्यक है क्योंकि इसे पूरा किये बिना समाज को स्वस्थ बनाना असम्भव है। उन्हें अध्यापकों में यह इच्छा तथा क्षमता पैदा करनी चाहिए कि वे इस व्यापक दोष के विरुद्ध संघर्ष कर सकें, जिसके बारे में मैं पहले भी बता चुका हूँ कि यह केवल प्रौढ़ लोगों को लिखना-पढ़ना सिखा देने की समस्या नहीं है बल्कि अज्ञान, अन्ध-विश्वास, अपव्ययपूर्ण कार्य-पद्धतियों और जीवन के समाज-विरोधी तरीकों के खिलाफ एक लड़ाई भी है। इसलिए जो अध्यापक केवल किताबी ज्ञान से परिचित है और जिसका मनुष्यों के साथ या जीवन की समस्याओं के साथ न कोई सम्पर्क है और न ही वह उन्हें समझता है और जो यह नहीं जानता कि दूसरे लोग किस तरह जीवन व्यतीत करते हैं या किन-किन विपत्तियों का सामना करते हैं और उनकी तात्कालिक समस्याएँ क्या हैं—इस प्रकार का अध्यापक कभी भी प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में अच्छा काम नहीं कर सकता। ज्ञान में एक अनोखा गुण होता है—वह कोई जड़ अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं होता जिसका रूप हमेशा एक जैसा रहे; उसे प्राप्त करनेवाला हर व्यक्ति उसे एक नये रूप में देखता है। प्रौढ़ों को शिक्षा देने का अनु-

भव बच्चों को पढ़ाने के अनुभव से सर्वथा भिन्न होता है। यह एक ऐसा रोमांचकारी अनुभव होता है जिसके परिणाम पर आपको स्वयं आश्चर्य हो सकता है, क्योंकि आप अनुभव करेंगे कि इस काम के दौरान में आप स्वयं भी उतना ही सीख रहे हैं जितना कि आपके शिष्य। इसलिए अध्यापक का रवैया उस यात्री जैसा होना चाहिए जो किसी नये इलाके में अपना रास्ता खोज रहा हो, जहाँ कभी तो उसे कोई ऐसा आदमी भी मिल सकता है जिसमें गहरी जिज्ञासा की भावना हो और कभी कोई ऐसा आदमी भी मिल सकता है जो शोचनीय हद तक मन्दबुद्धि हो। परन्तु उन सभी के प्रति उसे एक ऐसे विनम्र साथी का बरताव रखना होगा जो उनके विचारों तथा उनकी आवश्यकताओं का पता लगाने और अपने ज्ञान तथा अपनी सहायता से उन्हें लाभान्वित करने को उत्सुक हो। स्पष्ट बात है कि इस परिस्थिति में केवल किताबी ज्ञान को ही महत्त्व देने की संकुचित मनोवृत्तिवाले अध्यापक को बड़ी कठिनाई होगी—वह न तो उनकी भाषा में उनसे बात कर सकेगा, न उनके ढंग से सोच सकेगा और न ही प्रतिदिन के साधारण जीवन में अपने आपको उनके स्तर पर ला सकेगा। इसके विपरीत अधिक भरपूर तथा अधिक समृद्ध अनुभव रखनेवाला अध्यापक, जिसका सम्बन्ध किताबों से भी रह चुका हो और मनुष्यों तथा जीवन की समस्याओं से भी, अपने प्रौढ़ शिष्यों में ज्यादा अच्छी तरह घुल-मिल जायेगा और उन्हें इस बात का यकीन दिला सकेगा कि उसमें इस काम के प्रति लगन है और वह यह काम करने के लिए आवश्यक योग्यता रखता है। यह हमारे शिक्षाशास्त्रियों तथा शैक्षणिक प्रशासकों का काम है कि वे शिक्षा के क्षेत्र की इन नयी सीमाओं के महत्त्व को समझें और योजनाएँ बनाते समय उनका ध्यान रखें।

१९

अध्यापकों के प्रशिक्षण की कुछ समस्याएँ

हमारे देश में अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज एक अजीब दुविधा में फँसे हुए हैं। एक ओर तो सार्वजनिक शिक्षा-विभागों के बनाये हुए नियमों में यह माँग की गई है कि सरकारी स्कूलों में या सरकार से सहायता पानेवाले स्कूलों में जो अध्यापक नियुक्त किये जायँ वे सभी या उनमें से अधिकांश, प्रशिक्षित हों और इसलिए इन कालेजों में भरती होने के लिए जो लोग इनका दरवाजा खटखटाते हैं—बहुधा उनका यह प्रयत्न व्यर्थ ही होता है!—उनकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर आम लोगों के मन में और शिक्षा की उस पुरानी परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले पढ़े-लिखे लोगों के मन में जब कि अध्यापकों को कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था, और कभी-कभी स्वयं अध्यापकों के मन में भी, रह-रहकर यह शंका उठती है कि इस प्रशिक्षण का क्या सचमुच कोई लाभ है। उनके मन में यह शंका उठती है कि भावी अध्यापकों को इन संस्थाओं में जो एक या दो वर्ष बिताने पड़ते हैं क्या उसमें उनके समय का सचमुच सदुपयोग होता है और यह कि इस व्यावसायिक प्रशिक्षण के फलस्वरूप क्या कुल मिलाकर शैक्षणिक कार्यको लाभ हुआ है या उसमें कोई सुधार हुआ है। मैं यहाँ पर इसी समस्या पर विचार करना चाहता हूँ जो अध्यापकों के प्रशिक्षण से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखनेवाले लोगों के सामने हमेशा नये-नये रूपों में पैदा होती रहती है—अर्थात् यह समस्या कि हमारे अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज क्या सचमुच अपने निर्दिष्ट लक्ष्य को पूरा करने में सफल हुए हैं और क्या ये लक्ष्य स्वयं भी स्वीकार किये जाने योग्य हैं।

अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों के खिलाफ तरह-तरह के लोग जो आरोप लगाते हैं उनसे हम भली भाँति परिचित हैं—बहुधा तो इस प्रकार के आरोप स्वयं उन अध्यापकों की ओर से भी लगाये जाते हैं जो इस प्रशिक्षण का लाभ (या शायद यह उनके लिए कोई लाभ नहीं होता!) उठा चुके हैं। इन आरोपों

का विश्लेषण करने से परिस्थिति स्पष्ट हो जायगी। एक आम शिकायत तो यह है कि उन्हें जो प्रशिक्षण दिया जाता है उसका स्कूल में काम करने की वास्तविक परिस्थितियों के साथ काफी गहरा सम्बन्ध नहीं होता और जब अध्यापक इन प्रशिक्षण-संस्थाओं से बाहर निकलते हैं (बहुधा संतोष की ठण्डी साँस लेते हुए!) तो वे अपने शैक्षणिक सिद्धान्तों को व्यवहार में कार्यान्वित नहीं कर पाते। उनका सिद्धान्तों का ज्ञान और स्कूल की कक्षा में उनका व्यवहार एक-दूसरे को समृद्ध बनाने और एक-दूसरे में घुल-मिल जाने के बजाय दो बिलकुल अलग-अलग चीजें बने रहते हैं। शीघ्र ही, कहना चाहिए बहुत ही शीघ्र, वे स्कूल के बँधे हुए ढर्रे पर लग जाते हैं और पढ़ाने के परम्परागत तथा प्रेरणाहीन तरीकों को अपना लेते हैं और इस प्रकार वे स्कूलों में नया जीवन और नयी शक्ति का संचार करने में असमर्थ रहते हैं। बहुधा यही अध्यापक शिकायत करते हैं कि उनका सिद्धान्तों का सारा ज्ञान, जो बहुत मेहनत से उन्हें सिखाया गया था और जिसे बहुत मेहनत से उन्होंने सीखा था, बिलकुल 'व्यर्थ' सिद्ध हुआ क्योंकि वे स्कूलों की मौजूदा हालत में उसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं कर सकते। इसी शिकायत को अधिक व्यापक रूप में इस प्रश्न द्वारा व्यक्त किया जाता है : स्कूलों की शिक्षा को सुधारने में प्रशिक्षण कालेजों ने क्या योग दिया है? उन्होंने किस प्रकार शिक्षा को अधिक फलप्रद या अधिक उल्लासमय या बच्चों के लिए तात्कालिक महत्त्व से अधिक परिपूर्ण बनाया है? क्या वे अपने छात्रों में अपने व्यवसाय के प्रति उचित रवैया पैदा करने में सफल हुए हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि इस कालेज से बाहर पैर रखते ही अधिकांश अध्यापकों की व्यावसायिक शिक्षा समाप्त हो जाती है? अपने इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए अपने आपको अधिक साधन-सम्पन्न बनाने की कोशिश करने के बजाय क्या वे उसी हालत में पड़े रहने पर संतोष नहीं कर लेते; वे न तो उस विषय के बारे में कोई नई पुस्तक पढ़ते हैं जो वे बच्चों को पढ़ाते हैं और न शिक्षा की आम समस्याओं के बारे में? फिर अध्यापकों के इन प्रशिक्षण कालेजों के अस्तित्व को किस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है?

हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि इन आरोपों में बहुत-कुछ सत्य का अंश है और अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों को पूरा दोष तो नहीं पर उसका बहुत बड़ा भाग स्वीकार कर लेना चाहिए। सिद्धान्त का व्यवहार के साथ कोई सम्बन्ध न होना प्रशिक्षण कालेजों की पढ़ाई का सबसे बड़ा दोष है और जबतक इसे दूर नहीं किया जायगा तब तक इस पढ़ाई के फलप्रद होने में शंका ही रहेगी। इसका कारण ढूँढ़ना कोई मुश्किल बात नहीं है। बहुत ही थोड़े कालेज

ऐसे होंगे जिनके साथ उचित ढंग की—या किसी भी ढंग की—'प्रदर्शन पाठशाला' हो जहाँ अध्यापक अपने विद्यार्थियों के हित के लिए शिक्षा-पद्धति तथा प्रणालियाँ निर्धारित कर सकें। इस बात का हर क्षेत्र में बहुत बुरा असर पड़ा है। अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों को इस बात का काफी मौका नहीं मिलता कि वे अपने सिद्धान्तों तथा प्रणालियों को व्यवहार में परख सकें और फलस्वरूप उनके अध्यापनमें जीवन तथा वास्तविकता का वह पुट नहीं होता जो केवल सफल व्यावहारिक अनुभव से ही आ सकता है। दूसरी ओर स्कूलों का काम अपने उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहता है; वे अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों के प्रेरणाप्रद सम्पर्क तथा उनके अनुसन्धानों का कोई लाभ नहीं उठा पाते। परन्तु इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति में शायद सबसे बुरी हालत प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले अध्यापकों की होती है। वे आम तौर पर अंग्रेजी और अमरीकी पुस्तकों से बहुत-सी योजनाओं और प्रणालियों का अध्ययन करते हैं और जाहिर है इन पुस्तकों में उन पर वहाँ की विशेष परिस्थितियों के प्रसंग में विचार किया जाता है, परन्तु हमारे अध्यापकों को इन योजनाओं और प्रणालियों का कोई वास्तविक प्रदर्शन देखने का अनुभव नहीं मिलता। इस प्रकार शिक्षण-कला के बारे में उनका सारा ज्ञान उन्हें हर दम सतानेवाली अवास्तविकता की भावना के कारण दूषित हो जाता है और बहुधा ऐसा होता है कि वे हर 'नयी' प्रणाली को किसी की अव्यावहारिक सनक मान बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके विचार अस्पष्ट रहते हैं और वे स्कूल की पढ़ाई की निर्देशक शक्तियों के रूप में उनकी कल्पना नहीं कर पाते। इससे भी बुरी बात तो यह है कि बहुधा उनके प्रोफेसरों में भी चीजों को स्पष्ट रूप से देखने की क्षमता और आत्म-विश्वास का अभाव होता है, क्योंकि ये गुण तभी पैदा हो सकते हैं जब उन्हें अपने सिद्धान्तों को व्यवहार की कसौटी पर परखने का मौका मिले और वे देखें कि इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देना सम्भव है। व्यवहार तथा सिद्धान्त दोनों ही की कल्पना विकासवान तत्त्वों के रूप में की जानी चाहिए—सिद्धान्त व्यवहार का पथ आलोकित करें और उसके क्रमिक सुधार को सुनिश्चित बनायें; व्यवहार सिद्धान्तों में नित नये सुधार करे, नये रूप में उनकी व्याख्या करे तथा उन्हें बल प्रदान करे और उनमें कोरा शब्दाडम्बर बन जाने की प्रवृत्ति न पैदा होने दे। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि अध्यापकों के हर प्रशिक्षण कालेज के अधीन सभी आवश्यक साधनों से परिपूर्ण एक प्रदर्शन पाठशाला हो, जो प्रायौगिक पद्धति के अनुसार चलायी जाती हो और जिसमें कक्षा में बतायी जानेवाली प्रणालियों तथा सिद्धान्तों के बारे में

छानबीन की जाती हो। यदि प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले छात्र इन प्रणालियों को व्यवहार में परखकर वैयक्तिक रूप से उनका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लेंगे और यदि अध्यापन के अभ्यास के दौरान में वे स्कूल को इन सिद्धान्तों के अनुसार चलाने में सहायता दे चुके होंगे तो इस बात की सम्भावना अधिक होगी कि उनमें अपने काम के प्रति नये-नये प्रयोग करने का रवैया पैदा हो और आगे चलकर अपने जीवन में वे सैद्धान्तिक ज्ञान और व्यवहार के बीच फलप्रद क्रिया-प्रतिक्रिया स्थापित कर सकें। इसके अतिरिक्त एक बार सृजनात्मक प्रयास का उल्लास अनुभव कर लेने के बाद उनमें अपने आप इस बात की प्रेरणा पैदा होगी कि वे अपनी शिक्षा के क्रम को स्वयं जारी रखें और अपने ज्ञान तथा प्राविधिक कौशल में वृद्धि करने की कोशिश करें।

परन्तु जहाँ तक इस बात का सवाल है कि स्कूलों में इस समय काम करने की जो परिस्थितियाँ पायी जाती हैं वे निश्चित रूप से नये ढंग से काम करने के प्रतिकूल हैं, तो इसकी जिम्मेदारी अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों पर नहीं बल्कि स्कूलों और उनके अधिकारियों पर है—वे चाहे प्रबन्धक हों, या हेड मास्टर हों या शिक्षा-विभाग के पदाधिकारी हों। उत्साही से उत्साही और कर्तव्यपरायणता की गहरी भावना रखनेवाले अध्यापक भी जब स्कूलों में निराशाजनक परिस्थितियाँ पाते हैं और जब वे देखते हैं कि उनके साथी और अधिकारी सुधार करने की हर कोशिश का खुले तौर पर मजाक न भी उड़ाते हों पर मन ही मन उसे व्यर्थ सनक समझकर उसे नापसन्द जरूर करते हैं तो उनका सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है। इस परिस्थिति का एकमात्र इलाज यह है कि देश की प्रगतिशील शैक्षणिक शक्तियों को इस ढंग से संगठित किया जाय कि वे एक-दूसरे के सम्पर्क में रहने से शक्ति तथा प्रेरणा प्राप्त करें और प्रतिक्रिया तथा उदासीनता की शक्तियों के खिलाफ लड़ सकें। इस काम में भी अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों की भूमिका बहुत उपयोगी हो सकती है और होनी चाहिए और कोई ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे वे अपने पुराने छात्रों से सम्पर्क रख सकें और उनके काम में उनका पथ-प्रदर्शन कर सकें। कुछ पश्चिमी देशों में—उदाहरण के लिए युद्ध से पहले जर्मनी में—किसी को भी उस समय तक पक्का अध्यापक होने का प्रमाण-पत्र नहीं दिया जाता था जब तक वह अपनी प्रशिक्षण की अवधि पूरी करने के बाद कुछ वर्षों तक किसी सुसंगठित स्कूल में पढ़ा न ले और उसके काम को देखकर सन्तोष न कर लिया जावे। इस दौरान में उसकी स्थिति कुछ काम सीखनेवालों जैसी होती है जो अपने स्कूल के किसी योग्य तथा अनुभवी अध्यापक की निगरानी में काम करता है और समय-समय पर शिक्षा-

मन्त्रालयों के निरीक्षकों तथा स्थानीय प्रशिक्षण कालेज के प्रोफेसरों की निगरानी तथा निरीक्षण से भी लाभान्वित होता है। अमरीका के कुछ राज्यों में अध्यापकों की नौकरी उस समय तक पक्की नहीं की जाती और उनके वेतन में वार्षिक वृद्धि नहीं की जाती जब तक कि वे यह न सिद्ध कर दें कि वे एक खास हद तक अपने काम से सम्बन्धित अध्ययन करते रहे हैं और पहले की सीखी हुई बातों को ताजा रखने की कोशिश करते रहे हैं और विभिन्न उपायों से अपनी व्यावसायिक कार्य-कुशलता के स्तर को ऊँचा करते रहे हैं। इस प्रकार की जाँच-पड़ताल बहुत उपयोगी है—विशेष रूप से यदि उसे केवल औपचारिक न बना दिया जाये—और इस प्रकार की कोई व्यवस्था कर सकना अवश्य सम्भव है जिसके अन्तर्गत जोर कुछ प्राविधिक औपचारिकताओं का पालन करने पर न देकर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने पर दिया जाये जिनमें नये-नये प्रयोग करने की प्रवृत्ति को, उन्नति तथा विकास को और इस बात को अधिक महत्त्व दिया जाये कि अध्यापक अपनी सांस्कृतिक रुचियों तथा अध्यापन की योग्यता को निरन्तर सँवारते रहें। इसलिए अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों का लाभ आस-पास के स्कूलों पर आम निगरानी रखने, अध्यापकों को, और विशेष रूप से उन अध्यापकों को जो उस कालेज में पढ़ चुके हों, स्कूलों की पढ़ाई में सुधार करने तथा शिक्षा-सम्बन्धी नये-नये प्रयोग करने में प्रोत्साहन देने के लिए उठाया जाना चाहिए और उनका परामर्श तथा उनके समस्त साधन उन सभी लोगों को उपलब्ध रहने चाहिए जिन्हें उनकी आवश्यकता हो। उस इलाके के स्कूलों को चाहिए कि वे अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज को प्रेरणा का स्रोत और शिक्षा-सम्बन्धी शोध-कार्य का केन्द्र समझें जहाँ वे अपनी विशेष समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ लेकर जा सकते हों और उनके बारे में परामर्श प्राप्त कर सकते हों, ठीक उसी प्रकार जैसे पश्चिमी देशों के सुसंगठित उद्योग अपनी विशेष प्राविधिक समस्याएँ अपने-अपने उद्योगों की शोध-संस्थाओं के पास भेज देते हैं। इसके लिए केवल यही जरूरी नहीं है कि अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज एक प्रगतिशील शिक्षा-सम्बन्धी नीति तथा दृष्टिकोण अपनायें, बल्कि इस बात की भी जरूरत है कि उनके और स्कूलों के काम के बीच अधिक गहरा सम्पर्क तथा समन्वय स्थापित हो। जब तक उनके और उस इलाके के विभिन्न प्रकार के स्कूलों के बीच इस प्रकार का सप्राण सम्पर्क स्थापित नहीं होगा तबतक उनका काम हमेशा अवास्तविक प्रतीत होगा। इस प्रकार का सम्पर्क स्थापित हो जाने से न केवल स्कूलों के काम पर हितकर प्रभाव पड़ेगा बल्कि अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों को अपने सिद्धान्तों तथा विचारों को परखने के लिए एक

व्यावहारिक कसौटी भी मिल जायेगी जिसके बिना उनकी जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अपने विचारों को इक्का-दुक्का ऐसे स्कूलों के बजाय, जिन्हें शायद विशेष सुविधाएँ प्राप्त हों, धीरे-धीरे स्कूलों की एक विस्तृत श्रृंखला पर लागू करने की कोशिश करके वे अपने सिद्धान्तों की आम उपयोगिता तथा व्यावहारिकता सिद्ध कर सकेंगे और इस समय उनके काम के प्रति जो शंका का रवैया है उसे भंग करने में बहुत बड़ी हद तक सफल होंगे। उदाहरण के लिए, वाशबर्न ने अपने अधीन काम करनेवाले विन्नेतका के सभी स्कूलों में जिस ढंग का काम किया था उसकी कोशिश अध्यापकों का कोई भी प्रगतिशील कालेज अपने इलाके के उन सभी स्कूलों में कर सकता है जिनके साथ उसका शैक्षणिक बन्धुत्व का सम्बन्ध हो। इतना ही नहीं, छोटे और बड़े, गाँवों के तथा शहरों के, निर्धन और सम्पन्न, प्रगतिशील तथा पिछड़े हुए सभी प्रकार के स्कूलों की परिस्थितियों का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के बाद वे जो प्रणालियाँ तथा कार्य-पद्धतियाँ निर्धारित करेंगे वे कुर्सी पर बैठे-बैठे तैयार किये जानेवाले उन सिद्धान्तों से कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होंगी जिन्हें इस समय स्थायी रूप से अपना एकमात्र अवलम्ब मानकर उन्हें संतोष कर लेना पड़ता है। जब तक हम इसी प्रकार के किसी उपाय द्वारा अध्यापकों के काम पर 'बाद में निगरानी' नहीं रखेंगे और यह पता नहीं लगायेंगे कि प्रशिक्षण कालेजों के कुछ हद तक कृत्रिम वातावरण से निकलने के बाद वे वास्तव में कैसी प्रगति कर रहे हैं तब तक हमेशा हमारे सामने इस बात का खतरा रहेगा कि वे फिर वही पुराने आसान और आरामतलबी के रास्ते अपना लें और अपने नये तथा अधिक उत्साही साथियों का बहुत घटिया ढंग से मजाक उड़ाने लगें और अपने अनुभव को आत्म-नियन्त्रण तथा अपनी अंतर्दृष्टि में वृद्धि करने और अपने अनुभव को अधिक सृजनात्मक दिशाओं में प्रेषित करने का साधन बनाने के बजाय उसे काम से जी चुराने और हर प्रगतिशील परिवर्तन का विरोध करने का कुटिलता-पूर्ण साधन बना लें। केन्द्रीय सरकार ने फोर्ड फाउण्डेशन तथा टी० सी० एम० (प्रविधिक सहयोग मिशन) के सहयोग से हाल ही में प्रसार-कार्य की जो बृहद् योजना संगठित की है वह अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों को नेतृत्व का यही पद प्रदान करने के एक प्रयत्न की द्योतक है। उन्हें इस काम के लिए कर्मचारियों तथा सामग्री से सम्बन्धित आवश्यक सुविधाएँ दी गयी हैं और उन्होंने इस बात का जिम्मा लिया है कि वे अपने आस-पास के माध्यमिक स्कूलों में किये जानेवाले काम पर निगरानी रखेंगे ताकि उनकी शैक्षणिक कार्य-कुशलता में सुधार किया जा सके।

सिद्धान्त-सम्बन्धी कार्य के क्षेत्र में अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों की हर तरह से आलोचना की गयी है। कुछ लोग कहते हैं कि उनमें सिद्धान्तों की शिक्षा आवश्यकता से अधिक दी जाती है; कुछ कहते हैं कि सिद्धान्तों की शिक्षा बहुत थोड़ी दी जाती है; कुछ लोग कहते हैं कि उनके सिद्धान्त-सम्बन्धी पाठ्यक्रम को कम कर दिया जाना चाहिये और कुछ कहते हैं कि बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जो पढ़ायी जानी चाहिये लेकिन पढ़ायी नहीं जातीं। इन परस्पर-विरोधी आलोचनाओं की ओर ध्यान देना जरूरी नहीं है। परन्तु एक बहुत गम्भीर तथा न्यायोचित आरोप लगाया जाता है जिसकी ओर हमें ध्यान देना ही पड़ेगा। हमारे अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज अपने काम के मानवीय पहलू की उपेक्षा करके उसके प्राविधिक पहलू पर ही सारा ध्यान देते रहे हैं। उनमें प्रणाली और अध्यापन-विधि तथा कौशल पर जोर देने की प्रवृत्ति इतनी ज्यादा रही है कि छात्रों को शिक्षा के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों और मानदण्डों से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने में अपनी आलोचनात्मक बुद्धि लगाने का कोई मौका ही नहीं मिलता। बहुधा वे पेड़ों पर तो दृष्टि रखते हैं पर पूरा वन उनकी दृष्टि से ओझल रहता है। उन्होंने शिक्षा की कल्पना इस रूप में नहीं की है कि वह एक विशिष्ट सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन-व्यवस्था की सीमाओं के अन्दर एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रिया होती है। अदूरदर्शिता के कारण छोटी-छोटी ब्योरे की बातों और प्राविधिक आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित रखने के कारण समाज के साथ स्कूल का सम्बन्ध और उसकी जीती-जागती समस्याएँ और मसले दृष्टि से कुछ ओझल हो गये हैं। शायद इसका कारण यह हो कि इन कालेजों को समय बहुत थोड़ा मिलता है, पर इसे हम इस परिस्थिति को बनाये रखने के लिए एक बहाना नहीं बना सकते क्योंकि बहुत समय से परिस्थिति ऐसी ही बनी रहने और उसे सुधारने की कोई कोशिश न करने से यह पता चलता है कि हमारे मानदण्ड गलत हैं। इसलिए इस सिलसिले में यह जरूरी है कि अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज अपने मानदण्डों को बदलें और गुफा में रहनेवाले मनुष्य की उस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से बचें जो अपने चारों ओर के नयनाभिराम दृश्य को केवल इसलिए नहीं देख सकता था कि उसकी दृष्टि उसके बन्दीगृह की चार दीवारों तक सीमित थी। मैं जानता हूँ कि इस मामले में परिस्थिति में कुछ सुधार हुआ है परन्तु अभी तक शैक्षणिक कार्य की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया जाता और इस कमी को दूर किया जाना चाहिए।

इसी प्रसंग में मैं एक और पहलू का उल्लेख करूँगा जिसकी काफी उपेक्षा की गयी है और वह यह है कि अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों में शिक्षा-सम्बन्धी

जो विचार तथा सिद्धान्त पढ़ाये जाते हैं और शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में वे स्वयं जिन विचारों तथा सिद्धान्तों को अपना मार्ग-दर्शक बनाते हैं उनके बीच एक विचित्र विरोध है। शैक्षणिक क्षेत्रों में और सबसे बढ़कर प्रशिक्षण संस्थाओं में 'नयी शिक्षा' का और उसकी वैविध्यपूर्ण रचना में सन्निहित अनेक विचारों तथा आन्दोलों का बहुत चर्चा है : स्वतन्त्रता, पहलकदमी, नेतृत्व, सामुदायिक जीवन, सामाजिक प्रेरणा इत्यादि। प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले अध्यापकों से आशा की जाती है कि वे इन विचारों के सार-तत्त्व को प्रत्यक्ष पूर्वाभास की किसी प्रक्रिया द्वारा पुस्तकों से ग्रहण कर लेंगे और फिर उन्हें अपने स्कूलों में सप्राण वास्तविकता का रूप दे देंगे। परन्तु ये कालेज 'करके सीखने' के अपने प्रिय सिद्धान्त का स्वयं अपने काम में ही पालन करने में असमर्थ रहे हैं। स्वतन्त्रता या आत्म-क्रिया या सहकारी कार्य जैसी किसी भी महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित परिकल्पना के पूरे महत्त्व को उस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि इन परिकल्पनाओं में निर्दिष्ट परिस्थितियों में काम करने का वास्तविक अनुभव न प्राप्त किया जाये। हमें जिस चीज की फौरन जरूरत है वह यह है कि इन कालेजों को कठोर नियमों के बन्धनों से और अध्यापकों के जीवन तथा उनकी गतिविधियों पर रखे जानेवाले नियन्त्रण से मुक्त किया जाय, जो कई दशाब्दियों से इन कालेजों की विशेषताएँ रही हैं और उन्हें ऐसे स्वतन्त्र तथा सक्रिय समाजों के रूप में संगठित किया जाय जिनके अन्तर्गत अध्यापक उन्हीं परिस्थितियों तथा प्रेरणाओं के अधीन काम कर सकें जो हम अपने नये तथा प्रगतिशील स्कूलों में स्थापित करना चाहते हैं। अन्यथा इन कालेजों से निकलनेवाले अध्यापक, जिन्होंने एक घुटे हुए तथा स्वतन्त्रतारहित वातावरण में शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्राप्त किया होगा, इस अन्तहीन क्रम को जारी रखेंगे और स्वयं अपनी शिक्षा की गलत परम्पराओं को अपने-अपने स्कूलों में भी चलाते रहेंगे। इधर कुछ वर्षों से इस मामले में परिस्थिति में कुछ सुधार हुआ है। बुनियादी प्रशिक्षण कालेजों को वास्तव में सहकारी उत्पादनशील कार्य पर आधारित 'सामुदायिक केन्द्रों' के रूप में संगठित किया जा रहा है और स्नातकोत्तर शिक्षा के कालेजों में भी अपेक्षतः अधिक स्वतन्त्रता दी जा रही है। परन्तु सचमुच प्रभावशाली बनने के लिए इस आंदोलन को अभी काफी प्रगति करनी होगी।

अन्त में मैं एक बहुत ही कठिन प्रशासन-सम्बन्धी समस्या का उल्लेख करना चाहूँगा जिसका सामना अध्यापकों के सभी प्रशिक्षण कालेजों को करना पड़ता है : प्रशिक्षण के लिए उचित लोगों का चुनाव। इस समस्या के एक पहलू पर पहले भी एक अध्याय में विचार किया जा चुका है। अब तक इस समस्या पर

बहुत ही अव्यवस्थित ढंग से विचार किया गया है और चूँकि अब तक अध्यापक बनने की इच्छा रखनेवाले लोगों और प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या ऐसे लोगों की माँग से अधिक नहीं थी इसलिए परिस्थिति उतनी उग्र और संकटमय नहीं थी जितनी कि आज है। अब एक ओर तो वर्तमान प्रशिक्षण कालेजों में भरती होने का प्रयत्न करनेवालों की संख्या बहुत अधिक है और दूसरी ओर सभी योग्य तथा प्रशिक्षित अध्यापकों के लिए काफी नौकरियाँ नहीं हैं। इसलिए उचित लोगों को चुनने की समस्या स्वयं इन लोगों के हित में भी और अध्यापन-वृत्ति के हित में भी बहुत महत्त्वपूर्ण बन गयी है—विशेष रूप से हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के प्रसंग में। हमारे कालेज अब लोगों को आँख मूँदकर भरती करने की नीति से सन्तुष्ट नहीं हो सकते और वे इस बात को संयोग पर नहीं छोड़ सकते कि जितने अध्यापक प्रशिक्षित होकर निकलेंगे और जितने अध्यापकों की माँग होगी उसके बीच कोई स्थायी सन्तुलन अपने आप स्थापित हो जायेगा। उन्हें सचेतन रूप से योजना बनाकर और कोशिश करके इस बात का प्रबन्ध करना होगा कि अलग-अलग क्षेत्रों की वर्तमान तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए निरन्तर सुयोग्य अध्यापक मिलते रहें। आइये, हम इस परिस्थिति से सम्बन्धित समस्याओं पर संक्षेप में विचार करें।

यह आवश्यक है कि अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज सार्वजनिक शिक्षा-विभाग के सहयोग से थोड़े-थोड़े समय बाद—समझ लीजिये पाँच साल में एक बार—प्रादेशिक सर्वेक्षण द्वारा यह मालूम करें कि उस इलाके के स्कूलों को कितने अध्यापकों की जरूरत होगी और इस सम्भावित माँग के आधार पर छात्रों को भरती करने की योजना बनायें। इस समय इन कालेजों में छात्रों के लिए जगह की जो तंगी है उसे दूर करने के लिए इन्हें करना यह होगा कि उन पुराने तथा अधिक अनुभवी अध्यापकों के लिए, जिन्हें वर्तमान नियमों के अनुसार प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए पर जो पूरे समय के लिए इन कालेजों में भरती होने में असमर्थ रहते हैं या भरती होना नहीं चाहते, उनके लिए इन कालेजों में अल्पकालीन पाठ्य-क्रमों की व्यवस्था की जाये और बहुत थोड़े समय में उन्हें अध्यापन-कला के बारे में बहुत-कुछ बता दिया जाये। इस प्रकार के पाठ्य-क्रमों के अन्तर्गत, जिनका उद्देश्य सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान प्रदान करना नहीं होगा बल्कि उन लोगों को सहायता तथा मार्ग-दर्शन प्रदान करना होगा जिन्हें इनकी सबसे अधिक आवश्यकता है, प्रशिक्षण प्राप्त करके ये अध्यापक अपनी व्यावसायिक कार्य-कुशलता में वृद्धि करेंगे, अपने पद को उन्नत करेंगे और उनकी नौकरी भी सुरक्षित रहेगी। अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों तथा

स्कूलों के पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ने से, जैसा कि पहले बताया जा चुका है और 'रिफ्रेशर कोर्सों' की व्यवस्था हो जाने से इन अध्यापकों की व्यावसायिक कार्य-कुशलता को और बढ़ाने में काफी सुविधा होगी और प्रोत्साहन मिलेगा। प्रशिक्षण प्राप्त करनेवालों के इस बहुत बड़े हिस्से की समस्या इस प्रकार हल हो जाने के बाद कालेजों का यह काम रह जायेगा कि वे केवल सबसे होनहार तथा योग्य अध्यापकों को ही भरती करें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होगा कि इस समय छात्रों को चुनने के जो मोटे-मोटे बने-बनाये तरीके इस्तेमाल किये जाते हैं उनकी अपेक्षा कोई अधिक कारगर तथा पर्याप्त उपाय ढूँढ़ा जाये। 'उपाय' से मेरा अभिप्राय यह क़दापि नहीं है कि कोई ऐसा अचूक यान्त्रिक मापदण्ड तैयार किया जाये जिसमें व्यक्तित्व तथा चरित्र के तत्त्वों के लिए कोई गुंजाइश ही न हो क्योंकि इस पेशे में इनका महत्त्व बौद्धिक क्षमता तथा विद्वत्ता से भी बढ़कर है। परन्तु यह तो स्पष्टतः सम्भव है कि छात्रों को चुनने का इस समय जो अव्यवस्थित तरीका है उसमें सुधार किया जाये ताकि अध्यापक बनने की इच्छा रखनेवालों के मानसिक तथा नैतिक गुणों के बारे में ज्यादा जानकारी प्राप्त की जा सके। यथासम्भव श्रेष्ठतम परिणाम प्राप्त करने के लिए इससे भी आगे बढ़कर इस बात की कोशिश करने की आवश्यकता होगी कि विश्वविद्यालय की शिक्षा के दौरान में ही ये लोग अपने भावी व्यवसाय की जरूरतों को ध्यान में रखें ताकि ऐसा न हो, जैसा कि इस समय बहुधा होता है, कि वे नाना प्रकार का फुटकर ज्ञान लेकर प्रशिक्षण कालेज में प्रवेश करें, जिस ज्ञान का उनके भावी व्यवसाय की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। एक तरह से यह कहना सच है कि सभी ज्ञान अध्यापक के लिए उपयोगी होता है, परन्तु यह बात स्पष्ट है कि कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनका संयोजन दूसरे विषयों की अपेक्षा प्रशिक्षण कालेजों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक काम के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अपने भावी व्यवसाय की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखने का उद्देश्य कुछ हद तक तो इस प्रकार पूरा हो सकता है कि अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज में आने से पहले वे विश्वविद्यालय में ही विषयों का चुनाव बेहतर ढंग से करें और कुछ हद तक इसका एक उपाय यह हो सकता है कि डिग्री की परीक्षा के लिए शिक्षणशास्त्र को एक वैकल्पिक विषय बना दिया जाये जैसा कि कुछ विश्वविद्यालयों में कर भी दिया गया है। इससे केवल अध्यापक बनने का लक्ष्य अपने सामने रखनेवालों को ही सहायता नहीं मिलेगी बल्कि यह चीज अपने आपमें भी बहुत वांछनीय है, क्योंकि शिक्षणशास्त्र के सुनियोजित द्विवर्षीय पाठ्यक्रम

का सांस्कृतिक महत्त्व निश्चित रूप से उतना ही अधिक है जितना कि इतिहास या दर्शनशास्त्र या अन्य किसी परम्परागत विषय था।

इस संक्षिप्त विश्लेषण के बाद परिस्थिति जिस रूप में हमारे सामने आती है उसे हम सार-रूप में प्रस्तुत कर दें। विभिन्न कारणों से अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेज अपनी उपयोगिता का परिचय पूरी तरह नहीं दे पाये हैं। इनमें से कुछ कारण तो उनके वश में हैं और कुछ उनके वश से बाहर। व्यवहार में उनके काम की सफलता में एक गम्भीर बाधा यह रही है कि उनके पास अपनी कोई प्रदर्शन पाठशालाएँ नहीं हैं और वे कोई विश्वस्त, सुगठित तथा उचित ढंग से व्यवस्थित अध्यापन-विधि का निर्धारण नहीं कर सकते। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब इन कालेजों से निकलनेवाले अधपके अध्यापकों को स्कूलों की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, जो बहुधा बहुत ही हतोत्साह करने-वाली होती हैं, तो वे अपने सीखे हुए सिद्धान्तों को व्यवहार में पूरा नहीं कर पाते और शीघ्र ही वे अपने साथ के दूसरे हतोत्साह अध्यापकों की तरह ही स्वयं भी उदासीन हो जाते हैं। बहुधा ये कालेज अपने छात्रों में यह भावना नहीं पैदा कर पाते कि अध्यापन एक व्यवसाय है और उन्हें वह व्यापक दृष्टिकोण नहीं दे पाते जिसकी सहायता से वे अपने प्रतिदिन के बँधे हुए काम और उसकी नीरसता में छुपी हुई उच्चतम कोटि की सृजनात्मक क्रिया को देख सकें, जिसकी सहायता से वे यह अनुभव कर सकें कि हर बच्चे की श्रेष्ठतम वैयक्तिक क्षमताओं को विकसित करके वे एक श्रेष्ठतर विश्व का निर्माण कर रहे हैं। इस प्रकार अच्छे उद्देश्य लेकर चलनेवाला नौजवान अध्यापक, जो बहुधा सम्पूर्ण साधनों से सम्पन्न नहीं होता, पत्थर की दीवार से अपना सर टकराता रहता है; उसमें न वह आस्था होती है जो पहाड़ों को डिगा देती है और नहीं वह अनुशासित शक्ति होती है जो पहाड़ को तोड़कर उसमें से मार्ग बना लेती है। इस अध्ययन में इस बात की ओर केवल संकेत कर दिया गया है कि इस परिस्थिति का मुकाबला कैसे किया जा सकता है। आगे के दो अध्यायों में इस पर अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

२०

शैक्षणिक पुनरुत्थान में अध्यापक की भूमिका

यदि मनुष्य में स्पष्ट ढंग से सोचने तथा कल्पना करने की शक्ति हो तो शिक्षा के निष्कलंक लक्ष्यों तथा उद्देश्यों का प्रतिपादन करना या आशाप्रद शिक्षा-सम्बन्धी प्रणालियाँ तथा सिद्धान्त बना लेना अपेक्षतः आसान काम है। पर स्कूल में बच्चों के प्रतिदिन के जीवन तथा कार्य पर इन सिद्धान्तों तथा प्रणालियों को लागू करना एक ऐसा काम है जिसके लिए बहुत सूझ-बूझ, धैर्य, आस्था, व्यवहार-कुशलता तथा शान्त स्वभाव की आवश्यकता होती है। क्योंकि अध्यापक को जिन चीजों को अपने काम का आधार बनाना पड़ता है उन्हें बदलना आसान नहीं होता। एक ओर तो बच्चे होते हैं जिनमें हर बच्चा दूसरे से भिन्न होता है, उनमें से प्रत्येक बच्चा एक अनोखी तथा जटिल मनोवैज्ञानिक समस्या होता है जिसका बड़े ध्यान तथा सहानुभूति के साथ अध्ययन करना आवश्यक होता है। फिर स्कूल का वातावरण होता है जो बहुधा, यदि उसे बिलकुल ही निराशाजनक न भी कहा जाये, हतोत्साह कर देनेवाला होता है और अपनी औपचारिकता, लालफीतेशाही और सबको एक डण्डे से हाँकने के तरीकों की वजह से उल्लासप्रद उत्साह को नष्ट कर देता है। सहानुभूति तथा कल्पना-शक्ति से सर्वथा वंचित हेड मास्टरों, दकियानूस प्रबन्धकों और सबसे बढ़कर आधुनिक विश्व की अशिक्षित करनेवाली शक्तियों के कारण यह परिस्थिति और भी जटिल रूप धारण कर लेती है, क्योंकि दुर्भाग्यवश आधुनिक विश्व में सभी संस्थाओं तथा समूहों द्वारा किये जानेवाला लगभग हर काम अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के स्वतन्त्र तथा पूर्ण विकास में समान रूप से बाधक सिद्ध होता है। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करते हुए यदि औसत अध्यापक कुछ दिन बाद पुराने पिटे-पिटाये ढर्रे पर लग जाता है और उसकी मौलिकता नष्ट हो जाती है और फलस्वरूप 'नयी शिक्षा' की जीवनदायिनी ज्योति स्कूलों में नहीं पहुँच पाती तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? शिक्षा-सम्मेलनों में, सार्वजनिक

सभाओं में और विश्वविद्यालयों में दिये जानेवाले भाषणों में शिक्षा को सुधारने के बारे में बहुत लम्बी-चौड़ी बातें कही जाती हैं। इन पर श्रोतागण तालियाँ भले ही बजा दें पर वास्तव में इन भाषणों का कोई प्रभाव नहीं होता। जब आप इन बातों के परी-लोक से निकलकर अधिकांश स्कूलों में प्रतिदिन होनेवाली पढ़ाई की चिन्ताजनक वास्तविकता के क्षेत्र में आते हैं तो आपको पता चलता है कि वे अभी तक अपनी उसी पुरानी लीक पर चल रहे हैं। उन्हें इस बात का जरा भी आभास नहीं है कि दुनिया में कहीं नयी शिक्षा जैसी भी कोई चीज है; उन्हें इस बात का पता ही नहीं है कि अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर काम करनेवाली प्रभावशाली शक्तियों ने उनके चारों ओर की दुनिया की चिर-परिचित रूपरेखा तथा सीमाओं को बिलकुल ही बदल दिया है ! हमारे सामने एक चुनौती के रूप में आनेवाली तेजी से बदलती हुई इस परिस्थिति का सामना करने के लिए हमारे अध्यापकों को क्या करना चाहिये ? क्या इतना ही काफी है कि वे इन महान् तथा युगान्तरकारी परिवर्तनों के बारे में कुछ भी जाने बिना या उनके प्रति बिलकुल उदासीन रहकर अपना कारोबार चलाते रहें, और गुमराह जनमत को सन्तुष्ट करने के लिए या सरकारी दबाव के कारण कहीं-कहीं इक्का-दुक्का नये विषय जोड़ दें ? या इस बात को ध्यान में रखते हुए कि शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ तथा परिस्थितियाँ अपने आप नहीं पैदा हो जातीं बल्कि वे स्कूल तथा विश्वविद्यालय के बाहर राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय जीवन में क्रियाशील रहनेवाली अधिक व्यापक शक्तियों का परिणाम होती हैं, वे स्वयं अपने काम पर इन नयी शक्तियों तथा आन्दोलनों के प्रभाव पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें ? क्या हम लाचारी से इन शक्तियों के आगे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और उनकी विनाशकारी प्रबल धारा में फँस जायें या हम अपनी शैक्षणिक तथा सामाजिक पद्धतियों को सुव्यवस्थित करके साहसपूर्वक इन शक्तियों का सामना करने के लिए आगे बढ़ें ? मेरी राय में तो यह एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें साहस के साथ आगे बढ़ना ही समझदारी है और चूँकि जिस रूप में हम शिक्षा की पुनर्रचना करना चाहते हैं उसकी सफलता बुनियादी तौर पर इस पर निर्भर है कि जो अध्यापक इस पुनर्रचना का काम सँभालेंगे वे कितने योग्य हैं, इसलिए हमारे सामने फौरन यह सवाल आता है कि शैक्षणिक पुनरुत्थान में अध्यापकों की जो अत्यधिक उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका होगी उसे निभाने की क्षमता हम उनमें कैसे पैदा करें ? अपने इन व्यावसायिक कर्त्तव्यों को सफलतापूर्वक निभाने के लिए उनमें किन सामाजिक, शैक्षिक तथा वैयक्तिक गुणों तथा योग्यताओं का होना आवश्यक है ?

एक धारणा जो आम तौर पर लोगों में पायी जाती है उसे दूर कर देना लाभदायक होगा। शिक्षा के क्षेत्र में एक ओर जहाँ सुस्पष्ट प्रविधियों तथा कार्य-पद्धतियों और शिक्षा की प्रत्यक्ष वस्तुनिष्ठता पर आधारित वैज्ञानिक आंदोलन का विकास हुआ है वहाँ उसके साथ ही केवल साधारण लोग ही नहीं बल्कि शिक्षा-शास्त्री और मनोवैज्ञानिक भी इस विश्वास का शिकार हो गये हैं कि अध्यापन की एक ऐसी सर्वथा निर्विकार पद्धति निर्धारित करना सम्भव है जिसे कोई भी अध्यापक पूर्ण सफलता के साथ इस्तेमाल कर सकता है। इस अबोधतापूर्ण धारणा से एक निष्कर्ष यह भी निकाला जाता है कि शिक्षा-क्षेत्र के नेता सोचने और सृजनात्मक शैक्षणिक नियोजन का सारा काम एक ही बार में हमेशा के लिए पूरा कर सकते हैं और आम अध्यापक को इस कष्टसाध्य उत्तरदायित्व से हमेशा के लिए छुटकारा मिल सकता है। परंतु शिक्षा की प्रक्रिया की व्याख्या इस ढंग से करने का मतलब है शैक्षणिक मनोविज्ञान की उपेक्षा करना और इस समृद्ध तथा सृजनात्मक कार्य के वास्तविक अर्थ को न समझना। क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया का सार-तत्त्व यह है कि इसके द्वारा अध्यापक के अपेक्षतः अधिक परिपक्व तथा सुगठित व्यक्तित्व और बच्चे के अपेक्षतः अपरिपक्व परन्तु जिज्ञासा की उत्सुकता से परिपूर्ण तथा सक्रिय रूप से सृजनशील व्यक्तित्व के बीच निरन्तर एक अर्थपूर्ण तथा विकासवान आदान-प्रदान चलता रहे। अलग-अलग हर उदाहरण में इस सम्पर्क का अपना एक अनोखा रूप होता है जिसके बारे में कोई भी समरूप शैक्षणिक सिद्धान्त अथवा प्रणाली पहले से न तो कुछ बता सकती है, न ही कोशिश करके इस सम्पर्क का मनचाहा रूप पैदा कर सकती है। स्पष्टतः एक जैसी दिखाई देनेवाली परिस्थितियों में भी हर व्यक्ति की प्रतिक्रिया अत्यन्त रहस्यमयी तथा एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होती है; हर बच्चे की भावनाएँ तथा सहज प्रवृत्तियाँ भी दूसरे बच्चे से भिन्न होती हैं और अध्यापक को सहानुभूतिपूर्वक इन भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन करना चाहिए तथा उन्हें उचित दिशा में निर्देशित करना चाहिए। ऐसा मापदण्ड ढूँढ़ निकालने का साहस कौन कर सकता है जिससे सभी बच्चों के अलग-अलग वैयक्तिक गुणों को नापने में लेशमात्र भी सफलता प्राप्त की जा सके? और पहले से यह बता सकने का दावा कौन कर सकता है कि वास्तव में वह गूढ़ तथा रहस्यमयी प्रक्रिया क्या है जिसके द्वारा एक व्यक्ति के सुसंस्कृत तथा समृद्ध विचार दूसरे व्यक्ति के विचारों पर अपना प्रभाव डालते हैं? शिक्षा की प्रकिया में हर कदम पर हमें अप्रत्याशित समस्याओं तथा परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, अनेक विषमताओं को ठीक करना पड़ता है, भाव-

नाओं में उत्पन्न हो जानेवाले विकार-विग्रहों को सुलझाना पड़ता है और पथभ्रष्ट अथवा कुचली हुई शक्तियों को श्रेयस्कर उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करना पड़ता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह समझदार और सूझ-बूझवाला आदमी हो और सहानुभूति के साथ अवलोकन तथा मार्ग-दर्शन करने के पथ से कभी विचलित न हो। शिक्षा के इसी तत्त्व की वजह से, जो आसानी से पकड़ में नहीं आता और जिसके बारे में पहले से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, अध्यापनकार्य इतना महत्त्वपूर्ण और साथ ही इतना कठिन बन गया है और इसे सफलतापूर्वक निभाने के लिए अध्यापकों को इतनी साधना करनी पड़ती है। जो अध्यापक इस आशा से इस काम की ओर आकर्षित होते हैं कि यहाँ उनको अपेक्षतः कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा उनके लिए बेहतर यही होगा कि वे उपरोक्त कारण को ध्यान में रखते हुए इससे दूर ही रहें! क्योंकि इस महान् सेवा के प्रवेश-द्वार पर ये अदृश्य शब्द अंकित हैं: "इस द्वार में जो भी प्रवेश करे वह शैथिल्य को त्याग दे, क्योंकि यहाँ के जीवन में लगन और आत्म-त्याग और सक्रिय विवेक की आवश्यकता है।"

अन्य महान् कलाओं की तरह ही, जिनकी सहायता से मानव-जाति ने अपनी सांस्कृतिक तथा बौद्धिक निधि का संचय किया है, शिक्षण-कला के लिए भी जीवन भर तैयारी करने की जरूरत होती है—अन्तर केवल यह है कि इस कला में इस तैयारी का महत्त्व और भी ज्यादा है क्योंकि यह कला बच्चों तथा अध्यापकों दोनों ही के विकास का पर्याय है। जिस दिन से अध्यापक अपना काम शुरू करे उस दिन से लेकर जिस दिन तक वह अध्यापक का कार्य करता रहे, इस प्रक्रिया का क्रम भंग नहीं होना चाहिए। भावी अध्यापक के किसी व्यावसायिक संस्था में प्रवेश करने से पहले उसे इसके लिए तैयार करने में कालेजों तथा विश्व-विद्यालयों पर भी बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है; इसके बाद प्रशिक्षण कालेजों को उसे न केवल प्राविधिक साधन प्रदान करने पड़ते हैं बल्कि उसे एक उचित दिशा तथा एक उचित दृष्टिकोण भी प्रदान करना पड़ता है। जब अध्यापक वहाँ से निकलता है—देखने में वह पूरा अध्यापक होता है पर वास्तव में वह इस अवस्था में अपने कार्य-क्षेत्र के प्रवेश-द्वार पर खड़ा होता है—और किसी शिक्षा-संस्था में नौकरी करने लगता है तो उसके सामने यह दीर्घकालीन तथा रोचक कार्य होता है कि अपने बहुमुखी तथा निरन्तर बढ़ते हुए दायित्वों को बेहतर तरीके से निभाने के लिए वह सृजनात्मक ढंग से क्रमशः अपनी योग्यता में वृद्धि करता जाये। अध्यापक के जीवन को कई हिस्सों में बाँट देना और किसी एक हिस्से को केवल व्यावसायिक तैयारी के लिए अलग कर देना शैक्षणिक तथा

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्धापन है और हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि इस समय हम इस रोग का बुरी तरह शिकार हैं।

आइये, हम अध्यापक के जीवन की इन तीन अवस्थाओं पर एक-एक करके विचार करें और यह पता लगायें कि अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में उनमें से प्रत्येक का क्या योगदान हो सकता है। कालेजों तथा विश्वविद्यालयों की यह जिम्मेदारी होनी चाहिए कि वे अपने विद्यार्थियों में से ऐसे लोगों को छाँटें जो अपने चरित्र और स्वभाव और अपनी विद्वत्ता तथा सामाजिक गुणों के कारण अध्यापक बनने के लिए योग्य प्रतीत होते हों और यह प्रोफेसरों का कर्त्तव्य है कि उचित समय पर वे उन्हें ऐसे विषय चुनने में सहायता दें जो आगे चलकर अध्यापन-कार्य के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें। यह हमारी शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति के लिए एक कलंक की बात है कि हमारी उच्च शिक्षा की संस्थाएँ, जो विद्यार्थियों को अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों में भरती होने के लिए तैयार करती हैं, उन्हें उचित विषय चुनने में सुविधा प्रदान करने की ओर कोई ध्यान नहीं देतीं और इससे यह भी पता चलता है कि हमारी विभिन्न संस्थाओं के काम में पारस्परिक समन्वय का कितना अभाव है। इसका परिणाम यह होता है कि जो विद्यार्थी प्रशिक्षण-संस्थाओं में भरती हो जाते हैं उनमें से बहुतेरे ऐसे होते हैं जो अध्यापन-कार्य को अपने जीवन का ध्येय समझने की भावना से प्रेरित होकर वहाँ नहीं पहुँचते, बल्कि वे बहुधा ऐसे निराश तथा निरुत्साह लोग होते हैं जो इससे पहले कई दफ्तरों और कई दूसरे पेशों का दरवाजा खटखटाकर हताश हो चुके होते हैं। यह बड़े खेद की बात है कि आज हमारे सामने ऐसी परिस्थिति है और हमारी उच्च शिक्षा कम-से-कम थोड़े-से नौजवान स्त्री-पुरुषों के हृदय में भी यह उत्कट इच्छा जाग्रत नहीं कर पाती कि वे शिक्षण-कार्य को अपना सर्वप्रिय लक्ष्य मानकर अपना जीवन उसे अर्पित कर दें और इस प्रकार देश की सेवा करें। हमारे स्कूलों में दी जानेवाली शिक्षा के स्तर में उस समय तक कोई सुधार नहीं हो सकता जब तक कि हम बेहतर किस्म के ऐसे अध्यापक न तैयार कर सकें जो समाज को लाभ पहुँचाने की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और सेवा-भाव से प्रेरित होकर तथा शिक्षण-कार्य में निहित सेवा की सम्भावनाओं को देखकर ही इस काम की ओर आकर्षित हुए हों और विश्वविद्यालय में जिनकी शिक्षा को ऐसी दिशा प्रदान की गयी हो कि इस काम के लिए आवश्यक प्राविधिक ज्ञान तथा कौशल की पृष्ठभूमि पहले ही से तैयार हो गयी हो। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इन्टरमीडिएट तथा बी० ए० की पढ़ाई के लिए भी वे उचित विषय चुनें।

ऐसे अध्यापक मिल जाने पर प्रशिक्षण कालेजों को क्या करना चाहिये ? इससे पहले के पृष्ठों में मैंने इस समस्या के कुछ पहलुओं पर विचार किया है और बताया है कि उनका लक्ष्य यह होना चाहिये कि वे अध्यापकों की रुचियों तथा उनकी अनुभूति के क्षेत्र को अधिक व्यापक बनायें, जीवन के साथ उनका सम्पर्क बढ़ायें और उनके व्यक्तित्व को अधिक समृद्ध बनायें ताकि वे अपने शिष्यों के विकास पर हितकर प्रभाव डाल सकें। परन्तु प्रशिक्षण कालेज की शिक्षा का--बल्कि हर प्रकार की उच्च शिक्षा का—एक पहलू और है जिसकी ओर भारत में आम तौर पर ध्यान नहीं दिया गया है और जिस पर लगातार जोर देने की जरूरत है। यह शिक्षा संसार की जीवनमयी धाराओं तथा आन्दोलनों से आवश्यकता से अधिक अलग रही है और उसने अपने आपको विद्वत्ता के एक ऐसे किले के अन्दर बन्द कर लिया है जिसमें उसकी सीमाओं के बाहर के नये विचारों तथा क्रियाओं का प्रवेश बहुधा असम्भव होता है। हमारे चारों ओर जो बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं उन्हें देखते हुए किसी भी शिक्षा-संस्था को अलगाव का यह रवैया रखने का अधिकार नहीं है और अध्यापकों की प्रशिक्षण-संस्थाओं को तो इसका अधिकार और की कम है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में भौतिकविज्ञानों की उन्नति तथा उद्योगों के विकास ने पश्चिमी जगत् में और उससे कुछ कम हद तक स्वयं हमारे देश में एक नयी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया है। भौतिक तथा बौद्धिक संचार के द्रुतगामी साधनों के विकास के फलस्वरूप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर भी इन शक्तियों का प्रभाव निश्चय ही बड़ी तेजी से बढ़ता जायेगा और स्वतन्त्र भारत स्वाभाविक रूप से हर उस चीज का लाभ उठायेगा जिससे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओं की गति में वृद्धि हो। जीवशास्त्र-सम्बन्धी विज्ञानों की उन्नति ने मानव-जाति के इतिहास के बारे में हमारी समस्त धारणाओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है और सृष्टि में मनुष्य के स्थान तथा उसके भविष्य के बारे में हमें एक बिलकुल ही नयी कल्पना प्रदान की है। अपने भौतिक तथा सामाजिक वातावरण के साथ मनुष्य का बिलकुल ही नया, गतिवान तथा सृजनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया है। एक ओर तो वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में पूर्ण प्राविधिक निपुणता प्राप्त कर लेने की वजह से सृजन तथा विनाश, सेवा तथा शोषण के सम्बन्ध में उसकी नियन्त्रण-शक्ति बेहद बढ़ गयी है। जहाँ पहले एक पौधा उगता था वहाँ अब वह दस उगाने लगा है; वह रोगों पर विजय प्राप्त कर सकता है और जीवन की अवधि बढ़ा सकता है—और उसने ऐसा किया भी है। उसने दिशा और काल दोनों ही पर विजय प्राप्त कर ली है और विभिन्न पीढ़ियों तथा

एक-दूसरे से बहुत दूर रहनेवाले समूहों के बीच बौद्धिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क की संभावनाओं को सौ-गुना बढ़ा दिया है। इस प्रगति की रफ्तार तो लगातार तेज होती रही है, परन्तु मनुष्य की सामाजिक तथा नैतिक चेतना, जो व्यापकतम अर्थ में शिक्षा का विशेष क्षेत्र है; बहुत पीछे रह गयी है और बारम्बार मनुष्य ने इन शक्तियों को विनाशकारी तथा स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया है—युद्ध तथा शोषण के लिए, सामाजिक तथा आर्थिक अन्यायों को कायम रखने के लिए और अपेक्षतः कमजोर तथा कम भाग्यशाली व्यक्तियों तथा समूहों के हितों की बलि देकर अपनी शक्ति तथा सम्पदा की भूख मिटाने के लिए। वास्तव में गत महायुद्ध के भयानक वर्षों के बाद से अनेक उन्नत राष्ट्रों के अधिकांश वैज्ञानिक कार्यकर्ता अणु-बम और ऐसे ही अन्य भयानक हथियार बनाने और उनमें लगातार सुधार करने में लगे हुए हैं जो साधारण मनुष्य की कल्पना से भी बाहर हैं। इस परिस्थिति के कारण न केवल मानव-जाति के अस्तित्व के लिए बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया है बल्कि उसमें बहुत गम्भीर नैतिक खतरे भी छुपे हुए हैं और जब तक शिक्षा को ऐसी दिशा में नहीं मोड़ा जायेगा कि वह उदीयमान पीढ़ी को जीवन का एक ऐसा दार्शनिक आधार और सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण प्रदान कर सके जिसकी सहायता से वह इस परिस्थिति का सामना सभ्य ढंग से कर सके, तब तक हमारी शिक्षा का असफल रहना अवश्यभावी है। इसके लिए यह जरूरी है कि हमारे अध्यापक उन शक्तियों को भली-भाँति समझें जिनकी सीमाओं में रहकर उन्हें अपना काम करना है। ये शक्तियाँ ही वह आधारभूत सामग्री हैं जिसे उन्हें अपनी विजयोन्मुख कला की सेवा में लगाना है और अन्त में बालकों तथा युवकों की नवजात सृजनात्मक प्रेरणाओं को उन्मुक्त करके और श्रेयस्कर आदर्शों तथा उद्देश्यों के साथ उनका सम्बन्ध जोड़कर इन शक्तियों से भी आगे निकल जाना है। इन आदर्शों की प्रेरणा उन्हें एक ऐसी श्रेष्ठतर समाज-व्यवस्था से ही प्राप्त हो सकती है जिसमें वर्तमान समाज के विकारों, दमनकारी प्रभावों तथा अन्यायों को समूल नष्ट कर दिया गया हो या कम-से-कम बहुत बड़ी हद तक घटा दिया गया हो। शिक्षा का पुनर्निर्माण करने की कोई भी कोशिश उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि अध्यापकगण तथा अन्य लोग इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार न करें कि वे किस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं और जब तक वे रूढ़िवादिता के शिकंजे से बाहर न निकल आयें, जिनमें जकड़े रहने पर मनुष्य लाचार होकर हर बात को स्वीकार कर लेता है और यह मान लेता है कि जो चीज है, वही ठीक है या 'उसको बदलना हमारे बस के बाहर है।'

बहुत बड़ी हद तक हमारी आधुनिक शिक्षा का इसीलिए कोई असर नहीं पड़ता और इसीलिए वह निस्सहाय है कि शिक्षा-सम्बन्धी विचारकों तथा अध्यापकों के दिमाग इस मामले में बिलकुल खाली हैं। इनमें जो सबसे अधिक 'प्रगतिशील' हैं उनमें से भी बहुतेरे शिक्षा के बारे में सतही प्रयोग करके या जहाँ-तहाँ पैबन्द लगाकर संतोष कर लेते हैं। उनके इन प्रयोगों तथा पैबन्दों का महत्त्व अपने पिंजरे में इधर-उधर भागनेवाली 'गिलहरी की स्फूर्तिमय निरर्थक क्रिया' से अधिक नहीं होता! विश्वविद्यालयों तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण कालेजों का यह काम है कि वे ऐसे अध्यापक तैयार करें जिनके विचार इन विश्व-शक्तियों के प्रति सजग हों और जिनकी भावनाएँ मानव-जीवन पर इन शक्तियों के प्रभाव के प्रति संवेदनशील हों, क्योंकि ऐसा होने पर ही वे बेहतर किस्म के लोग तैयार करने और अधिक न्यायपूर्ण तथा मानवोचित समाज-व्यवस्था का निर्माण करने में अपनी भूमिका श्रेयस्कर ढंग से निभा सकते हैं। इसका अर्थ आवश्यक रूप से यह नहीं है—बल्कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है—कि पहले से कुछ सामाजिक तथा आर्थिक नियम निर्धारित करके अध्यापकों को और उनके जरिए बच्चों को इन नियमों के बन्धनों में जकड़ दिया जाये। पर इसका तकाजा यह जरूर है कि अध्यापकों तथा बच्चों के वैयक्तिक विकास तथा उनके विचारों को मनुष्य की पारस्परिक सद्भावना और सामाजिक तथा सहकारी मानदण्डों की दिशा में मोड़ दिया जाये। वैज्ञानिक कौशल की शक्तियों के कारण संसार में जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है उसमें इसी दिशा का संकेत मिलता है और यदि इस समय हमने इन शक्तियों की अवहेलना की तो न केवल हम इस समय उनके समस्त संभावित सुपरिणामों से वंचित रह जायेंगे बल्कि भविष्य के लिए भी हम अपार विपदाओं तथा संघर्षों का भंडार जमा कर लेंगे।

आइये, अब हम देखें कि जब यह अध्यापक, जिसे हम विश्वविद्यालय और प्रशिक्षण कालेज में देखते आये हैं, अपनी पसन्द के व्यवसाय में काम करना आरम्भ करता है तो क्या होता है। मैं यहाँ पर उत्साह को नष्ट कर देनेवाली उन परिस्थितियों पर विचार नहीं करना चाहता जिनका उसे स्कूलों में बहुधा सामना करना पड़ता है; इन परिस्थितियों का उल्लेख तो मैं पहले भी कर चुका हूँ! इस समय तो मैं यह मानकर चलूँगा कि आस्था तथा कल्पना-शक्ति और निष्ठा के अपने मूलभूत गुणों के कारण वह अपने उत्साह तथा अपनी कार्य-कुशलता को बनाये रख सकेगा। इसमें तो सन्देह नहीं कि अपने व्यवसाय का काम पूरा करने के लिए उसमें इन गुणों का होना आवश्यक है परन्तु ये गुण स्वतः काफी नहीं हैं। किसी भी अन्य प्रविधिज्ञ या शिल्पकार या विद्वान् से बढ़कर उसे

व्यापकतम अर्थ में स्वयं अपनी शिक्षा की आजीवन प्रक्रिया को लगन के साथ जारी रखना पड़ता है क्योंकि उसके लिए शैक्षणिक गतिरोध का अर्थ है व्यावसायिक मृत्यु। अपनी निजी संस्कृति को समृद्ध बनाकर, अपनी बौद्धिक रुचियों के क्षेत्र को व्यापक बनाकर, अपनी सामाजिक अन्तर्दृष्टि तथा समझ को गहरा बनाकर वह दूसरों की तरह केवल स्वयं ही लाभान्वित नहीं होता बल्कि ये चीजें बच्चों की शिक्षा के लिए भी बहुमूल्य सिद्ध होती हैं। यदि उसका काम यह है कि वह बच्चों को इस संसार के रहस्यों से परिचित कराये तो उसे अन्ततः अपने विचारों तथा अपने दृष्टिकोण के दर्पण की सहायता लेनी होगी, और इसलिए जिस चीज से भी उसका व्यक्तित्व अधिक समृद्ध बनता हो और उसमें अधिक मानवीयता आती हो वह उसके लिए एक बहुमूल्य शैक्षणिक साधन है। और उसकी आजीवन शिक्षा का क्षेत्र कितना व्यापक, कितना वैविध्यपूर्ण और सचमुच कितना असीम है! सबसे पहले तो वे विषय होते हैं जिन्हें वह स्कूल में पढ़ाता है, जिनकी सीमाएँ दिन प्रतिदिन अधिक विस्तृत होती जा रही हैं और विद्वान् तथा शोध-कार्य करनेवाले विद्यार्थी जिनकी बिलकुल नये सिरे से पुनर्व्याख्या कर रहे हैं और यदि वह इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा सर्वाधिक विचारणीय विकासक्रमों के साथ चलने में असमर्थ रहेगा तो उसके बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ जाने का खतरा रहेगा—यह बात विभिन्न विज्ञानों तथा सामाजिक विषयों पर विशेष रूप से लागू होती है। फिर उसके अपने विद्यार्थी होते हैं जो स्वयं उसकी आँखों के सामने प्रतिदिन विकसित होते रहते हैं और जो उसे मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए अनेक सम्भावनाओं से परिपूर्ण क्षेत्र प्रदान करते हैं। यदि किसी अध्यापक को मुख्यतः बौद्धिक शिक्षा में दिलचस्पी हो, तो उसे बहुत ध्यान देकर तथा हर चीज को समझते हुए विद्यार्थियों की रुचियों के विकास पर दृष्टि रखनी चाहिए और इन रुचियों को उनकी बौद्धिक आदतों का एक अंग बना देना चाहिए। यदि उसे अधिक दिलचस्पी नैतिक प्रशिक्षण तथा चरित्र-निर्माण में हो, तो उसे उन सहज प्रवृत्तियों तथा मनोवेगों का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन करना चाहिए, जो उसके विद्यार्थियों के प्रतिदिन के जीवन में अभिव्यक्त होने के लिए संघर्ष करते रहते हैं, और कभी प्रशंसनीय आचरण के रूप में प्रस्फुटित हो उठते हैं तथा कभी दुष्टता के व्यवहार का रूप धारण कर लेते हैं। वह जिस चीज का भी निर्माण करना चाहता हो, उसे वह निर्माण अपने हर शिष्य के साथ एक व्यक्ति के रूप में गहरे वैयक्तिक परिचय के ठोस आधार पर करना चाहिए। ऐसा कर लेने पर ही उसकी स्थिति उस मिस्त्री-जैसी नहीं रह जायेगी जो एक बँधे हुए ढर्रे के अनुसार अपना नीरस काम करता रहता है, बल्कि वह एक

कलाकार के प्रतिष्ठित पद पर पहुँच जायेगा। पर उसके अध्ययन तथा शिक्षा का क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं है। क्योंकि उसके चारों ओर सामाजिक शक्तियों तथा घटनाओं का एक असीम जगत् है जिसकी गतिविधियों में उसे एक नागरिक तथा एक मनुष्य की हैसियत से भाग लेना चाहिए। उसे इस जगत् की प्रवृत्तियों से परिचित होना चाहिए, उस प्रकार नहीं जैसे कोई भी साधारण मतदाता या समझदार आदमी उनसे परिचित होता है बल्कि और भी स्पष्ट रूप में, और भी गहराई में जाकर, क्योंकि क्या वह अपने शिष्यों को इन्हीं शक्तियों के रहस्यों से परिचित कराने के कठिन पर रोचक कार्य में संलग्न नहीं है ताकि वे अपने जीवन में उचित ढंग से तथा सरलतापूर्वक इन शक्तियों का सामना कर सकें? जो अध्यापक अपने आपको राष्ट्रीय जीवन को आन्दोलित करनेवाले हितों और राष्ट्रीय जीवन का निरूपण तथा निर्देशन करनेवाले आन्दोलनों से अलग कर लेता है वह अपनी उपयोगिता को बहुत कम कर देता है क्योंकि किसी में कितना ही अधिक प्राविधिक कौशल क्यों न हो वह इस कौशल से राष्ट्रीय जीवन के साथ सप्राण सम्पर्क और मानवता तथा उसके लक्ष्यों के प्रति हार्दिक उत्साह की कमी को पूरा नहीं कर सकता। इस प्रकार का अध्यापक शिक्षा की उस सीमाबद्ध परिकल्पना के बन्धनों में जकड़ा रहेगा जिसे हम मूलतः अपर्याप्त ठहराकर उसकी निन्दा कर चुके हैं और जो आधुनिक काल में विशेष रूप से खतरनाक है। किसी श्रेयस्कर ध्येय की पूर्ति में तन-मन से जुटकर ही अध्यापक अपने व्यक्तित्व को व्यापकता प्रदान कर सकता है और पार्थक्य तथा आत्म-केन्द्रीयता की उस प्रवृत्ति से बच सकता है जिसका कि अध्यापक बुरी तरह शिकार रहते हैं और जिस प्रवृत्ति के कारण उनमें से बहुत-से सामाजिक जीवन के सम्पर्क में आने पर यदि हास्यास्पद नहीं बन जाते तो यह तो अनुभव करते ही हैं कि यह सामाजिक जीवन उनके लिए उचित क्षेत्र नहीं है। समाज की गतिविधियों में इस प्रकार भाग लेकर हर अध्यापक स्वयं अपने अनुभव के क्षेत्र में उस अन्तर को मिटा सकता है जो आज शिक्षित तथा अशिक्षित वर्गों के बीच पाया जाता है, उस अन्तर को जो हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति का सबसे बड़ा कलंक है। आगे चलकर यह भी सम्भव हो सकता है कि उदीयमान पीढ़ी के सामने बेहतर अध्यापकों का आदर्श प्रस्तुत करके तथा इन अध्यापकों के प्रभाव की सहायता से इस अन्तर को अधिक व्यापक रूप से मिटाया जा सके और जीवन तथा रुचियों में वह साम्य पैदा किया जा सके जो सांस्कृतिक एकता का द्योतक भी है और राजनीतिक शक्ति की आवश्यक शर्त भी।

मैं जो कुछ पीछे लिख आया हूँ उस पर फिर दृष्टि डालने पर मेरे मनमें

यह सवाल उठता है मैं कहीं अध्यापकों से ऐसी बातों का तकाजा तो नहीं कर रहा हूँ जिन्हें पूरा करना असम्भव हो ? मैं ठीक से कह नहीं सकता। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका उत्तर 'हाँ' में भी दिया जा सकता है और 'नहीं' में भी। यदि अध्यापक अपने काम की व्याख्या संकुचित दृष्टिकोण से करें और यह समझें कि उनका काम केवल कुछ विषय पढ़ा देने तक सीमित है तब तो इन तकाजों को पूरा करना उनके लिए सचमुच बहुत कठिन होगा और इस प्रकार की धारणा रखने से उन्हें कभी इतनी शक्ति तथा प्रेरणा नहीं मिलेगी कि वे अपने अन्दर वे कष्टसाध्य वैयक्तिक तथा सामाजिक गुण पैदा कर सकें जिनके पक्ष में मैंने यह सब कुछ लिखा है। इसके विपरीत यदि शिक्षा के बारे में उनकी धारणा भी वही है जिसे मैंने अपने तर्क का आधार बनाया है तो ये तकाजे न केवल तर्कसङ्गत प्रतीत होंगे बल्कि अनिवार्य भी। जो अध्यापक सामाजिक तथा शैक्षणिक पुनर्निर्माण को एक पुनीत लक्ष्य मानकर उसकी ओर बढ़ता है उसके लिए कोई भी त्याग बहुत ज्यादा कठिन और कोई भी साधना आवश्यकता से अधिक दुष्कर नहीं होगी। वह इस तरह की जिन्दगी की तलाश में नहीं रहेगा जिसमें उसे किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े या जिसमें वह कामचोरी कर सके या एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर चलकर अपना काम करता रहे। वह हमेशा उस समस्त ज्ञान को अर्जित करने के लिए तत्पर रहेगा, किताबों से प्राप्त होने वाला ज्ञान भी और मनोवैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला ज्ञान भी, जो उसका पथ आलोकित कर सके। वह तन-मन से सामाजिक जीवन का तथा उन आन्दोलनों का अध्ययन करेगा तथा उनमें भाग लेगा जो उसे और उसके काम को एक उचित आधार प्रदान करें। और इस प्रकार ज्ञान, बुद्धि तथा सहानुभूति और श्रेष्ठतर जगत् की कल्पना लेकर वह उस आदर्श को पूरा करने निकलेगा जिसे वह शायद पूरी तरह तो कभी पा न सके पर जो उसे हमेशा आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा और उसमें इस भागीरथ प्रयत्न के लिए आवश्यक शक्ति का भी अभाव नहीं होगा क्योंकि जब भी लोगों ने तन-मन से और निःस्वार्थ भाव से किसी महान् उद्देश्य को पूरा करने का बीड़ा उठाया है तो स्वयं अपने अन्दर शक्ति तथा उत्साह के अप्रत्याशित भण्डार मिले हैं। अध्यापकों को अपनी श्रेष्ठतम क्षमताओं का परिचय देने की चुनौती देने-वाला इससे महानतर उद्देश्य दूसरा कौन-सा हो सकता है कि वे संसार को उस अव्यवस्था तथा विपदा और आत्मघातक विग्रहों से बाहर निकालने के लिए, जिनमें वह आज फँसा हुआ है, जुटकर संघर्ष करते रहें और इस समय वे और उनके समकालीन दूसरे लोग जिस प्रकार के समाज में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं उससे अधिक न्यायपूर्ण तथा सामंजस्यपूर्ण और अधिक सुगठित समाज के निर्माण के लिए काम करते रहें ?

२१

अध्यापक और उनकी दुनिया[1]

किसी भी शैक्षणिक प्रशासक के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात होती है कि उसे अध्यापकों के सम्पर्क में आने और उनके सम्मेलनों में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हो। मेरे जैसे लोगों के लिए, जिन्हें शैक्षणिक प्रशासन की समस्याओं को निबटाना पड़ता है और फाइलों में अपना दिमाग खपाना पड़ता है, इस बात का खतरा रहता है कि अध्यापकों और उनकी प्रतिदिन की गतिविधियों, कठिनाइयों तथा आकांक्षाओं के साथ उनका शक्तिदायक सम्पर्क नष्ट हो जाये। इसीलिए मैंने हमेशा अध्यापकों के साथ वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करने, उनके सामने अपने विचार रखने और उनके सुझावों तथा उनकी आलोचनाओं से लाभान्वित होने के हर अवसर का स्वागत करके इस खतरे से बचने की कोशिश की है। मैं इस बात को समझता हूँ कि शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त तथा व्यवहार का आपस में कितना गहरा सम्बन्ध है और शिक्षा की योजनाएँ तैयार करनेवाला कोई भी व्यक्ति बहुत बड़ा खतरा मोल लिये बिना व्यावहारिक अनुभव तथा वास्तविक कार्य से शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा नियमों पर पड़नेवाले प्रकाश की उपेक्षा नहीं कर सकता। मेरी राय में अच्छा अध्यापक वही है जो निरन्तर नयी-नयी बातों की खोज और नये-नये प्रयोग करता रहे, जो किसी खास बँधे हुए ढर्रे या प्रणाली से चिपककर न रह जाये, जो अपने मस्तिष्क के द्वार खुले रखे, जो अपने व्यवहार को सिद्धान्तों के प्रकाश में जाँचे और अपने सिद्धान्तों को व्यवहार की कसौटी पर परखे—और मेरा विश्वास है कि यही चीज अच्छे निरीक्षकों और अच्छे प्रशासकों के बारे में भी सच है। अच्छा अध्यापक शिक्षा की किसी भी ऐसी पद्धति या प्रणाली को स्वीकार नहीं करता जो बच्चों की आवश्यकताओं तथा उनकी मानसिक प्रवृत्तियों और समाज के श्रेष्ठतम आदर्शों के अनुकूल न हो। अच्छे अध्यापक और अच्छे

१. माध्यमिक अध्यापक सम्मेलन, बीजापुर में दिया गया उद्घाटन-भाषण।

शिक्षा-अधिकारी की परिभाषा इन शब्दों में करके मैं आपके सामने निस्सन्देह बहुत ऊँचा और दुःसाध्य लक्ष्य रख रहा हूँ परन्तु नैतिक तथा बौद्धिक ईमानदारी के साथ किये गये काम द्वारा इस आदर्श के निकट पहुँचकर ही हम राष्ट्र के शैक्षणिक प्रयास में कोई योगदान करने की आशा कर सकते हैं। जीवन भर मैं ऐसे ही अध्यापकों तथा अफसरों की खोज में रहा हूँ और यद्यपि मैं यह तो नहीं कह सकता कि मुझे ऐसे लोग बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं जो इस मानदण्ड पर पूरे उतरते हों, फिर भी जहाँ कहीं भी मैंने काम किया है वहाँ मुझे हमेशा इस प्रकार के कुछ अच्छे लोग जरूर मिले हैं और उनके साथ काम करना मैंने अपना सौभाग्य समझा है। जब कभी मैं अध्यापकों की किसी सभा या सम्मेलन में जाता हूँ तो हमेशा अपने मन में कहता हूँ : "शायद यहाँ मुझे इस स्तर के कुछ अध्यापकों से—एक-दो से ही सही—मिलने का अवसर मिले और उनका परिचय प्राप्त करके और उनके काम को देखकर या उसके बारे में जानकारी प्राप्त करके मैं अपने को बहुत भाग्यशाली समझूँगा। या, यदि ऐसा न हो सके तो शायद मेरे कुछ टूटे-फूटे शब्द कुछ अध्यापकों के हृदय में एक चिनगारी पैदा कर सकें और इस प्रकार उन्हें स्वयं अपने आपको तथा अपने काम के स्वरूप तथा महत्त्व को पहचानने में सहायता दे सकें।" क्योंकि क्या यह सत्य नहीं है कि कभी-कभी ऐसा होता है कि हम किसी काम को बरसों तक निष्प्राण तथा नीरस ढंग से करते रहते हैं—मानो कोई अरुचिकर बोझ ढो रहे हों—और फिर सहसा किसी अज्ञात स्रोत से उस पर एक नये कोण से प्रकाश पड़ता है और पूरा दृश्यपट आलोकित हो जाता है और हम उसे नयी दृष्टि से देखने लगते हैं तथा उसके प्रति हमारे अन्दर एक नयी भावना जाग्रत होती है? "कभी-कभी हम बिजली कौंधने के प्रकाश में इस मार्ग को तै कर सकते हैं; पर हम अज्ञानी लोग निरन्तर दीपक की ज्योति की खोज में रहते हैं।"

मैं चाहता हूँ कि आप अपनी समस्याओं के प्रति अपने अन्दर एक नयी भावना जाग्रत करें। आप सभी लोग विभिन्न प्रकार के माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाते हैं और स्कूलों के अपने विशेष उद्देश्य तथा अपनी विशेष समस्याएँ हैं जिन्हें आपको समझने की कोशिश करनी चाहिए—केवल अपनी बुद्धि से ही नहीं बल्कि अपने मन से भी। आप में से हर एक को अपने आप से इस प्रकार के प्रश्न करने चाहिए : मैं इन बच्चों को किस उद्देश्य से शिक्षा दे रहा हूँ? अपने देश तथा विश्व के जीवन में उनकी क्या भूमिका होगी? वे कौन-सी शक्तियाँ हैं जो आज इस संसार को एक नया रूप दे रही हैं और जो इन बच्चों

के बड़े होकर प्रौढ़ नागरिक बन जाने पर पूरी तरह फलीभूत होंगी ? अपने जीवन को सफल बनाने के लिए उन्हें बुद्धि तथा व्यक्तित्व से सम्बन्धित किन गुणों की आवश्यकता होगी ? इन बातों को ध्यान में रखते हुए इस सिलसिले में उनकी शिक्षा को क्या दिशा प्रदान की जानी चाहिए ? यह सच है कि आप सहायता लिये बिना इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते और आपको अकेले इन सब प्रश्नों का उत्तर देने की जरूरत भी नहीं है। परन्तु यह बात महत्त्वपूर्ण है कि आपको यह जानना चाहिए कि आपको इन प्रश्नों का सामना करना होगा तथा उनका उत्तर देना होगा। यह बात महत्त्व रखती है कि आप इन प्रश्नों को उठायें और फिर आधुनिक तथा प्राचीन महान् शिक्षाशास्त्रियों तथा शैक्षणिक विचारकों की रचनाओं तथा उनके विचारों में इन प्रश्नों के उत्तरों का अध्ययन करें। यदि हम समझदारी के साथ तथा ध्यानपूर्वक अध्ययन करेंगे—और हम में से कितने लोग ऐसे हैं जो किसी भी चीज का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हों !—तो हम इन उत्तरों की मोटी-मोटी रूपरेखा देख सकेंगे, और हमें यह पता लग जायेगा कि हमें जिन मानदण्डों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहना है उन्हें खोजने के लिए हम कौन-सी दिशा अपनायें। और फिर इस रूपरेखा में हमें अपने निजी अनुभव के समृद्ध भण्डार को उँडेलना होगा; हमें इसी दिशा में अपने लड़खड़ाते हुए कदम बढ़ाने होंगे और इन मानदण्डों को शैक्षणिक कार्य-पद्धतियों तथा प्रविधियों का रूप देना होगा। इन शब्दों में प्रस्तुत करने पर शायद ये उद्देश्य आपको कुछ अस्पष्ट और आलंकारिक भी लगें। पर मैं अपनी पूरी ईमानदारी के साथ आप से कहता हूँ कि जब तक आप शैक्षणिक कार्य की कल्पना इस रूप में नहीं करेंगे तब तक आप बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में उठनेवाली विशाल तथा तात्कालिक समस्याओं को सुलझाने के बजाय केवल समस्या की ऊपरी सतह से खेलते रहेंगे। मैं अपने दृष्टिकोण की अधिक ठोस शब्दों में व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा।

मैंने आपके विचारार्थ जो पहला प्रश्न रखा है वह यह है : मैं इन बच्चों को किस उद्देश्य से शिक्षा दे रहा हूँ ? इस प्रश्न का समझदारी के साथ उत्तर देने के लिए आपको इसी से सम्बन्धित दो और प्रश्नों पर भी विचार करना होगा : अपने देश तथा विश्व के जीवन में उनकी क्या भूमिका होगी ? और चूँकि यह जीवन कोई स्थिर चीज नहीं है बल्कि निरन्तर बदलता रहता है तथा विकसित होता रहता है इसलिए आपको यह प्रश्न भी पूछना होगा : वे कौन-सी नयी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक शक्तियाँ हैं जो हमारे जीवन को नया रूप दे रही हैं और जिनकी ओर हमारी शिक्षा को गम्भीरतापूर्वक ध्यान

देना चाहिए ? आइए, हम एक क्षण के लिए मुख्य समस्या से सम्बन्धित इन प्रश्नों पर विचार करें। शिक्षा की किसी भी अवस्था के उद्देश्य पर विचार करते समय हमें यह विचार अपने मन से निकाल देना चाहिए कि अध्यापकों का—और विद्यार्थियों का भी—मुख्य उद्देश्य किसी निर्दिष्ट परीक्षा में सफलता प्राप्त करना होता है। यह बात बहुत ही पिटी हुई मालूम होती है परन्तु दुर्भाग्य-वश जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है हमारे अधिकांश अध्यापक यह मानकर चलते हैं कि स्कूल का एकमात्र उद्देश्य नहीं तो सबसे बड़ा उद्देश्य तो यह है कि वे अपने विद्यार्थियों को वार्षिक तथा अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण करा दें। यह परम्परा इतनी पुरानी हो चुकी है और इसकी जड़ें इतनी गहराई तक पहुँच चुकी हैं कि इसे आसानी से और जल्दी समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु जितनी ही जल्दी हम शिक्षा के बारे में पुस्तकों और पाठों और पाठ्यचर्याओं और परीक्षाओं के प्रसंग में सोचना छोड़कर जीवन तथा उसके महान् उद्देश्यों के प्रसंग में सोचना शुरू कर दें उतनी ही अधिक सम्भावना इस बात की होगी कि हम शिक्षा-व्यवस्था को उसकी वर्तमान निरर्थकता से मुक्त करा सकें। ये सब चीजें, जो शिक्षा के उपकरण तथा साधन हैं, अपनी-अपनी जगह पर निस्सन्देह बहुत महत्त्व रखती हैं। परन्तु हम साधन और साध्य के अन्तर को अपनी आँख से ओझल न होने दें। ये चीजें शिक्षा प्रदान करने के साधन, उसके औजार हैं; वे अन्ततः उत्पन्न होनेवाली वह वस्तु नहीं हैं जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए। अन्तिम उद्देश्य है बच्चे के पूरे व्यक्तित्व को—उसके मस्तिष्क को, उसके शरीर को, उसकी भावनाओं को और उसकी मनोवृत्तियों को शिक्षित करना ताकि वह उन शक्तियों तथा क्षमताओं का, जो विधाता ने उसे दी हैं, सुगमतापूर्वक तथा पूर्ण विश्वास के साथ उपयोग करने में निपुणता प्राप्त कर ले और उन्हें मनुष्य-मात्र की सेवा में लगा सके। दूसरे शब्दों में, हम बच्चे की वैयक्तिक प्रतिभा को उसके सामाजिक प्रसंग में प्रशिक्षित करने के महत्त्वपूर्ण प्रयास में संलग्न हैं। इस प्रक्रिया के दौरान में बच्चा विज्ञान, इतिहास तथा भाषा आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है; वह पढ़ना, लिखना, ड्राइंग, चित्र-कला और बढ़ईगीरी आदि उपयोगी कौशल सीखता है; वह बहुत-सी अच्छी आदतें और आचरण सीखता है और जाहिर है उसे कुछ परीक्षाओं में उत्तीर्ण भी होना पड़ता है जिससे यह पता चलता है कि उसने आवश्यक ज्ञान तथा कौशल सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया है। परन्तु ये सारी बातें उसी हद तक महत्त्वपूर्ण हैं जिस हद तक वे उसके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाती हैं या उसकी सामाजिक कार्य-कुशलता में वृद्धि करती हैं। जो ज्ञान उसने प्राप्त किया है यदि

वह उसकी स्मरण-शक्ति पर एक बोझ बना रहे और जो कौशल उसने सीखे हैं उनका उपयोग वह श्रेयस्कर उद्देश्यों की पूर्ति के लिए न कर सके—दूसरे शब्दों में, यदि वे उसके जीवन तथा उसके चरित्र का अभिन्न अंग न बन जायें—तो उन्हें सही माने में शिक्षाप्रद नहीं कहा जा सकता। बच्चे को स्कूल में जो कुछ पढ़ाया जाता है और जो कुछ वह स्कूल में सीखता है उसकी खरी कसौटी यह है कि इन चीजों ने विद्यार्थी के दृष्टिकोण तथा आचरण में किस हद तक सुधार किया है और किस हद तक उसके दृष्टिकोण तथा आचरण को वांछनीय दिशा प्रदान की है? उसे किस कोटि की शिक्षा मिली है, इसका फैसला केवल इस बात से नहीं होता कि वह क्या जानता है बल्कि इस बात से भी होता है कि उसकी भावनाएँ क्या हैं और वह क्या करता है। इसलिए अपने प्रतिदिन के काम को संगठित करने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए निरन्तर अपने आपसे यह प्रश्न करते रहना चाहिए कि आप जो कुछ पढ़ाते हैं और बच्चे जो कुछ सीखते हैं उसकी उनके आचरण तथा व्यक्तित्व पर क्या प्रतिक्रिया होती है और अपने स्कूल के अनुभव के फलस्वरूप वे बेहतर व्यक्ति तथा बेहतर नागरिक बन रहे हैं कि नहीं। शायद एक दृष्टान्त से शिक्षा का मूल्यांकन करने की इस कसौटी और परम्परागत कसौटी का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। परम्पराओं में जकड़े हुए दकियानूस अध्यापक 'शिक्षित व्यक्ति' की परिभाषा इस आधार पर करेंगे कि वह भाषाओं या समाजशास्त्र या विज्ञान या कला का कितना ज्ञान रखता है, अथवा इससे भी बदतर आधार पर कि उसने कौन-कौन परीक्षाएँ पास की हैं। वे अपने विद्यार्थियों को भी इसी कसौटी पर परखेंगे। मैं चाहता हूँ कि आप इस कसौटी की तुलना प्रख्यात अँग्रेज शिक्षाशास्त्री एस० एच० वुड द्वारा प्रस्तावित तेहरी कसौटी से करें। आप लोगों में से कुछ को शायद याद होगा कि इन्हीं वुड महोदय ने ऐबट साहब के साथ मिलकर भारत में प्राविधिक शिक्षा के बारे में ऐबट-वुड रिपोर्ट तैयार की थी। उन्होंने कहा था कि शिक्षित वह है जो निम्नलिखित तीन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में दे सके :

पहला प्रश्न यह है कि क्या वह किसी नये विचार को ग्रहण कर सकता है? इसके लिए मानसिक सजगता तथा ग्रहणशीलता की आवश्यकता है—एक ऐसे मस्तिष्क की आवश्यकता है जो चारों ओर से बन्द और बन्धनों में जकड़ा हुआ न हो बल्कि जिसके द्वार नये विचारों तथा सुझावों के लिए खुले हों, जो आलोचनात्मक दृष्टि से सहिष्णुता के साथ उन पर विचार कर सके और प्रमाणित तथ्यों के आधार पर अपने विचारों तथा अपने विश्वासों में परिवर्तन करने को तैयार हो। मनोविज्ञान के एक रोचक अभ्यास के रूप में

मैं आपके सामने यह सुझाव रखूँगा कि आप अपने परिचित लोगों को, जिनमें आपकी जान-पहचान के कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लोग भी शामिल हों, इस दृष्टिकोण से जाँचें और देखें कि वे सुशिक्षित होने की इस पहली कसौटी पर कहाँ तक खरे उतरते हैं। जब कोई नया विचार उनके सामने आता है तो क्या वे उसका स्वागत करते हैं या उसे अपने निकट आता देखकर मुँह फेर लेते हैं? अध्यापक होने के नाते आपको इस चीज से बचना चाहिए कि आप लोगों को प्रशिक्षित करके कहीं ऐसा न बना दें कि वे आसानी से हर चीज को मान लें, किसी भी चीज को आलोचनात्मक दृष्टि से न जाँचें या अपनी बात पर हठधर्मी से जमे रहें, जो पहले तो बिना सोचे-समझे किसी विचार को स्वीकार कर लें और फिर जो नये विचार उससे मेल न खाते हों उन्हें अपने पास न फटकने दें। इस प्रकार की बुद्धि रखनेवाला आदमी बौद्धिक तथा नैतिक दोनों ही दृष्टि से समाज के लिए खतरनाक होता है—विशेष रूप से ऐसे समाज के लिए जिसमें अनेक वर्णों, धर्मों, जातियों के तथा अनेक भाषाएँ बोलनेवाले लोग हों।

दूसरा प्रश्न यह है कि **क्या वह दूसरों को खुश रख सकता है?** जिस प्रकार पहली शर्त एक बौद्धिक गुण है ठीक उसी प्रकार यह दूसरी शर्त एक **सामाजिक** गुण है : अपने साथियों के साथ हँसी-खुशी निबाह करने की क्षमता, समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनके साथ सहयोग करने की क्षमता, यह अनुभव करने की क्षमता कि अपनी वैयक्तिक प्रतिभा को सबसे अच्छे ढंग से व्यक्त करने का तरीका यह नहीं है कि हम सबसे अलग रहें बल्कि वह सामाजिक सम्पर्कों द्वारा और मिल-जुलकर किये जानेवाले प्रयासों के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली बन्धुत्व की भावना में व्यक्त होती है। जिस आदमी में दूसरे लोगों में दिलचस्पी रखने तथा उनके प्रति प्रेम की भावना रखने का गुण न हो, जो उनके सुख-दुःख में उनका साथ न दे सकता हो, उसकी शिक्षा अधूरी है, चाहे उसने सामान्यतः स्वीकृत अर्थ में कितनी ही उच्च शिक्षा क्यों न प्राप्त की हो।

तीसरा प्रश्न यह है कि **क्या वह अपने आपको खुश रख सकता है?** यह इस बात का मापदण्ड है कि किसी आदमी की वैयक्तिक संस्कृति किस कोटि की है। हमारे इस युग में, जिसमें मशीनी मनोरंजनों, समय काटने और आमोद-प्रमोद के यान्त्रिक साधनों की इतनी भरमार है, बहुत-से लोगों में इस बात की क्षमता नहीं रह गयी है कि वे अकेले रहकर कोई सुख अनुभव कर सकें। यदि उन्हें कोई ख़ाली समय मिलता है तो उनके पास संस्कृति या विचारों या रुचियों के कोई ऐसे आन्तरिक साधन नहीं होते जिनकी सहायता से वे

अपना मनोरंजन कर सकें। वे अपने आपसे दूर भागने का कोई रास्ता ढूँढ़ते रहते हैं—कोई खेल-कूद में या खेल-कूद देखने में, कोई सिनेमा में या यान्त्रिक मनोरंजन के अन्य रूपों में, कुछ शराब पीने में, कुछ ताश खेलने में, कुछ गप लड़ाने में, और कुछ जो भी घटिया चीज हाथ लग जाये उसे पढ़ने में। इनमें से कुछ चीजें अपनी जगह पर बहुत अच्छी हैं परन्तु यदि वे सृजनात्मक जीवन, सृजनात्मक विचार तथा सृजनात्मक मनोरंजन का स्थान ले लें, यदि उन्हें एकान्त की खोखली नीरसता से भागकर शरण लेने का स्थान समझा जाने लगे तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारी शिक्षा में कोई खराबी है। तब हमें कहना पड़ेगा कि स्पष्टतः हमारी शिक्षा हर व्यक्ति के सामने इस सत्य को प्रकट करने में असफल रही है कि मानव-व्यक्तित्व में कितनी असीम सम्भावनाएँ निहित हैं और तब हमारे लिए अपने शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त तथा व्यवहार के आधार की जाँच करना आवश्यक हो जायेगा।

यह इस बात का केवल एक उदाहरण है कि एक समझदार शिक्षाशास्त्री, अपने उद्देश्यों की कल्पना किस रूप में कर सकता है—पाठ्यचर्या के संकुचित आधार पर नहीं बल्कि उस जीवन के आधार पर जो आगे चलकर बच्चों के सामने आनेवाला है। इस प्रसंग में एक और बात है जिसे आपको ध्यान में रखना चाहिए। केवल इतना ही काफी नहीं है कि स्कूल के काम का सम्बन्ध प्रौढ़ावस्था के उद्देश्यों के साथ स्थापित कर दिया जाये—अर्थात् इस चीज के साथ कि बच्चा जब बड़ा होगा तब वह क्या करेगा या क्या बनेगा? आपको बच्चे की वर्तमान स्थिति के बारे में भी सोचना होगा—उसकी सहज प्रवृत्तियाँ, उसकी रुचि, उसकी आत्माभिव्यक्ति की उमंग, उसकी साहचर्य की आवश्यकता, सौन्दर्य के लिए उसकी स्वाभाविक लालसा, उसकी जिज्ञासा और अच्छाई के प्रति उसका स्वाभाविक आकर्षण। स्कूल की वास्तविक दैनिक गतिविधियों तथा स्कूल के काम के संगठन के प्रसंग में इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है? इसमें यह आशय निहित है कि स्कूल संकुचित किताबी ज्ञान की जिस परम्परा के बन्धनों में जकड़े हुए हैं उनसे उन्हें मुक्त किया जाये और उन्हें ऐसे सप्राण समुदायों का रूप दे दिया जाये जो बच्चे को भरपूर और समृद्ध और सन्तोषप्रद जीवन प्रदान कर सकें। तभी वे उसके स्वभाव के सभी पहलुओं को विकसित कर सकते हैं; केवल तभी वे उसमें स्कूल के प्रति रुचि तथा निष्ठा पैदा कर सकते हैं और उसे युवक-संगठनों का भेस बनाकर काम करनेवाले अवांछनीय राजनीतिक गुटों के हाथों का खिलौना बन जाने के खतरे से बचा सकते हैं। माध्यमिक शिक्षा का आधार इस समय की अपेक्षा अधिक व्यापक बनाना होगा, उसमें इस समय की

अपेक्षा अधिक विविध प्रकार के विषयों की शैक्षणिक सम्भावनाओं का लाभ उठाना होगा—कला-कौशलों का, कृषि, वाणिज्य तथा प्राविधिक विषयों का। ये सब विषय अलग-अलग कुंजियों के समान हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के विद्यार्थियों के मस्तिष्क के ताले खोले जा सकते हैं। किसी एक प्रणाली का असर इन सभी विद्यार्थियों पर एक जैसा नहीं होता और न ही विषयों के किसी एक समूह-विशेष के प्रति उनकी रुचि एक जैसी होती है। इन विविध विषयों की सहायता से स्कूल उनको चारों ओर की दुनिया के विस्तृत तथा वैविध्यपूर्ण रहस्यों से परिचित करा सकते हैं। परन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि ये विषय, और साधारणतया स्कूलों में पढ़ाये जानेवाले अन्य सभी विषय भी, सप्राण ढंग से पढ़ाये जायें ताकि वे संसार के बारे में एक नया दृष्टिकोण प्रदान कर सकें और बच्चों की मानसिक तथा व्यावहारिक क्षमता तथा उनके सम्बोध में वृद्धि कर सकें। मेरी शिकायत यह है कि ये तथाकथित सांस्कृतिक विषय भी आज इतने औपचारिक तथा निष्प्राण ढंग से पढ़ाये जाते हैं कि वे बच्चों के चरित्र तथा व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं डालते। इतिहास को उनकी सामाजिक चेतना बढ़ाने या उनमें संयुक्त उत्तरदायित्व तथा संतुलित आशावादिता की भावना जाग्रत करने का साधन बनाने के बजाय इस विषय द्वारा उन्हें बड़े नीरस ढंग से कुछ तिथियों, कुछ नामों और कुछ बिखरी हुई घटनाओं की जानकारी प्रदान कर दी जाती है। साहित्य न उनमें सामाजिक चेतना पैदा करता है, न उनकी इस चेतना को मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण करता है और न ही उनकी रसानुभूति की क्षमता बढ़ाता है—आम तौर पर इस विषय के अन्तर्गत विद्यार्थी कुछ शब्दों और शब्द-संयोजनों का, लेखकों की जीवनियों से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का और साहित्यालोचना की उस बँधी-बँधायी शब्दावली का ही अध्ययन करते हैं जिसे वे समझ बिलकुल ही नहीं पाते। विज्ञान की पढ़ाई तो और भी अधूरी होती है—उसके जरिये अगर बहुत किया गया तो कुछ प्राविधिक ज्ञान प्रदान कर दिया जाता है और नहीं तो केवल थोड़ी-सी पारिभाषिक शब्दावली और कुछ फार्मूलों पर ही सन्तोष कर लिया जाता है। इस बात की ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया जाता कि विज्ञान ने हमारे जीवन और विचारों को किस तरह बदल दिया है और लगातार बदलता जा रहा है, उसने किस प्रकार नयी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ पैदा कर दी हैं, जिनका अध्ययन करना तथा जिन्हें समझना नितान्त आवश्यक है। और क्या यह हमारे बौद्धिक मानदण्डों के निम्नस्तर का प्रमाण नहीं है कि अधिकांश अध्यापकों का यह विश्वास है कि इस तरह की बुनियादी समास्याएँ हमारे किशोरवयस्क विद्यार्थियों की

समझ के बाहर की चीज हैं ? वास्तव में यह कहकर वे स्वयं अपनी इस कमजोरी को स्वीकार करते हैं कि वे इन जीती-जागती समस्याओं को विद्यार्थियों के सामने रोचक तथा बोधगम्य ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकते। सचमुच प्रगतिशील तथा सप्राण स्कूल में ऐसी ही समस्याओं को शिक्षा का आधार बनाया जायेगा और विभिन्न विषयों को आवश्यकता पड़ने पर उन पर प्रकाश डालने के लिए इस्तेमाल किया जायेगा। इस प्रकार सब विषयों को एक ही लड़ी में पिरोकर एकबद्ध किया जा सकता है और बच्चों के लिए सचमुच उनका कोई अर्थ हो सकता है। यह बताने के लिए कि मैं जिस चीज की माँग कर रहा हूँ वह कोई कोरी कल्पना नहीं है, मैं आपके सामने अनेक उदाहरणों में से केवल एक ऐसे स्कूल का उदाहरण रखूँगा जहाँ शिक्षा की कल्पना इस रूप में की गई थी। मुझे मालूम नहीं कि आपमें से कितने लोगों ने इंगलैंड के आउंडल पब्लिक स्कूल के महान् हेडमास्टर सैंडरसन का नाम सुना है, जिनका देहान्त अभी लगभग १५ वर्ष पहले हुआ है। आपको उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों तथा गतिविधियों का बहुत रोचक वर्णन दो पुस्तकों में मिल सकता है—एक तो है एच० जी० वेल्स की पुस्तक "द स्टोरी आफ ए ग्रेट स्कूल मास्टर" और दूसरी है उनके साथ स्कूल में काम करनेवाले अध्यापकों की लिखी हुई पुस्तक "सैण्डरसन आफ आउंडल"। इन पुस्तकों को पढ़ते समय आपके सामने इस बात का सजीव चित्र आ जायेगा कि उनके प्रेरणाप्रद तथा क्रान्तिकारी नेतृत्व में किस प्रकार स्कूल में पढ़ाये जानेवाले विभिन्न विषयों को एक-दूसरे से अलग करनेवाली दीवारें एक-एक करके ढह गयीं और इन टूटी हुई दीवारों की दरारों में से किस विजयोल्लास के साथ जीवनधारा ने प्रवेश किया और बच्चों तथा अध्यापकों दोनों ही के सोचने तथा काम करने के ढंग को बदल दिया। मैं जानता हूँ कि आपको अपने काम के दौरान में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें हतोत्साह करनेवाली आर्थिक स्थिति की कठिनाई भी शामिल है और मैं जानता हूँ कि इन परिस्थितियों में इस तरह के काम करना कितना कठिन होता है। परन्तु एक सुझाव है जिसे अध्यापकों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिये : "अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने की चेष्टा अवश्य कीजिये, क्योंकि इसमें तो किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि जो भी समाज और जो भी राज्य अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहता है उसे अपने अध्यापकों के साथ अच्छा सलूक करना चाहिये। लेकिन एक बात याद रखिये कि अध्यापक का पेशा अपनाने के बाद आप अपने जीवन के बारे में कोई शर्तें नहीं लगा सकते; आप कोई अच्छा काम, कोई सृजनात्मक काम, कोई प्रगतिशील

काम करने के लिए यह शर्त नहीं लगा सकते कि पहले आपकी आर्थिक आवश्यकताओं की पर्याप्त रूप से तुष्टि की जाये। आप अपने स्कूलों को ऐसी श्रेष्ठ संस्थाएँ बनाने की चेष्टा कीजिये जहाँ आप ईसा मसीह के अविस्मरणीय शब्दों में लोगों को 'जीवन प्रदान कर सकें और भरपूर जीवन प्रदान कर सकें।' और यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के स्कूलों की स्थापना के बाद समाज आपका उचित सम्मान करने और आपकी आवश्यकताओं की ओर उचित ध्यान देने पर विवश हो जाये। कुछ भी हो, आज तक निष्काम भाव से प्रयत्न किये बिना कोई महान् काम नहीं हुआ है।

मैं उस दूसरे प्रश्न के बारे में भी कुछ शब्द कहना चाहूँगा जिस पर विचार करने का मैंने आपसे अनुरोध किया है—अर्थात् यह प्रश्न कि जिस दुनिया में आप रहते हैं उसकी सबसे प्रमुख विशिष्टताएँ क्या हैं और वे कौन-सी शक्तियाँ हैं जो उसे नये साँचे में ढाल रही हैं तथा जिनके प्रसंग में आपको अपने शिक्षा के उद्देश्यों तथा शिक्षा की प्रविधि का निर्धारण करना है? यह एक बहुत जटिल और बहुत व्यापक प्रश्न है जिस पर मैं विभिन्न दृष्टिकोणों से पहले विचार कर चुका हूँ। इसलिए यहाँ पर मैं केवल एक या दो दृष्टान्त देकर ही सन्तोष कर लूँगा। मुझे विश्वास है कि आप यह तो अनुभव करते ही होंगे कि जिस दुनिया में हम रहते हैं वह बड़ी तेजी से बदल रही है और स्वयं हमारे देश में भी एक ही पीढ़ी के जीवनकाल में बहुत गहरे और क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। महात्मा गाँधी ने इतिहास के क्रम को एक नई दिशा में मोड़ दिया है तथा एक नया वेग प्रदान किया है और उनकी बदौलत ही हमने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की है, जिस स्वतन्त्रता की वजह से हमारे सामने बहुत बड़ी-बड़ी सम्भावनाओं के द्वार भी उन्मुक्त हुए हैं और हमारे ऊपर बहुत बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ भी आ गयी हैं। परन्तु हमारी भावनाएँ और विचार अभी इस नयी परिस्थिति के अनुकूल नहीं ढल सके हैं और हमें अभी उन नैतिक तथा सामाजिक गुणों का निर्माण करना है जो इस नयी व्यवस्था में आवश्यक हैं। और यह इस शब्द के व्यापकतम अर्थ में एक शैक्षणिक समस्या है। इस काम को पूरा करने के लिए सभी प्रकार के स्कूलों—प्राथमिक तथा माध्यमिक—कालेजों, विश्वविद्यालयों, सांस्कृतिक संगठनों, विचारकों तथा लेखकों, अखबारों तथा सार्वजनिक नेताओं, फिल्म तथा रेडियो को अपना सहयोग देना होगा। मैं यहाँ पर इस बात का उल्लेख तो नहीं कर पाऊँगा कि अन्य संस्थाएँ इस क्षेत्र में क्या भूमिका अदा कर सकती हैं पर मैं आपसे इस बात पर विचार करने का अनुरोध अवश्य करूँगा कि माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक होने के नाते

आपको इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए और आप क्या कर सकते हैं। आपको अपने काम की सामान्य सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि की कल्पना करनी होगी। हम भारत में, जहाँ विभिन्न जातियों, धर्मों तथा सांस्कृतिक स्तरों के ३० करोड़ से अधिक लोग बसते हैं, एक धर्म-निरपेक्ष लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील हैं। हम अभी राजनीतिक तथा बौद्धिक गुलामी के बन्धनों से मुक्त हुए हैं, जिस गुलामी ने अन्य बातों के अतिरिक्त हमारे देश को कई द्वेषपूर्ण तथा परस्पर-विरोधी दलों में बाँट दिया है। हमारे शैक्षिक, तथा आर्थिक मानदण्ड अभी बहुत निम्नस्तर के हैं। आगामी कुछ वर्षों में सभी क्षेत्रों में पुनर्निर्माण का बहुत काफी काम करना होगा। इस प्रसंग में शिक्षा क्या कर सकती है? शिक्षा बहुत-कुछ कर सकती है लेकिन इस शर्त पर कि हमें उचित प्रकार के अध्यापक मिल सकें, हम उनमें उचित विचार तथा दृष्टिकोण पैदा कर सकें और साथ-ही-साथ एक शर्त यह भी है कि सरकार इस काम के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध करने को तैयार हो। मैं यह बात मान लेता हूँ कि ये दोनों शर्तें पूरी हो गई हैं— मान लेने के लिए यह बहुत बड़ी बात है पर तर्क को सुगम बनाने के लिए मैं यह मान लेता हूँ। इन शर्तों के पूरा हो जाने पर हमारे अध्यापकों को अपने शिक्षण-कार्य को ऐसी दिशा प्रदान करनी चाहिए कि हम अपनी जनता के विभिन्न तत्त्वों को एक ही सूत्र में बाँध दें पर साथ ही इस बात का भी ध्यान रखें कि हम उन्हें समरूपता के किसी शिकंजे में न जकड़ दें। स्कूलों को चाहिए कि वे अपने सभी बच्चों में इस चेतना को बल दें कि वे भारतीय हैं, परन्तु उनकी इस चेतना में इतनी काफी व्यापकता और सहिष्णुता होनी चाहिए कि वे मतभेदों का स्वागत कर सकें। इस प्रकार की एकता और भी यथार्थ होगी क्योंकि वह उनके व्यक्तिगत तथा समूहगत मतभेदों को भी स्वीकार करेगी। मतभेद होना स्वाभाविक बात है और मतभेदों का सम्मान किया जाना चाहिए, लेकिन इस शर्त पर कि इन मतभेदों को झगड़ों और संघर्षों का आधार न बनाया जाये। हमें अपनी राष्ट्रीय निष्ठा को एक सूत्र में बँधे हुए इस 'एक विश्व' के तकाजों के अनुकूल भी बनाना होगा जिसमें हम रहते हैं। हमें अपने विद्यार्थियों को मानसिक तथा सामाजिक दृष्टि से ऐसा बनाना होगा कि वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की महान् योजना में सक्रिय रूप से भाग ले सकें, जिसके लिए समाज-सेवा की गहरी भावना और उच्चतम कोटि की बौद्धिक तथा व्यावहारिक कार्य-कुशलता की आवश्यकता होती है। प्रणालियों तथा पाठ्यचर्याओं के क्षेत्र में हम जो कुछ भी करें उसका फल यह निकलना चाहिये कि बच्चों का बौद्धिक स्तर ऊँचा हो और उन्हें जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेने की बेहतर प्रशिक्षा

मिले। इस जीवन में बहुत-सी चीजें शामिल होती हैं पर इसका मुख्य अंश है—कार्य। शिक्षा की जो पद्धति बच्चों में कुशल ढंग से तथा लगन के साथ काम करने की इच्छा और इस ढंग से काम करने की क्षमता न पैदा करती हो वह शिक्षा समाज-विरोधी है। सामाजिक तथा नैतिक अनुशासन के क्षेत्र में हमें बाल-मनोविज्ञान के अपने अभिवृद्ध ज्ञान की सहायता से व्यक्ति तथा समूह की परस्पर निर्भरता की भावना को सुदृढ़ करना होगा और उनकी सामाजिक न्याय की भावना को तेज करना होगा। ये होंगे हमारे उद्देश्य। इन उद्देश्यों को पूरा करने के व्यावहारिक उपायों का पता लगाने के लिए बहुत अनुसंधान और प्रयोग करने होंगे, जिसके लिए अध्यापकों की कई पीढ़ियों को लगन के साथ आजीवन प्रयास करना होगा। मेरी यही कामना है कि हमारी पीढ़ी के लोगों को इस महान् शैक्षणिक तथा राष्ट्रीय प्रयास में प्रमुख भूमिका अदा करने का सौभाग्य प्राप्त हो!

परिशिष्ट

सामाजिक प्रशिक्षण में एक प्रयोग

(काश्मीर के स्कूलों में श्रम-सप्ताह)

भूमिका

पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा को एक नयी दिशा प्रदान करने के कई प्रयत्न किये गये हैं, विशेष रूप से उसे जीवन से निकटतर लाने और शिक्षा को सब चीजों से अलग रखनेवाली उन दीवारों को तोड़ देने के उद्देश्य से जिनमें घिरे रहने से उसका बुनियादी लक्ष्य और उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इन प्रयत्नों में से किसी को कम सफलता प्राप्त हुई और किसी को ज्यादा। इसी प्रकार का एक प्रयत्न १९३९ से १९४५ तक के वर्षों में जम्मू तथा काश्मीर राज्य में भी किया गया। इस रोचक तथा बहुमूल्य रिपोर्ट में, जो स्थानीय शैक्षणिक कार्यकर्ताओं के लिए काश्मीर में प्रकाशित हुई थी, उस समय लोगों ने काफी दिलचस्पी दिखायी थी इसलिए मैंने बम्बई के शिक्षा-विभाग की ओर से उसे फिर प्रकाशित कराया ताकि वह अधिक पाठकों तक पहुँच सके। इसके बाद अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में पाठकों का ध्यान इस प्रयोग की ओर आकर्षित कराने के किए यूनेस्को के एजुकेशन क्लियरिंग हाउस ने इस रिपोर्ट को आधारभूत शिक्षा की अपनी त्रैमासिक बुलेटिन में प्रकाशित किया। इस रिपोर्ट में जितनी दिलचस्पी दिखायी गयी है उसी को ध्यान में रखते हुए मैं उसे यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ।

मेरी यह दृढ़ भावना है कि न केवल इस देश में बल्कि सारी दुनिया में हमें पूरी लगन के साथ और जुटकर अपने बच्चों तथा युवकों की सामाजिक विचारधारा को एक नयी दिशा प्रदान करने की कोशिश करनी है, विशेष रूप से उनमें श्रम की मर्यादा की भावना का संचार करने और सृजनात्मक तथा समाजोपयोगी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिलकर काम करने की दिशा

में। यह काम करने का मुझे इससे बेहतर कोई तरीका नहीं दिखाई देता कि स्कूल के सभी बच्चों में कार्य और सेवा पर आधारित बन्धुत्व स्थापित किया जाये जिसमें 'तुच्छ से तुच्छ' काम को भी वे उत्साह और बन्धुत्व की भावना के साथ करें क्योंकि वह काम उपयोगी होगा और उसमें उनकी शक्ति तथा प्रतिभा को स्वस्थ्य रूप में व्यक्त होने का अवसर मिलेगा। मैं समझता हूँ कि 'अन्तर-राष्ट्रीय स्वैच्छिक शान्ति-सेवा' नामक संगठन के रवैये की बुनियाद भी इसी विचार पर है। जाहिर है मेरा सुझाव यह कदापि नहीं है कि हमने जिस कार्यक्रम पर अमल किया वह पूरे का पूरा सभी स्कूलों में अपनाया जा सकता है या अपनाया जाना चाहिए, क्योंकि अलग-अलग देशों की परिस्थितियों में बहुत अन्तर होता है और इस प्रकार के किसी भी प्रयोग का सबसे बड़ा गुण यही है कि उसके लिए हर स्कूल के अध्यापकों तथा छात्रों को आयोजना और स्वयं-स्फूर्ति का परिचय देना पड़ता है। वे अपनी विशेष आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों का और साथ ही अपने चारों ओर की परिस्थितियों का भी अध्ययन कर सकते हैं और यह फैसला कर सकते हैं कि किस-किस प्रकार के काम लाभदायक ढंग से किये जा सकते हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि जो भी कार्यक्रम तैयार किया जाये वह निम्नलिखित शर्तों को पूरा करे :

१. उसमें बच्चों की आयु के अनुसार वास्तविक श्रम और शारीरिक काम करने की गुंजाइश हो, ताकि सप्ताह के अन्त में वे कोई सचमुच उपयोगी काम करके दिखा सकें।

२. उसमें सहकारी ढंग से काम करने की गुंजाइश हो ताकि बच्चे टोलियाँ बनाकर काम कर सकें और इस प्रकार व्यवहार द्वारा अनुशासन की आदतें और नेतृत्व के गुण सीख सकें।

३. उसमें वैविध्य हो तथा वह सुनियोजित हो ताकि उसमें भाग लेनेवाले दसियों हजार बच्चों को कोई उपयोगी काम करने का मौका मिल सके और सिर्फ काम का 'ढोंग' करने में समय नष्ट न हो। यदि कार्यक्रम में स्कूल के अन्दर और स्कूल के बाहर किये जानेवाले दोनों ही प्रकार के काम शामिल कर लिये जायें—जैसे आस-पास के इलाकों की सफाई, खेती के काम में सहायता, अस्पतालों में जाकर काम करना, निर्माण-कार्य इत्यादि—तो इस लक्ष्य को पूरा करने में सुविधा हो सकती है।

४. श्रम-सप्ताह प्रायोजना की शैक्षणिक सम्भावनाओं का पूरा लाभ उठाने के लिए इस बात की कोशिश की जानी चाहिए कि इसके अन्तर्गत जो काम किया जाये उसका सम्बन्ध स्कूल की पढ़ाई के कार्यक्रम के साथ

स्थापित किया जाये और इस प्रकार पढ़ाई, लिखाई, गणित तथा अन्य विषयों को बल प्रदान किया जाये।

मैं जानता हूँ कि कई देशों में इस प्रकार का बहुत-सा काम किया गया है, भारत की अपेक्षा कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर और कहीं ज्यादा संगठित ढंग से। यह विवरण मुख्यतः अन्य देशों के शैक्षणिक कार्यकर्ताओं को इस बात से परिचित कराने के उद्देश्य से छापा जा रहा है कि कुछ कठिन परिस्थितियों में एक छोटी-सी प्रायोजना को किस प्रकार क्रियान्वित किया गया और हमें अपनी कोशिशों में कितनी सफलता प्राप्त हुई।

प्रयोग की पृष्ठभूमि

१९३८ से १९४५ तक जम्मू तथा कश्मीर राज्य के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर की हैसियत से मुझे उस राज्य की शिक्षा-पद्धति का पुनर्गठन करने का भार सौंपा गया था; लगन के साथ काम करनेवाले तथा योग्य अध्यापकों और साथियों की बदौलत और प्रशासन के सहायतापूर्ण रवैये की बदौलत इस प्रायोजना में काफी सफलता प्राप्त की गई। इस संक्षिप्त रिपोर्ट में मेरा उद्देश्य एक रोचक और शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रयोग का विवरण प्रस्तुत करना है जो इस दौरान में सभी सरकारी स्कूलों में किया गया था। शिक्षा के क्षेत्र में इसके बाद जो घटनाएँ हुई हैं और तब से जो नयी प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आयी हैं उन्हें देखते हुए इस प्रयोग का महत्त्व उससे कहीं ज्यादा हो गया है जितना कि मैं उस समय कल्पना कर सकता था।

हमने शिक्षा के पुनर्गठन के जिस काम का बीड़ा उठाया उसका उद्देश्य केवल यही नहीं था कि पाठ्यचर्या, शिक्षा की प्रणालियों और प्रविधि में सुधार किया जाये बल्कि उसका लक्ष्य यह भी था कि स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों तथा लड़कियों में नये सामाजिक तथा नैतिक विचारों का भी संचार किया जाये। भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति के ख़िलाफ एक सबसे गम्भीर और आम शिकायत यह रही है कि वह स्कूल की दुनिया और स्कूल से बाहर की दुनिया के बीच बहुत बड़ा अन्तर पैदा कर देती है, शिक्षित लोगों को बाकी सब लोगों से अलग कर देती है और उनमें से कुछ लोगों में सामाजिक दम्भ की भावना पैदा कर देती है, जिसकी वजह से वे शारीरिक श्रम को अपनी मर्यादा से नीचे समझने लगते हैं और शारीरिक श्रम करनेवाले हर आदमी को घटिया दर्जे का इंसान समझने लगते हैं। इस आलोचना में बहुत काफी सच्चाई है और इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति ने न केवल शिक्षित वर्गों की मनोवृत्ति को दूषित कर दिया है बल्कि

शिक्षा को थोड़ा-बहुत सतही, यथार्थता से दूर और पाठ्य-पुस्तकों तथा कुछ किताबी विषयों की पढ़ाई तक ही सीमित कर दिया है।

हमने इस परिस्थिति पर हर दृष्टिकोण से विचार किया और स्कूल की शिक्षा को एक अधिक गतिवान दिशा प्रदान करने की कई योजनाएँ तैयार कीं—जिसमें समाज-ज्ञान के पाठ्यक्रम में संशोधन करने, हर कक्षा में 'क्रिया का एक घंटा' लागू करने और शिल्प-कार्य को प्रोत्साहन देने इत्यादि की योजनाएँ शामिल थीं। जिन योजनाओं पर विचार किया गया उनमें एक योजना यह भी थी कि हर साल स्कूलों में एक श्रम-सप्ताह मनाया जाये जिसके दौरान में सभी बच्चों को स्कूल के रोजमर्रा के काम से छुट्टी दे दी जाये और वे स्कूल में और स्कूल के बाहर शारीरिक श्रम तथा समाज-सेवा के तरह-तरह के काम करें और इस प्रकार समाज-सेवा तथा सम्मानपूर्ण श्रम का सबक 'काम करके सीखें'। इस सुझाव के सभी पहलुओं पर विचार करने के बाद हमने इस योजना को आजमाने का फैसला किया और १९३९ में आरम्भ होकर छः वर्ष तक हर साल स्कूल की शिक्षा के एक अभिन्न अंग के रूप में पूरे राज्य में श्रम-सप्ताह मनाया गया।

राज्य के सभी प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों में यह सप्ताह मनाने का फैसला करते समय हमारे सामने यह लक्ष्य था कि हम शारीरिक श्रम के सामाजिक तथा नैतिक मूल्य के प्रति बच्चों में एक नया रवैया पैदा करें और उन्हें अपने-अपने स्कूलों के हित में तथा स्थानीय समाज के हित में सक्रिय समाज-सेवा का काम करने के तरह-तरह के अवसर प्रदान करें। शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले जिन अनेक कार्यकर्त्ताओं से हमने परामर्श किया उनमें से कई का यह दृढ़ विश्वास था कि ज्यादातर बच्चे बड़े उत्साह से इस प्रायोजना का स्वागत करेंगे क्योंकि इससे उन्हें अपनी सृजनात्मक तथा रचनात्मक शक्तियों का परिचय देने का अवसर मिलेगा और वे सामान्य लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साथ मिलकर काम कर सकेंगे। परन्तु इसमें सन्देह था कि बच्चों के माता-पिता और आम लोग भी एक ऐसे आन्दोलन का स्वागत कर सकेंगे कि नहीं जिसके बारे में कल्पनाहीन बाहरवाले आदमी की राय यह हो कि इसमें व्यर्थ समय नष्ट किया जा रहा है और विद्यार्थियों को उनकी किताबों से हटाकर ऐसे काम में लगाया जा रहा है जो मजदूरों, कुलियों, राज-मिस्त्रियों और भंगियों से आसानी से लिया जा सकता है। परन्तु हमने यह महसूस किया कि यह कोशिश की जानी चाहिये और विद्यार्थियों में सामाजिक चेतना जागृत करनेवाले इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग को केवल इसलिए नहीं त्यागा जा सकता कि कहीं जानकारी न रखनेवाले कुछ लोग उसका विरोध न करें।

सर्वसाधारण का उत्साह

इस प्रकार जब हमने काम शुरू किया तो हम इस बात के लिए बिलकुल तैयार थे कि हमें कुछ विरोध का सामना करना पड़ेगा। परन्तु यह देखकर हमें खुशी हुई कि पहले वर्ष के बाद बच्चों के माता-पिता की ओर से विरोध बेहद कम हो गया और बहुधा ऐसा होता था कि जो लोग हमारा मजाक उड़ाते हुए आते थे वे हमारी प्रशंसा करते हुए जाते थे। कई बार ऐसा भी हुआ कि बच्चों के माता-पिता पर इस आन्दोलन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे भी स्कूल की मरम्मत करने और उसे सजाने या शहर अथवा गाँव की सफाई करने में अपने बच्चों का हाथ बँटाने लगे। इस सफलता का श्रेय कुछ हद तक उन अध्यापकों को दिया जाना चाहिए जिन्होंने बड़ी सूझ-बूझ और समझदारी के साथ अपना काम किया और विरोध करनेवालों को समझा-बुझाकर उनका विरोध समाप्त कर दिया; और कुछ हद तक हमारी इस सफलता का श्रेय युग की उस भावना को है जिसने शारीरिक श्रम के बारे में लोगों के युगों पुराने पूर्वाग्रह को बहुत कमजोर कर दिया था। कुछ ऐसे लोगों ने जो इस राज्य की पिछली परिस्थितियों से भली-भाँति परिचित थे मुझे बताया कि अब से दस-बीस बरस पहले भी इस प्रकार के प्रयोग से अगर दंगा न भी होता तो एक हंगामा तो जरूर खड़ा हो जाता।

हमने काम कैसे आरम्भ किया

हमने पहला कदम यह उठाया कि जम्मू में शिक्षा-अधिकारियों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें इस प्रयोग के आधारभूत उद्देश्यों पर विचार किया गया और उन्हें स्पष्ट किया गया, और जो प्रस्ताव तथा सुझाव रखे गये उन पर अच्छी तरह बहस की गई। इस सम्मेलन में उपस्थित सभी सदस्यों को यह बात भी भली-भाँति समझा दी गयी कि उन्हें इस प्रायोजना का काम यह समझकर यन्त्रवत् नहीं करना चाहिए कि विद्यार्थी और अध्यापक कोई ऐसा काम कर रहे हैं जो उनपर बाहर से शिक्षा-विभाग की ओर से जबर्दस्ती थोप दिया गया है। श्रम-सप्ताह मनाने की बुनियाद में उत्पादनशील कार्य और समाज-सेवा का जो विचार है उसका महत्त्व और खेतों तथा खलिहानों में काम करनेवालों के प्रति बन्धुत्व की भावना पैदा करने का महत्त्व विद्यार्थियों को भली-भाँति समझा दिया जाना चाहिए ताकि वे इस प्रयोग को समझ कर उसमें भाग ले सकें और उसमें भाग लेकर उल्लास अनुभव कर सकें। उन्हें यह भी बताया गया कि इस योजना की सफलता इस बात पर निर्भर है कि हर स्कूल के पास जितने साधन हों उनकी

भली-भाँति जाँच करने के बाद बहुत ध्यान देकर यह योजना तैयार की जाय कि उन्हें क्या काम करना है। खास तौर पर बड़े स्कूलों में, जहाँ विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या को छः-सात दिन तक उपयोगी काम में लगाये रखने का सवाल होगा, इस बात का बहुत खतरा होगा कि काम ठीक से सुव्यवस्थित न किया जा सके और उनके समय तथा श्रम का अपव्यय हो; इसलिए सफलता प्राप्त करने के लिए योजना बनाकर काम करना नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भी अपव्यय को खत्म करने और एक सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिए अलग-अलग लोगों की विविध प्रकार की प्रतिभाओं तथा क्षमताओं का उपयोग करने के उद्देश्य से सहकारिता के आधार पर काम की योजना बनाना स्वयं एक बहुत बड़ा शिक्षाप्रद अनुभव है। इस सम्मेलन के बाद शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने उन सभी निरीक्षण-अधिकारियों तथा हेडमास्टरों के पास, जिन पर अपने-अपने क्षेत्र में यह सप्ताह संगठित करने का भार था, निम्नलिखित संक्षिप्त सर्कुलर भेजा :

'मैं यह पत्र आपका ध्यान "श्रम-सप्ताह" की उस प्रायोजना की ओर आकर्षित कराने के लिए लिख रहा हूँ जिसे प्रान्त के सभी स्कूलों में संगठित करने की योजना है। मैं समझता हूँ कि इस सप्ताह को सफलतापूर्वक संगठित करना शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व का काम है, और इसलिए मैं आप सब लोगों से अनुरोध करूँगा कि इस सप्ताह के दौरान में जो काम किया जानेवाला है उसकी ब्योरे की बातों पर आप ध्यानपूर्वक विचार करें। यदि ध्यानपूर्वक विचार करके पहले से कार्यक्रम तैयार कर लिया जाये और यदि विद्यार्थियों को इस काम के आधारभूत उद्देश्य समझाकर उनका उत्साहपूर्ण सहयोग प्राप्त कर लिया जाये तो इस काम का न केवल सामाजिक तथा नैतिक मूल्य बहुत अधिक हो जायेगा बल्कि उनकी पढ़ाई के साथ भी इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा। इस काम का सामाजिक तथा नैतिक मूल्य इस बात में निहित है कि यह चारों ओर के समाज के जीवन के साथ स्कूल का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है और स्कूल के बच्चों को निर्माण और सेवा के कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करता है और उनमें और स्थानीय समाज के सदस्यों में यह आभास उत्पन्न करता है कि उनके हित समान हैं। इसके अलावा यदि विद्यार्थियों से यह कहा जाये कि वे अपने काम की रिपोर्ट तैयार करें और अपने स्कूल और अपने गाँव या शहर के सुधार पर गर्व करें तो उन्हें अपने स्कूल की सफलता और कार्य-कुशलता में नयी दिलचस्पी पैदा होगी और वे इस काम से सम्बन्धित पढ़ाई,

लिखाई या किसी दूसरे व्यावहारिक कार्य में भी ज्यादा आसानी से अपना मन लगाना सीखेंगे।

यथासमय इस सम्बन्ध में आपके अधीन किये गये काम की रिपोर्ट पाकर और विशेष रूप से यह मालूम करके कि इस प्रयोग की ओर बच्चों के माता-पिता और अन्य लोगों की प्रतिक्रिया क्या रही, मुझे बड़ा हर्ष होगा।'

काम का कार्यक्रम

स्कूलों के निरीक्षकों ने अपने अधीन काम करनेवाले हेडमास्टरों तथा निरीक्षण-अधिकारियों की मीटिंग बुलाकर ब्योरे की बातों पर विचार-विनिमय किया और सारे प्रान्त में अध्यापकों के पथ-प्रदर्शन के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम तैयार किया गया :

(१) स्कूल के कमरों की पुताई;
(२) जहाँ आवश्यक हो वहाँ स्कूलों की छतों पर गारा लगाने का काम;
(३) स्कूलों के कमरों, बरामदों, अहातों, बागीचों और खेल के मैदानों की सफाई;
(४) चहारदीवारी या जंगले की मरम्मत;
(५) प्रयोगशाला, पुस्तकालय तथा अन्य कमरों में फर्नीचर की सफाई और अगर पैसा हो, तो उन पर वार्निश करना;
(६) स्कूल की सजावट—चार्ट और तस्वीरें तैयार करना और दीवारों पर उपयुक्त सूक्तियाँ छापना, इत्यादि।
(७) स्कूल तक जानेवाले रास्ते को ठीक करना, जैसे गढ़े भरना और रोड़े-कंकड़ वगैरह हटाना;
(८) आम रास्तों की मरम्मत करना—स्कूल के इलाके में इन रास्तों के गढ़े पाटना, चहबच्चे भरना, नालियों की सफाई इत्यादि; और
(९) स्कूल के लॉन पर घास जमाना।

प्रधान इंजीनियर (सरकारी निर्माण-विभाग) ने कृपापूर्वक इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया कि जिन स्कूलों को सालाना मरम्मत के लिए कुछ रकम मंजूर की जाती है—और आम तौर पर यह रकम बहुत थोड़ी होती है—उनमें छोटी-मोटी मरम्मत और पुताई इत्यादि के लिए जो सामान खरीदा जाये उसकी लागत इस रकम में से दी जाये। इस प्रकार स्कूलों को अपने सीमित आर्थिक साधनों में से कोई पैसा खर्च किये बिना अपना कार्यक्रम पूरा करने में सुविधा हो गयी और सरकारी निर्माण-विभाग को भी कुछ पैसों की बचत हो गयी।

शिक्षा-विभाग ने नगरपालिकाओं तथा नगर-क्षेत्रों के अधिकारियों का भी सहयोग प्राप्त किया और उनसे ऐसे औजार उधार लिये जो वे अपने यहाँ से दे सकते थे। कुछ जगहों पर अन्य विभागों ने भी, जैसे स्वास्थ्य-विभाग ने शहरों और गाँवों की सफाई करने में काफी मदद दी। इस प्रयोग की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसके लिए कोई अतिरिक्त धन व्यय नहीं करना पड़ा। इस बात पर जोर देना आवश्यक है क्योंकि जहाँ कहीं भी इस प्रकार की प्रायोजना का प्रस्ताव रखा जाता है वहाँ हमेशा पैसे की कमी का बहाना किया जाता है।

जब यह प्रयोग पहले-पहल आजमाया गया तो कई जगहें ऐसी थीं जहाँ उचित ढंग से काफी योजना बनाकर काम नहीं किया गया था; विशेष कठिनाई इस बात में हुई कि स्कूल के सारे विद्यार्थियों को एक साथ सुव्यवस्थित काम में लगाया जाये और उनके काम पर बाकायदा निगरानी रखी जाये। परन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता गया वैसे-वैसे समय और श्रम का अपव्यय भी कम होता गया। जो हिदायतें दी गयी थीं उनकी सीमा के भीतर ही स्वयं विद्यार्थियों से यह मालूम करने की कोशिश की गयी कि उनकी राय में स्कूल के अन्दर और स्कूल के बाहर किस प्रकार का काम किया जाना चाहिये। हमारा यह मत था कि इस प्रकार का कोई भी प्रयोग बुनियादी तौर पर शिक्षा की दृष्टि से तभी उपयोगी और सफल हो सकता है जब उसमें विद्यार्थी समझदारी तथा तत्परता के साथ अपना सहयोग प्रदान करें और अध्यापकों का यह काम है कि वे विद्यार्थियों में यह चेतना पैदा करने में सहायता दें कि वे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पसन्द किया हुआ एक ऐसा महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं जिसका सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है।

सफलताएँ

पहले ही वर्ष की रिपोर्ट से यह पता चला कि सारे राज्य के प्राथमिक, माध्यमिक तथा हाई स्कूलों के विद्यार्थियों ने निम्नलिखित प्रकार का काम किया :

(१) स्कूलों की इमारतों, फर्नीचर, लॉन, मैदान और आस-पास के इलाके की सफाई, पुताई, मरम्मत और सजावट।

(२) गलियों और सड़कों से कंकड़-पत्थर, काँच के टुकड़े, लोहे की कीलें इत्यादि हटाना।

(३) पानी भरने की जगहों की, जैसे चश्मों और तालाबों की सफाई और कुएँ खोदने में सहायता।

(४) छोटे-छोटे नालों और चश्मों को पार करने में सुविधा के लिए पुल बनाना।

(५) सड़कों और गलियों में गढ़े पाटना, सड़कों की सफाई तथा मरम्मत करना, पहाड़ियों की खतरनाक फिसलनी ढलानों की मरम्मत करना।

(६) गंदी बस्तियों के बच्चों के लिए नहाने के केन्द्र और आम लोगों के लिए तात्कालिक चिकित्सा के केन्द्र स्थापित करना।

(७) प्रौढ़ों को अपना नाम लिखना सिखाना।

(८) कुछ इलाके चुनकर उनमें पानी की बेहतर निकासी की व्यवस्था करना और खुली नालियों की वजह से जहाँ कीचड़ हो गयी हो उसे सुखाना।

(९) स्कूल के अहाते में घास लगाना।

(१०) आम बीमारियों की रोकथाम करने के उद्देश्य से जनसाधारण के बीच शरीर की सफाई और अपने इलाके की सफाई के महत्त्व के बारे में प्रचार करना; खाद के लिए गढ़े बनाना; खेती-बारी के आधुनिक तरीकों तथा औजारों का इस्तेमाल सीखना। यह काम व्यावहारिक प्रदर्शनों द्वारा भी किया गया और संगठित जुलूसों द्वारा भी जिनके दौरान में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने भाषण दिये, गीत गाये और अन्य कार्यक्रमों का आयोजन किया।

इस बात का ठोस चित्र प्रस्तुत करने के लिए कि कितना काम किया गया और यह दिखाने के लिए कि मिलकर काम करने से बहुत विशाल परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं, कुछ स्कूलों द्वारा वास्तव में पूरी की गयी कुछ प्रायोजनाओं की सूची नीचे दी जा रही है :

(१) स्कूल के बागीचे के चारों ओर १५०′×२½′×३′ दीवार का निर्माण।

(२) जिन नालों की वजह से बच्चों को स्कूल जाने में कठिनाई होती थी उन पर पुलों का निर्माण।

(३) स्कूल के लिए पाखानों का निर्माण।

(४) स्कूल से मिली हुई एक बड़ी-सी जमीन साफ करके खेल का मैदान बनाना और ऊँची-ऊँची झाड़ियों की कटाई जहाँ साँप रहा करते थे।

(५) छोटे-छोटे बच्चों को रोज नहलाने के लिए केन्द्रों की स्थापना।

(६) आदर्श रसोईघरों की आयोजना तथा निर्माण।

(७) खुले हुए मौसम के लिए छप्पर में एक 'वाचनालय' का निर्माण।

(८) अस्पतालों में समाज-सेवा का काम।

(९) एक मस्जिद के चारों ओर कच्ची दीवार का निर्माण ।
(१०) गन्धक के चश्मों की सफाई जो दसियों बरस से गन्दे पड़े थे और बीमारी फैलाने का स्रोत बन गये थे ।
(११) स्कूल के बागीचे में पानी लाने के लिए एक नाली का निर्माण ।
(१२) खेल-कूद का सामान रखने के लिए चिनार के बहुत बड़े पेड़ का तना खोखला करके गोदाम का निर्माण ।

इस सप्ताह के दौरान में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने सफाई की बेहतर व्यवस्था और प्रौढ़-शिक्षा के बारे में जबर्दस्त प्रचार किया; दफ्ती के बड़े-बड़े टुकड़ों पर नारे लिखकर, मीटिंगें करके और गीत गाकर उन्होंने लोगों से प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों में भरती होने का अनुरोध किया। विद्यार्थियों के लिए मनोरंजन की रुचिकर व्यवस्था करने के लिए और उन्हें नाटकों, खेलों, हास्य-प्रधान छोटे-छोटे अभिनयों और अन्य स्वयंस्फूर्त कार्यों द्वारा अपनी प्रतिभा को व्यक्त करने के अवसर प्रदान करने के लिए रात्रि के समय कैम्प-फायर के कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। श्रीनगर में तथा अन्य कुछ स्थानों में विद्यार्थियों ने नगरपालिकाओं तथा नगर-क्षेत्र समितियों के पास पत्र भेजकर उनका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित कराया कि उन्होंने सफाई के इस आन्दोलन के दौरान में कहाँ-कहाँ गन्दगी और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक परिस्थितियाँ देखी थीं और उनसे प्रार्थना की कि वे इन परिस्थितियों में आवश्यक सुधार करने लिए कदम उठायें।

मूल्यांकन

कुल मिलाकर मैंने स्वयं अपने निरीक्षण के दौरान में जो कुछ देखा और मुझे जो रिपोर्टें मिलीं उनसे मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया कि इस सप्ताह के काम से बच्चों को न केवल समाज-सेवा और मिलकर काम करने की बहुत बहुमूल्य प्रशिक्षा मिली बल्कि उनका समय भी बहुत उल्लास के वातावरण में व्यतीत हुआ जो आम तौर पर भारत में स्कूल के काम में नहीं होता है। उन्हें स्कूल की इमारतों की मरम्मत तथा पुताई करने, स्कूल के कमरों की सजावट तथा फर्नीचर में सुधार करने, बागीचे और घास लगाने और कहीं-कहीं छोटी-मोटी इमारतें खुद बनाने के अवसर मिले। बढ़ते हुए बच्चे और किशोरवयस्क बालक को किसी दूसरी चीज से इतनी खुशी नहीं होती जितनी कि इस विचार से कि "यह मेरा स्कूल है क्योंकि इसे मैंने अपने हाथों की मेहनत से तैयार किया है।" इससे उनमें स्कूल के प्रति एक नया लगाव पैदा होता है,

क्योंकि वह उनके लिए कोई बाहर की चीज नहीं रह जाता बल्कि एक ऐसी चीज बन जाता है जिसे उन्होंने मिलकर अपनी मेहनत से तैयार किया है। अध्यापकों और उनके शिष्यों में मिलकर काम करने से बन्धुत्व की एक नयी भावना पैदा होती है जिसकी वजह से अध्यापकों को हर बच्चे के फर्क और बच्चों की अलग-अलग क्षमताओं को समझने में सहायता मिलती है। सबसे बड़ी बात तो यह होती है कि स्थानीय समाज के साथ उन दोनों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, क्योंकि स्थानीय समाज यह देखता है कि ये अध्यापक और विद्यार्थी उसकी खातिर श्रम कर रहे हैं और अक्सर ऐसा होता है कि समाज के सदस्यों की आश्चर्य-मिश्रित अविश्वास की भावना बदल कर स्वयंस्फूर्त प्रशंसा और उस प्रयास में स्वयं भाग लेने की इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। एक जगह मैंने देखा कि लड़के और स्थानीय दूकानदार न केवल सड़कों और बाजारों को साफ करने के लिए कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रहे थे बल्कि वे उन दूकानों को भी साफ कर रहे थे जिनमें से कई ऐसी थीं जिन्हें हमारी याद में पहले कभी इतनी अच्छी तरह झाड़ा-बुहारा या साफ नहीं किया गया था। यदि हमारे स्कूल इस प्रकार व्यावहारिक ढंग से समाज-सेवा और जन-साधारण तथा स्कूलों के बच्चों के बीच सामाजिक एकबद्धता की भावना पैदा कर सकें तो वे शिक्षा के सच्चे केन्द्र बन जायेंगे।

श्रम-सप्ताह की समाप्ति पर डायरेक्टर के कार्यालय से सभी अध्यापकों तथा निरीक्षण-अधिकारियों को निम्नलिखित सर्कुलर भेजा गया :

'पूरे काश्मीर प्रान्त के सभी सरकारी तथा सरकार की ओर सहायता पानेवाले स्कूलों में १२ जून से १९ जून तक श्रम-सप्ताह मनाया गया। इस नये शैक्षणिक प्रयोग का उद्देश्य सभी अध्यापकों तथा विद्यार्थियों में श्रम की मर्यादा की गहरी भावना जाग्रत करना और स्कूलों तथा स्थानीय समाज की सेवा के लिए उनकी प्रतिभाओं, उनकी शक्ति तथा उनके श्रम-बल का उपयोग करना था। मुझे यह देखकर बहुत हर्ष हुआ कि अध्यापकों तथा विद्यार्थियों दोनों ही ने स्वयंस्फूर्त उत्साह के साथ इस कार्यक्रम में भाग लिया और किसी ने भी—"ऊँचे से ऊँचे कुल" के भी किसी बच्चे ने—शारीरिक श्रम का कठिन से कठिन अथवा अरुचिकर से अरुचिकर कार्य करने में कोई संकोच या आनाकानी नहीं की। कुल मिलाकर जन-साधारण ने भी इस योजना का स्वागत किया। कुछ लोगों ने शुरू-शुरू में आलोचना की पर अध्यापकों या विद्यार्थियों से इस समस्या पर बहस करने के बाद उनक

शंकाएँ भी दूर हो गयीं। श्रम-सप्ताह के दौरान में जो काम किया गया उसे दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) एक तो ऐसे काम जिनका सम्बन्ध कमरों की मरम्मत, सजावट, सफेदी और पुताई, फर्नीचर की मरम्मत, सड़कों और स्कूल के बागीचों में सुधार करने के साथ था; और

(ख) ऐसे काम जिनका उद्देश्य शहर या गाँव की सफाई करना और अन्य प्रकार की समाज-सेवा करना था। समाज-सेवा में ये काम शामिल थे : हर स्कूल को किसी खास मुहल्ले की सफाई का भार सौंप देना, नहाने के घाटों तथा सड़कों को सुधारना, लोगों को अपने घरों तथा अहातों की सफाई करने में सहायता देना, सब्जियों या फूलों के छोटे-छोटे बागीचे लगाना, दीवारों पर सूक्तियाँ अंकित करना, अस्पतालों में जाकर काम करना, इत्यादि।

उपरोक्त सूची में वे सारे काम शामिल नहीं हैं जो इस सप्ताह के दौरान में किये गये। कुछ स्कूलों ने दीवारें तथा पाखाने बनाने, गोदामों का निर्माण करने और जिन इलाकों में पानी खड़ा रहता था उन्हें सुखाकर इस्तेमाल में ले आने के सिलसिले में काफी सूझ-बूझ का परिचय दिया।

मुझे विश्वास है कि आगामी वर्षों में श्रम-सप्ताह में किये जानेवाले कामों का क्षेत्र अधिक व्यापक होता जायेगा और अपने इस वर्ष के अनुभव का लाभ उठाकर हम इसे और भी कारगर ढंग से संगठित करेंगे और जन-साधारण में इस बात की चेतना पैदा करेंगे कि स्कूल नागरिक जीवन में सुधार करने के काम में अपनी भूमिका का निर्वाह करने को तैयार हैं। जब भी और जहाँ कहीं भी कोई ऐसा कठिन काम हो जिससे आमतौर पर सभी लोगों को लाभ पहुँचता हो तो हमारे विद्यार्थी सेवा की भावना लेकर उस काम को पूरा करेंगे और उन्हें इस बात की खुशी होगी कि उस काम को करके वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादनशील श्रम द्वारा अपनी सच्ची शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे हैं। मैं राज्य की जनता को इस बात का आश्वासन दिलाना चाहता हूँ कि विभाग इस सप्ताह को अपने वार्षिक कार्य का एक नियमित अंग बना लेगा और उदीयमान पीढ़ी को इस बात की शिक्षा देने की कोशिश करेगा कि वे समाज-सेवा और श्रम की मर्यादा के आदर्शों को समझें ताकि आगे चलकर वे आत्म-सम्मान, सूझ-बूझ, सहकारिता तथा उदारता के गुणों से परिपूर्ण नागरिक बन सकें।

पूरे श्रम-सप्ताह का सिंहावलोकन करते हुए कुछ ऐसी बातें सामने आती

हैं जिन्हें ध्यान में रखने की प्रार्थना मैं सभी अध्यापकों तथा निरीक्षण-अधिकारियों से करूँगा ताकि इस प्रायोजना से ज्यादा से ज्यादा शैक्षिणक, सामाजिक तथा नैतिक लाभ उठाया जा सके।

पहली बात तो यह कि इस काम के लिए यह आवश्यक है कि अकेले अध्यापक ही नहीं बल्कि अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर पहले ही से ध्यानपूर्वक इसकी योजना बना लें तथा काम को संगठित कर लें। यह दो कारणों से आवश्यक है। एक ओर तो इससे विद्यार्थियों को सहकारी प्रायोजनाओं को समझदारी के साथ पूरा करने और उपलब्ध साधनों को हितकर उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करने की बहुमूल्य प्रशिक्षा मिलती है। दूसरी ओर इस बात का खतरा बिल्कुल नहीं रह जाता कि श्रम का अपव्यय हो या कुछ विद्यार्थी कामचोरी करें; यदि इस मामले पर पहले ही से काफी ध्यान देकर विचार न कर लिया गया तो इन दोनों ही बातों का होना अवश्यम्भावी है।

दूसरी बात यह कि हर साल इस काम के आधारभूत उद्देश्य विद्यार्थियों को नये सिरे से अच्छी तरह समझाये जाने चाहिए और ध्यान देकर यह देखा जाना चाहिए कि उन पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। उनमें यह आभास नहीं पैदा होना चाहिए कि वे कोई बँधा हुआ काम कर रहे हैं बल्कि उन्हें यह समझना चाहिये कि वे अपनी प्रतिभाएँ तथा क्षमताएँ अपने स्कूल तथा अपने समाज की सेवा में अर्पित कर रहे हैं, और यह कि सेवा से बढ़कर जीवन का कोई लक्ष्य या फल नहीं हो सकता।

तीसरी बात यह कि भविष्य में स्कूल के साधारण ज्ञानोपार्जन के काम के साथ इन कामों का अधिक गहरा सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की जानी चाहिए। ऐसा करने के कई तरीके हो सकते हैं—लड़कों की टोलियों से अपने काम के बारे में रिपोर्टें तैयार कराना; इस सप्ताह के दौरान में प्राप्त किये गये किसी अनुभव के आधार पर कक्षा में निबन्ध लिखवाना; मरम्मत की लागत का हिसाब लगवाना; शहर या गाँव में किये गये 'सामाजिक सर्वेक्षणों' की संक्षिप्त रिपोर्टें तैयार कराना। विशेष रूप से इस पृष्ठभूमि में जो निबन्ध लिखे जायेंगे उनमें सजीवता तथा स्वयंस्फूर्ति का ऐसा गुण होगा जो स्कूलों में आम तौर पर लिखाये जानेवाले निबन्धों में नहीं होता।

चौथी बात यह कि विद्यार्थी जो शारीरिक श्रम या मरम्मत इत्यादि का काम करें उसमें क्रमशः सुधार होना चाहिए और उनमें यह चेतना पैदा होनी चाहिए कि जो काम करने योग्य है वह भली भाँति करने योग्य

भी है; जैसा कि कार्लाइल ने एक बढ़ई के बारे में लिखा था कि बसूले या हथौड़े की हर चोट से ईसामसीह के दस आदेशों को तोड़ा भी जा सकता है और मजबूत भी बनाया जा सकता है। इस काम के लिए यदि आवश्यक हो तो किसी राज या बढ़ई या चित्रकार से सलाह लेने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया जाना चाहिए।

अन्त में मैं एक बार फिर उन सभी विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा निरीक्षण-अधिकारियों की सराहना करना चाहता हूँ और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने सेवा के इस आवाहन को स्वीकार करते हुए बड़े शानदार ढंग से काम किया और धन अथवा प्रशिक्षण के किन्हीं विशेष साधनों के बिना ही इस काम को सफलतापूर्वक पूरा किया। कौन जाने यह छोटी-सी और तुच्छ शुरुआत ही आगे चलकर सभी वर्गों के लोगों के लिए, विशेष रूप से स्कूलों तथा कालेजों के विद्यार्थियों के लिए किसी प्रकार की अनिवार्य समाज-सेवा की पद्धति लागू करने के एक राज्य-व्यापी आन्दोलन का आधार बन जाये और श्रम-शक्ति को छः महीने या सालभर के लिए निरक्षरता, अज्ञान, दरिद्रता, रोग, गन्दगी और सामाजिक असहिष्णुता आदि उन अनेक समस्याओं को हल करने के लिए इस्तेमाल किया जा सके, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन पर एक कलंक हैं? अन्य देशों में यह किया जा चुका है और किया जा रहा है और इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि हमारा देश इस मामले में क्यों पीछे रहे। यदि युद्ध के लिए लोगों को फौज में भरती होने पर मजबूर किया जा सकता है तो शांति-कालीन समाज-सेवा तथा पुनर्निर्माण के लिए लोगों को इसी प्रकार क्यों नहीं भरती किया जा सकता?'

पहले वर्ष के अनुभव के बाद मैंने यह समीक्षा लिखी थी। यह काम अगले पाँच वर्षों तक जारी रहा और उसे हर साल अधिक सफलता प्राप्त होती गयी और उसमें अधिक स्थायित्व आता गया और मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि इस काम से स्कूल की शिक्षा में नयी शक्ति का संचार करने में कुछ योग अवश्य मिला और इससे सभी वर्गों तथा सभी धर्मों के बच्चों में यह भावना पैदा हुई कि वे भी समाज का एक अंग हैं। कभी-कभी क्षम्य आशावादिता के क्षणों में मैं यह सोचता हूँ कि पाँचवें दशक के आरम्भ में इन किशोर-वयस्क बालकों को जो प्रशिक्षण मिला था और उनपर जो छाप पड़ी थी शायद उसी की वजह से इस दशक के अन्त में काश्मीर के नवयुवकों ने साम्प्रदायिक शान्ति तथा सहयोग का ऐसा अच्छा उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किया।